दिनांक २७-२८ जनवरी, २०२६ को म.गां. काशी विद्यापीठ, वाराणसी के केन्द्रीय पुस्तकालय सभागार में आयोजित 'भारतीय ज्ञान परम्परा का सम्प्रेषण : सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिप्रेक्ष्य' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी के कतिपय स्मृति-चित्र।

शोध-पत्रिका 'नमन' का अनावरण करते हुए विद्वज्जन।

प्रो. श्रद्धा सिंह तथा डॉ. हिमांशु शेखर सिंह द्वारा सम्पादित पुस्तक 'स्त्री-चेतना और भारतीय मूल्य : कुछ राग-कुछ रंग' का अनावरण करते हुए विशिष्ट जन।

दीप-प्रज्ज्वलन करते हुए प्रो. देवीप्रसाद द्विवेदी, प्रो. हरिकेश सिंह, प्रो. जंग बहादुर पाण्डे तथा श्री सुधांशु सिंह।

पद्मविभूषण प्रो. देवीप्रसाद द्विवेदी को स्मृति-चिह्न प्रदान करते हुए न्यासीगण।

वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर की पूर्व कुलपति प्रो. निर्मला सिंह मौर्या, अपर महासॉलिसिटर जनरल, भारत सरकार श्री शशि प्रकाश सिंह तथा दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी विचार व्यक्त करते हुए। (क्रमशः)

प्रो. जंग बहादुर पाण्डे (राँची) | बीएचयू के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. वशिष्ठ अनूप। | प्रो. सुमन जैन (हिन्दी विभाग, बीएचयू) | डॉ. हिमांशु शेखर सिंह

वर्ष-१९ : अंक-३५

नमन Naman

जुलाई-२०२६

जुलाई-२०२६ ISSN : 2229-5585

नमन
NAMAN

यूजीसी-केयर की बहु-विषयी (Multi-Disciplinary) सूची में नामांकित रही Peer-reviewed सान्दर्भिक अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका

प्रो. श्रद्धा सिंह • डॉ. हिमांशु शेखर सिंह

वर्ष : १९

Website : www.namanpatrika.com
फेसबुक : नमन (शोध-पत्रिका)

अंक : ३५

वर्ष-१९ : अंक-३५ ISSN : 2229-5585

यूजीसी-केयर की बहु-विषयी (Multi-Disciplinary) सूची में नामांकित रही Peer-reviewed सान्दर्भिक अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका

नमन Naman

प्रधान संरक्षक

श्री सुधांशु शेखर सिंह (प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास)

(Secretary and CEO - Humanitarian Aid International)

परामर्श-मण्डल

प्रो. एम. विमला—हिन्दी विभाग, बंगलुरु विश्वविद्यालय, बंगलुरु, कर्नाटक

प्रो. मंजुला राणा— हिन्दी विभाग, एच.एन. बहुगुणा गढ़वाल वि.वि., उत्तराखण्ड

प्रो. डी.एस. राजपूत— अध्यक्ष- समाजशास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर

प्रो. उमापति दीक्षित—अध्यक्ष- सांध्यकालीन विभाग, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार), आगरा

प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह—निदेशक-गो.ब. पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, झूँसी, प्रयागराज

प्रो. रेनू सिंह—अधिष्ठाता-मानविकी एवं भाषा संकाय, इ.गाँ. रा. जनजातीय वि.वि., अमरकण्टक, म.प्र.

प्रो. दुर्गेश त्रिपाठी—आचार्य, यूएसएमसी, गुरु गोविन्द सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

डॉ. जितेन्द्रनाथ मिश्र—पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. डिग्री कॉलेज, वाराणसी

डॉ. रामसुधार सिंह—पूर्व अध्यक्ष- हिन्दी विभाग, उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी

प्रो. भारती सिंह—पूर्व प्राचार्य- महामाया राजकीय महाविद्यालय, महोना, लखनऊ

प्रो. सविता भारद्वाज—पूर्व प्राचार्य- राजकीय महाविद्यालय, गाजीपुर

डॉ. आशा यादव—हिन्दी विभाग, बसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

न्यास-मण्डल

श्री शैलेन्द्र सिंह—पूर्व प्रबन्धक, ग्रामीण बैंक, हरदोई

डॉ. भारती सिंह— एम.ए. (समाजशास्त्र— हिन्दी), पी-एच.डी.

डॉ. दिनेश कुमार सिंह— गणित विभाग (अ.प्रा.), राजकीय महाविद्यालय, लखनऊ

डॉ. पद्मजा सिंह—प्राध्यापिका, दिल्ली

श्रीमती आरती सिंह—प्रधानाध्यापिका, वाराणसी

सम्पादकीय सम्पर्क

सम्पादक— 'नमन'

प्रेम सदन— सी. ३३/१४७-३२ ए

आचार्य नरेन्द्रदेव नगर, चन्दुआ छितूपुर, वाराणसी-२२१०१०

वार्ता-सेतु : ०९४१५९८४९८३, ०९४१५५३०५८७

E-mail : shraddhahindi@gmail.com

himanshusinghkvp@gmail.com

Website : www.namanpatrika.com

फेसबुक : नमन (शोध-पत्रिका)

शब्द-संयोजक : श्री विमल चन्द्र मिश्र—पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१०१०

मुद्रक : श्री मोहित निगम— प्रिंटेक, इण्डियन प्रेस कालोनी, मलदहिया, वाराणसी

दिनांक २७-२८ जनवरी, २०२६ को म.गां. काशी विद्यापीठ, वाराणसी के केन्द्रीय पुस्तकालय सभागार में आयोजित 'भारतीय ज्ञान परम्परा का सम्प्रेषण : सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिप्रेक्ष्य' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी के कतिपय समृति-चित्र।

प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी (अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय) तथा प्रो. श्रद्धानंद (पूर्व अध्यक्ष— हिन्दी विभाग, म.गां. काशी विद्यापीठ) को स्मृति-चिह्न प्रदान करते डॉ. हिमांशु शेखर सिंह।

प्रो. सुमन जैन को स्मृति चिह्न प्रदान करते हुए प्रो. श्रद्धा सिंह तथा वैष्णवी शुक्ला तथा 'हिन्दी संसार' संस्था के डॉ. अशोक स्वामी को पुष्प-गुच्छ प्रदान करते महामना मालवीय हिन्दी पत्रकारिता संस्थान के निदेशक डॉ. नागेन्द्र कुमार सिंह।

कार्यक्रम में उपस्थित विद्वानों तथा साहित्य-प्रेमियों का समूह चित्र।

कार्यक्रम में उपस्थित विद्वानों तथा साहित्य-प्रेमियों का समूह चित्र।

नमनं वासुदेवाय नमनं ज्ञानराशये ।
नमनं प्रीतिकीर्तिभ्यां नमनं सर्वभूतये ।।

नमन

Naman

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास'
द्वारा प्रकाशित
यूजीसी-केयर की बहु-विषयी (Multi-Disciplinary)
सूची में नामांकित रही Peer-reviewed सान्दर्भिक अर्द्धवार्षिक
शोध-पत्रिका
ISSN : 2229-5585

सम्पादक

प्रो. श्रद्धा सिंह
वरिष्ठ आचार्य– हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी, उ. प्र.

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह
सह आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग
नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय
प्रयागराज, उ. प्र.

वर्ष-१९ : अंक-३५ ISSN : 2229-5585

नमन

Naman

मानविकी एवं साहित्य

यूजीसी-केयर की बहु-विषयी (Multi-Disciplinary) सूची में नामांकित रही Peer-reviewed सान्दर्भिक अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका

© **प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास**

सम्पादन

- अनियतकालीन, अवैतनिक तथा अव्यावसायिक
- रचनाकार की रचनाएँ उसके अपने विचार हैं। प्रकाशित शोध-पत्रों में आए विचार लेखकों के अपने हैं। सम्पादक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- रचनाओं पर कोई मानदेय / पारिश्रमिक देय नहीं होगा।
- लेखकों, सदस्यों एवं शुभचिन्तकों के आर्थिक सहयोग से पत्रिका प्रकाशित होती है।
- किसी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र वाराणसी होगा।

सदस्यता-शुल्क :	प्रति अंक व्यक्तिगत रु. ५००/-	संस्थागत ७००/–
	व्यक्तिगत आजीवन रु. ४०००/-	संस्थागत ५०००/–
	विदेश के लिए US$ ५०	आजीवन US$ १५०

कृपया अपनी सदस्यता/सहयोग की धनराशि इस पर भेजें–
प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास
खाता संख्या-४०१६०१०००५४८९
(Account No. 40160100005489)
बैंक ऑफ बड़ौदा, महमूरगंज शाखा
वाराणसी-२२१०१०
RTGS/NEFT IFSC Code : BARB0MAHMOO

सम्पादकीय

भारतीय ज्ञान परम्परा के पुनर्पाठ की दिशा में एक सार्थक अकादमिक पहल—

ज्ञान का वास्तविक स्वरूप तभी सार्थक होता है, जब वह परम्परा और नवोन्मेष, सिद्धान्त और व्यवहार तथा अतीत और वर्तमान के मध्य एक सृजनात्मक सम्वाद स्थापित कर सके। भारतीय ज्ञान परम्परा का मूल स्वभाव इसी सम्वादधर्मिता में निहित है। यहाँ दर्शन केवल तत्त्व-चिन्तन नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि है; साहित्य केवल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का दर्पण है; शिक्षा केवल सूचना का हस्तान्तरण नहीं, बल्कि संस्कार, विवेक और उत्तरदायित्व का निर्माण है। यही कारण है कि भारतीय मनीषा ने ज्ञान को सदैव लोकमंगल और मानव-कल्याण से जोड़ा है।

'नमन' (ISSN : २२२९-५५८५) का यह अंक इसी व्यापक बौद्धिक परम्परा को समर्पित है। इसमें संकलित शोध-पत्र विषय-वस्तु की दृष्टि से विविध होने के साथ-साथ एक साझा वैचारिक आधार भी निर्मित करते हैं। दर्शन, समाज, शिक्षा, साहित्य, लोक संस्कृति, भाषा, संगीत और सांस्कृतिक अध्ययन से सम्बन्धित आलेख भारतीय ज्ञान-सम्पदा के बहुआयामी स्वरूप को उद्घाटित करते हैं। इन शोध-पत्रों का उद्देश्य केवल ऐतिहासिक या साहित्यिक तथ्यों का पुनरावलोकन करना नहीं है, बल्कि समकालीन सन्दर्भों में उनकी कला, संस्कृति और प्रासंगिकता को स्थापित करना भी है।

दर्शन खण्ड में प्रकाशित शोध भारतीय चिन्तन की मौलिकता और उसकी वैज्ञानिक दृष्टि का पुनर्स्मरण कराते हैं। वैदिक विज्ञान के मूलभूत नियमों की अवधारणा, राधा के भाव-स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन, मत्स्य पुराण में प्रतिपादित राजधर्म तथा व्याकरणिक स्फोट सिद्धान्त के भाषावैज्ञानिक प्रभाव जैसे विषय भारतीय दार्शनिक परम्परा के विविध आयामों को नयी दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। साथ ही; बस्तर की शिल्पकला का ऐतिहासिक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि लोककला केवल सांस्कृतिक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि इतिहास, समाज और सामुदायिक स्मृति का सशक्त दस्तावेज़ भी

है।

समाज और शिक्षा से सम्बन्धित शोध-पत्र वर्तमान समय की चुनौतियों के प्रति सजग दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। पर्यावरणीय चेतना, लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका, बौद्ध शिक्षण केन्द्रों की वित्तीय संरचना, महात्मा गाँधी के शैक्षिक विचार, भारतीय ज्ञान सम्पदा की पर्यावरणीय समस्याओं के समाधान में उपयोगिता तथा सांस्कृतिक धरोहरों के संरक्षण जैसे विषय यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय चिन्तन आज भी समकालीन वैश्विक विमर्शों में सार्थक हस्तक्षेप करने की क्षमता रखता है। विद्यार्थियों की 'शैक्षिक अभिप्रेरणा' पर केन्द्रित अध्ययन शिक्षा के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आयामों को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

साहित्य खण्ड में प्रस्तुत शोध हिन्दी साहित्य की बहुआयामी परम्परा को नए विमर्शों से जोड़ते हैं। कबीर और तुलसी की लोकधर्मी चेतना, गोदान की सबाल्टर्न व्याख्या, नवजागरणकालीन स्त्री-गद्य, मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में नारी-विमर्श, शान्ता कुमार के कथा-साहित्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा प्रवासी साहित्य के सन्दर्भ में हिन्दी की भाषायी अस्मिता—ये सभी अध्ययन इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि साहित्य समाज के बदलते यथार्थ के साथ निरन्तर सम्वाद करता है। समकालीन साहित्यिक आलोचना में इन विषयों की प्रासंगिकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

गीत, ग़ज़ल और लोकसाहित्य पर केन्द्रित आलेख भारतीय सांस्कृतिक विरासत के जीवन्त स्वरूप को सामने लाते हैं। हिन्दी सिनेमा के गीतों का बदलता स्वरूप, जनजातीय लोकगीतों में स्त्री-अनुभव तथा आधुनिक गीत और ग़ज़ल की परम्परा पर आधारित अध्ययन यह संकेत करते हैं कि सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ समय के साथ बदलती अवश्य हैं, किन्तु अपनी मूल सम्वेदना को सुरक्षित रखते हुए समाज के बदलते अनुभवों को आत्मसात् भी करती हैं। लोक और शास्त्र के बीच यह निरन्तर सम्वाद भारतीय संस्कृति की विशिष्ट पहचान है।

इस अंक में मनोविश्लेषणात्मक, समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक और विधिक-प्रणालीगत दृष्टिकोण से सम्बन्धित कुछ अंग्रेज़ी भाषा के शोध-पत्र भी पूर्व की भाँति संकलित किए गए हैं, जो दिखाते हैं कि कैसे व्यक्ति और समूह बदलते सामाजिक-आर्थिक परिवेश में सत्ता, स्वीकृति और अर्थ की पुनर्निर्माण-प्रक्रियाओं से जूझते हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में दो लेख पहचान पर पड़ने वाली सीमाओं का विश्लेषण करते हैं। 'दि फंक्शनल पेरेंटिंग और पहचान के पुनर्निर्माण पर उसका प्रभाव : जीनैट वॉल्स की The Glass Castle का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन' आत्मकथ्यात्मक कथा का सूक्ष्म पाठ्यांकन प्रस्तुत करता है और बताता है कि प्रारम्भिक सम्बन्धों में आये झटकों से आत्म-धारणाएँ और प्रत्यास्था कैसे आकार लेती हैं। दूसरी ओर, 'संस्थागत जीवन की अनुरूपता : आवासीय देखभाल में वृद्धों की संस्थागत पहचान, अनुकूलन और नियमों का आत्मसात्' संस्थागत ढाँचों द्वारा व्यक्तियों की पहचान पर पड़ने वाले प्रभावों का अनुभवजन्य परीक्षण है, जो अनुकूलन, प्रतिरोध और देख-भाल के नैतिक-आर्थिक

पहलुओं को उजागर करता है।

समाजशास्त्र के योगदान समूहगत और शहरी परिवर्तनों के परिदृश्य को व्यापक करते हैं। 'वैश्वीकरण और नए किनारे : समकालीन भारत में सामाजिक बहिष्कार पर पुनर्विचार' नवउदारवादी परिवर्तन के सन्दर्भ में बहिष्कार की प्रक्रियाओं का पुनर्मूल्यांकन करता है और अपवादों का मानचित्रण करने के नए सैद्धान्तिक उपकरण सुझाता है। 'लैंगिक वेतन असमानता को प्रभावित करने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक और संस्थागत कारक : ग्रामीण और शहरी प्रयागराज का तुलनात्मक व्श्लेिषण' स्थानीय सन्दर्भों में व्याप्त वेतन-अंतर को साक्ष्य-आधारित रूप में प्रस्तुत करता है और दिखाता है कि सांस्कृतिक मानदण्ड तथा संस्थागत प्रथाएँ ग्रामीण और शहरी सेटिंग्स में कैसे अलग तरह से परस्पर क्रिया करती हैं। साथ ही; 'स्मार्ट सिटी और शहरी विकास : स्मार्ट सिटी उज्जैन का समाजशास्त्रीय अध्ययन' तकनीकी-प्रशासनिक शहरी सुधारों, नागरिक सहभागिता और सामाजिक-स्थानिक न्याय का आलोचनात्मक आकलन प्रदान करता है।

ऐतिहासिक और विधिक लेखन के माध्यम से आलेखों ने ज्ञान-पद्धति और व्यावहारिकता के पुल बनाए हैं। 'मौर्य काल में बौद्धधर्म के सन्दर्भ में भारतीय ज्ञान पद्धति' प्राचीन भारतीय बौद्ध-संस्थागत और बौद्धिक आदान-प्रदानों को पुनर्स्थापित करता है और देशीय ज्ञान-स्रोतों पर समकालीन विमर्श को समृद्ध करता है। अंत में, विधि क्षेत्र का लेख ''BNS की धारा ८५ के अन्तर्गत झूठे दावों का अनुभवजन्य विश्लेषण और पति के लिए उसमें सुरक्षा : तीस हज़ारी कोर्ट के अधिवक्ताओं की राय'' प्रक्रियात्मक सुरक्षा तथा कानूनी कर्मियों के वास्तविक अनुभवों पर आधारित सुझाव देता है, जिनका सुधार और व्यवहार– दोनों पर प्रभाव पड़ सकता है।

सामूहिक रूप से ये लेख यह संकेत देते हैं कि पारिवारिक, संस्थागत, आर्थिक, शहरी, ऐतिहासिक और विधिक संरचनाएँ मानव एजेंसी की कैसे मध्यस्थता करती हैं। पाठक यहाँ कठोर कार्य-प्रणालियाँ, सटीक सन्दर्भ-स्थापन और नीतिगत प्रासंगिक निष्कर्ष खोजेंगे। आशा है यह अंक अंतर्विषयक सम्वाद को प्रोत्साहित करेगा और ग्रन्थि, क्षेत्र-अध्ययन और अभिलेखीय अन्वेषण के बीच नए शोध को प्रेरित करेगा।

आज जब अनुसंधान बहुविषयी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर है, तब विभिन्न विषयों के बीच अन्तर्सम्बन्धों को समझना और उनके आधार पर नए ज्ञान का सृजन करना समय की आवश्यकता है। इस अंक में प्रकाशित शोध-पत्र इसी दिशा में सार्थक प्रयास है। भारतीय ज्ञान-प्रणाली, पर्यावरणीय चेतना, सांस्कृतिक विरासत, लोकतान्त्रिक मूल्यों, शिक्षा, साहित्य और लोकजीवन के मध्य स्थापित यह सम्वाद न केवल अकादमिक जगत को समृद्ध करता है, बल्कि समाज को भी नयी वैचारिक दिशा प्रदान करता है।

'नमन' का निरन्तर प्रयास रहा है कि वह शोध की गुणवत्ता, मौलिकता, सन्दर्भ-सम्पन्नता तथा अकादमिक नैतिकता के उच्च मानकों को बनाए रखते हुए शोधार्थियों, अध्यापकों और विद्वानों को एक विश्वसनीय मंच प्रदान करे। यह पत्रिका मानती है कि शोध का उद्देश्य केवल उपाधि प्राप्त करना नहीं, बल्कि ज्ञान के क्षितिज का विस्तार

करना, आलोचनात्मक दृष्टि का विकास करना और समाजोपयोगी चिन्तन को प्रोत्साहित करना है। इस अंक के सभी शोध-पत्र इसी भावना के साथ प्रस्तुत किए गए हैं।

हम इस अवसर पर सभी शोधकर्ताओं, लेखकों, समीक्षकों, सम्पादकीय मण्डल के सदस्यों तथा पाठकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। उनके सहयोग, बौद्धिक प्रतिबद्धता और सतत् विश्वास ने नमन को एक गम्भीर शोध-पत्रिका के रूप में स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हमें विश्वास है कि यह अंक भारतीय ज्ञान परम्परा और समकालीन शोध-विमर्श के मध्य नए सम्वादों को जन्म देगा तथा शोध-जगत में सार्थक चिन्तन को नयी ऊर्जा प्रदान करेगा।

हम लेखकों के विचारशील योगदान और समालोचक समीक्षकों के गम्भीर प्रयासों के लिए आभार व्यक्त करते हैं। पाठकों से अनुरोध है कि वे इन रचनाओं पर प्रतिक्रिया दें, आलोचना प्रस्तुत करें और आगे का शोध सँवारें।

ज्ञान की यह यात्रा अनवरत जारी है। 'नमन' उसी यात्रा का विनम्र सहभागी है– परम्परा के आलोक में वर्तमान का विवेचन और भविष्य के लिए नए विचारों का सृजन ही इसका ध्येय है।

रथयात्रा, आषाढ़ शुक्ल द्वितीया **–सम्पादक**
१६ जुलाई, सन् २०२६

नमन (ISSN : २२२९-५५८५)
शोध-पत्रों की समीक्षा, सिद्धान्त, नियम एवं आचार संहिता

'नमन' एक समीक्षित (Peer Reviewed) बहुविषयी शोध-पत्रिका है, जिसका उद्देश्य विभिन्न ज्ञान-विषयों में उच्च गुणवत्ता, मौलिकता तथा अकादमिक उत्कृष्टता वाले शोध-कार्यों का प्रकाशन करना है। पत्रिका में प्राप्त प्रत्येक शोध-पत्र का निष्पक्ष, गोपनीय एवं गुणवत्तापूर्ण मूल्यांकन निर्धारित सहकर्मी समीक्षा (Peer Review) प्रक्रिया के माध्यम से किया जाता है।

१. समीक्षा प्रणाली (Review System)

पत्रिका Double-Blind Peer Review प्रणाली का अनुसरण करती है। इस प्रक्रिया में लेखक तथा समीक्षक– दोनों की पहचान एक-दूसरे से गोपनीय रखी जाती है, जिससे समीक्षा पूर्णत: निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ हो सके।

२. प्रारम्भिक सम्पादकीय परीक्षण (Editorial Screening)

प्राप्त प्रत्येक शोध-पत्र का सर्वप्रथम सम्पादकीय मण्डल द्वारा प्रारम्भिक परीक्षण किया जाता है। इस स्तर पर निम्न बिन्दुओं का परीक्षण किया जाता है—

- पत्रिका के विषय-क्षेत्र (Scope) से प्रासंगिकता
- शोध की मौलिकता एवं नवीनता
- शोध-पत्र की संरचना एवं भाषा
- सन्दर्भ एवं उद्धरण शैली की उपयुक्तता
- शोध-नैतिकता (Research Ethics) का पालन
- कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) के उपयोग का उचित एवं पारदर्शी प्रकटीकरण (यदि लागू हो)।

यदि शोध-पत्र प्रारम्भिक मानकों पर खरा नहीं उतरता, तो उसे समीक्षा-प्रक्रिया में भेजे बिना ही लेखक को आवश्यक संशोधन हेतु लौटाया जा सकता है अथवा अस्वीकृत किया जा सकता है।

३. सहकर्मी समीक्षा (Peer Review)

प्रारम्भिक परीक्षण के उपरान्त शोध-पत्र को सम्बन्धित विषय के कम-से-कम दो स्वतन्त्र विशेषज्ञ समीक्षकों के पास भेजा जाता है। समीक्षक निम्न आधारों पर शोध-पत्र का मूल्यांकन करते हैं—

- विषय की प्रासंगिकता एवं महत्त्व
- शोध की मौलिकता एवं नवीन योगदान
- शोध-पद्धति (Methodology) की उपयुक्तता
- तर्कों की स्पष्टता एवं वैज्ञानिकता
- साहित्य समीक्षा की गुणवत्ता
- निष्कर्षों की विश्वसनीयता
- भाषा एवं प्रस्तुतीकरण
- सन्दर्भों एवं उद्धरणों की शुद्धता

४. समीक्षा के सम्भावित निर्णय (Potential Decision of the Review)

समीक्षक निम्न में से कोई एक अनुशंसा कर सकते हैं—

- प्रकाशन हेतु स्वीकृत (Accept)
- लघु संशोधन के उपरान्त स्वीकृत (Minor Revision)
- व्यापक संशोधन के उपरान्त पुन: समीक्षा (Major Revision)

● प्रकाशन हेतु अस्वीकृत (Reject)

यदि दोनों समीक्षकों की राय में पर्याप्त अन्तर हो, तो शोध-पत्र को आवश्यकतानुसार किसी तीसरे विशेषज्ञ समीक्षक के पास भेजा जा सकता है। अन्तिम निर्णय सम्पादकीय मण्डल का होगा।

५. संशोधन-प्रक्रिया (Amendment Process)

यदि संशोधन अपेक्षित हो, तो लेखक को समीक्षकों की टिप्पणियाँ भेजी जाती हैं। लेखक से अपेक्षा की जाती है कि वे निर्धारित समय-सीमा के भीतर संशोधित शोध-पत्र तथा प्रत्येक टिप्पणी के उत्तर सहित संशोधन विवरण (Response to Reviewers) प्रस्तुत करें।

६. गोपनीयता (Confidentiality)

समीक्षा-प्रक्रिया पूर्णत: गोपनीय होती है। लेखक, समीक्षक एवं सम्पादकीय मण्डल सभी प्राप्त शोध-पत्रों एवं समीक्षा-टिप्पणियों की गोपनीयता बनाए रखने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

७. हितों का टकराव (Conflict of Interest)

यदि किसी समीक्षक का शोध-पत्र के लेखक, संस्थान या शोध-विषय से ऐसा सम्बन्ध हो, जिससे निष्पक्ष समीक्षा प्रभावित हो सकती हो, तो समीक्षक को समीक्षा स्वीकार नहीं करनी चाहिए तथा सम्पादकीय मण्डल को इसकी सूचना देनी चाहिए।

८. शोध-नैतिकता (Research Ethics)

पत्रिका शोध-नैतिकता के उच्चतम मानकों का पालन करती है। निम्न स्थितियों में शोध-पत्र अस्वीकृत किया जा सकता है—

- साहित्यिक चोरी (Plagiarism)
- डेटा का मिथ्याकरण अथवा मनगढ़ंत प्रस्तुतीकरण
- पूर्व प्रकाशित सामग्री का अनुचित पुनर्प्रकाशन
- अनैतिक शोध-व्यवहार
- अनुचित लेखकीय दावे (Authorship Issues)

आवश्यक होने पर सम्पादकीय मण्डल उपयुक्त प्लेजरिज़्म जाँच उपकरणों का उपयोग कर सकता है।

९. सम्पादकीय स्वतन्त्रता (Editorial Independence)

शोध-पत्र के प्रकाशन अथवा अस्वीकृति का निर्णय केवल उसकी अकादमिक गुणवत्ता, मौलिकता, शोध-पद्धति एवं पत्रिका की सम्पादकीय नीति के आधार पर लिया जाता है। लेखक की जाति, धर्म, लिंग, भाषा, संस्था, राष्ट्रीयता अथवा वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्णय-प्रक्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

१०. समीक्षा-अवधि (Review Period)

पत्रिका यथासम्भव समीक्षा-प्रक्रिया को समयबद्ध रखने का प्रयास करती है। सामान्यत: शोध-पत्र प्राप्त होने के ६–८ सप्ताह के भीतर समीक्षा-प्रक्रिया पूर्ण करने का लक्ष्य रखा जाता है। यह अवधि समीक्षकों की उपलब्धता तथा संशोधन की प्रकृति के अनुसार परिवर्तित हो सकती है।

'नमन' (ISSN : २२२९-५५८५) निष्पक्ष, पारदर्शी तथा उच्च अकादमिक मानकों पर आधारित सहकर्मी समीक्षा-प्रक्रिया के माध्यम से उत्कृष्ट शोध के प्रकाशन के लिए प्रतिबद्ध है। पत्रिका का उद्देश्य ज्ञान के विकास, शोध की गुणवत्ता तथा अकादमिक ईमानदारी को प्रोत्साहित करना है।

●

सदस्यता-फॉर्म का प्रारूप

'नमन'

शोध-पत्रिका

मानविकी एवं साहित्य

ISSN : 2229-5585

कृपया नवीनतम फोटोग्रॉफ चस्पा करें

क्रमांक ....   दिनांक ....

मैं शोध-पत्रिका **'नमन'** का व्यक्तिगत आजीवन/संस्थागत सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। इस हेतु चेक/बैंक ड्रॉफ्ट सं. .... दिनांक .... रु. ४०००/५०००/- 'नमन' पत्रिका के पक्ष में संलग्न कर रहा/रही हूँ अथवा नगद प्रेषित है।

नाम ....

वर्तमान पता (जिस पर पत्रिका भेजी जाए) ....

....

स्थायी पता ....

....

मोबाइल ....

ईमेल ....

कृपया निम्न पते पर प्रेषित करें :

सम्पादक– 'नमन'   हस्ताक्षर

प्रेम सदन, सी. ३३/१४७-३२ ए
आचार्य नरेन्द्रदेव नगर
चन्दुआ छित्तूपुर, वाराणसी-२२१०१०
उत्तर प्रदेश (भारत)
दूरभाष : ९४१५९८४९८३, ८४१८०७८१२३
E-mail : himanshusinghkvp@gmail.com

अनुक्रम

सम्पादकीय

खण्ड-क : कला संस्कृति और दर्शन

१. वैदिक विज्ञान के मूलभूत नियमों की अवधारणा : एक विश्लेषण
डॉ. राजेश कुमार तिवारी १

२. भाव स्वरूपा राधा : एक तुलनात्मक अध्ययन *दिवाकर साहू* १४

३. मत्स्य पुराण के राजनीतिक दर्शन में राजधर्म
संतोष कुमार पाण्डेय, डॉ. सिद्धार्थ सिंह २०

४. व्याकरणिक स्फोट सिद्धान्त का ध्वनि सिद्धान्त पर प्रभाव
शिवानी, डॉ. सोहन आर्य २६

५. बस्तर की शिल्पकला का ऐतिहासिक अध्ययन : काष्ठकला के विशेष सन्दर्भ में *डॉ. हेमलता बोरकर वासनिक, डॉ. बंसो नुरूटी* ३०

खण्ड-ख : समाज और शिक्षा

६. कुल्लवी देव-परम्परा में पर्यावरण-चेतना : जगती पौट के सन्दर्भ में
मोहन लाल ३९

७. आधुनिक भारतीय लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की बदलती भूमिका और चुनौतियाँ *डॉ. अरविन्द कुमार श्रीवास्तव* ४४

८. प्राचीन भारत में बौद्ध शिक्षण केन्द्रों के वित्तीय संसाधन : एक अध्ययन
डॉ. प्रदीप सिंह ५२

९. महात्मा गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी विचार *डॉ. लाला बाबू* ५९

१०. पर्यावरणीय वर्तमान समस्या-निवारण में भारतीय पारम्परिक ज्ञान सम्पदा की भूमिका *सुरभि मिश्रा* ६६

११. उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण एवं सम्वर्धन में 'पंच-परिवर्तन' की भूमिका — ***डॉ. नागेन्द्र कुमार सिंह*** ७०

१२. माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण का प्रभाव — ***डॉ. साधना त्रिपाठी*** ८०

खण्ड-ग : साहित्य

१३. कबीर के राम — ***वासुदेव सिंह*** ८५

१४. तुलसीदास के साहित्य में लोक-तत्त्व — ***डॉ. आलोक कुमार तिवारी*** ८९

१५. 'गोदान' की वैचारिकी का सबाल्टर्न दृष्टिकोण आधारित अध्ययन — ***ऋषिकेश कुमार*** ९२

१६. कुत्ते की कहानी : प्रेम और उत्सर्ग का आख्यान — ***डॉ. एम. फ़ीरोज़ खान*** ९७

१७. नवजागरणकालीन स्त्री गद्य-लेखन — ***डॉ. श्रद्धा सिंह*** १०४

१८. भारतीय पारम्परिक समाज-संरचना और समकालीन नारी-चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में मन्नू भण्डारी के उपन्यास — ***ज्योति गुप्ता, प्रो. रुचि बाजपेयी*** ११३

१९. शान्ता कुमार के कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिक चेतना — ***डॉ. सुनीता*** ११८

२०. वैश्विक परिदृश्य में हिन्दी की भाषाई अस्मिता : प्रवासी साहित्य के विशेष सन्दर्भ में — ***सुनीता शर्मा, डॉ. निशा वालिया*** १२५

खण्ड-घ : गीत और ग़ज़ल और लोक साहित्य

२१. हिन्दी सिनेमा में गीतों का बदलता स्वरूप : एक अन्तरविषयी समाजशास्त्रीय एवं साहित्यिक विश्लेषण — ***सौरभ कौशल, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह*** १३०

२२. मध्यप्रदेश के जनजातीय लोकगीतों में अभिव्यक्त स्त्री-स्वर — ***संस्कृति शर्मा*** १३४

२३. गोपाल सिंह नेपाली के काव्य के सांस्कृतिक आयाम — ***नितेश कुमार*** १३९

२४. अदम गोंडवी की ग़ज़लों में भारतीय ग्रामीण परिवेश — ***शिखा यादव*** १४६

खण्ड-ङ : अंग्रेजी शोध-पत्र

२५. The Influence of Dysfunctional Parenting in Identity : Reconstruction Psychoanalytic Study of Jeannette Wall's *The Glass Castle* — ***Neethu Krishna P, Dr. Shibani Chakraverty Aich*** १५३

२६. Conforming to Institutional Life : Institutional Identity, Adaptation and The Internalisation of Norms Among Older Adults in Residential Care
Rakshanda Mayekar, Dr. Arvind Haldankar १६१

२७. Globalisation and the New Margins : Rethinking Social Exclusion in Contemporary India ***Dr. Akhilesh Kumar Rai*** १७३

२८. Socio-Cultural and Institutional Factors Influencing Gender Wage Disparities : A Comparative Analysis of Rural and Urban Prayagraj ***Richa Srivastava, Dr. Balendra Shukla*** १८३

२९. Smart City and Urban Development : A Sociological Study of Smart City *Ujjain*
Anuradha Shukla, Prof. Diwakar Singh Rajput १९२

३०. Indian Knowledge System in Relation to Buddhism during the Mauryan Period ***Upendra Kumar*** २०३

३१. An Empirical Analysis on False Claims Under Section 85 of BNS and It's Safeguards for Husband : Opinions of Advocates in Tis Hazari Courts ***Dr. Basuki Nath Dubey, Swati*** २१०

३२. Cross-Cultural Perspectives on Early Childhood Care and Education for Children with Intellectual Disabilities
Sushma Singh, Prof. Dr. Mala Tandon, Prof. (Dr.) Amita Bajpai २१७

●

वैदिक विज्ञान के मूलभूत नियमों की अवधारणा
एक विश्लेषण

डॉ. राजेश कुमार तिवारी*

सार– मानव-जीवन के विकास में वैदिक विज्ञान की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। वैदिक विज्ञान न केवल भौतिक जगत के रहस्यों को उद्घाटित करता है, बल्कि आत्मा, चेतना और ब्रह्माण्ड के मध्य के गूढ़ सम्बन्धों को भी स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य में निहित वैज्ञानिक तत्त्व आज भी आधुनिक विज्ञान के लिए प्रेरणा-स्रोत हैं। इस शोध-लेख में वैदिक विज्ञान के मूलभूत नियमों, जैसे– अनन्तता, सन्तुलन, विभेदन, निरन्तरता एवं परिवर्तन की समीक्षात्मक व्याख्या की गयी है। यह अध्ययन दर्शाता है कि प्राचीन भारतीय मनीषियों ने विज्ञान को केवल प्रयोगात्मक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभव का अंग माना। आधुनिक युग में विज्ञान ने भले ही तकनीकी प्रगति की हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में उसका उपयोग मानवता के कल्याण की बजाए विनाश की दिशा में बढ़ रहा है। इस शोध में यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि आधुनिक विज्ञान वैदिक सिद्धान्तों से प्रेरणा लेकर आध्यात्मिकता के साथ पुनः जुड़ जाए, तो वह मानव-सभ्यता के लिए अधिक सन्तुलित, नैतिक एवं कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त कर सकता है। लेख में वैदिक सूत्रों, जैसे– 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' और 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की व्याख्या करते हुए यह बताया गया है कि वैदिक विज्ञान की दृष्टि सर्वसमावेशी, सर्वांगपूर्ण और मानव-कल्याण पर केन्द्रित है।

मुख्य शब्द– वेद, वैदिक विज्ञान, आधुनिक विज्ञान, पदार्थ और चेतना, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ऋत।

प्रस्तावना– मानव-मनीषा सदा से ही दृश्यमान जगत के प्रपंच को जानने के लिए उत्सुक रही है। जगत के रहस्य को ज्ञान के माध्यम से जाना जा सकता है। ज्ञान की सुसंगतता जागतिक रहस्योद्घाटन के लिए आवश्यक होती है। ज्ञान की सुसंगतता विज्ञान कही जा सकती है। मेरा यह लेखन इसी विज्ञान के वैदिक एवं आधुनिक स्वरूप के सन्दर्भ में आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत है। विज्ञान और आध्यात्मिकता के बीच के अन्तर्सम्बन्धों को जानने का मेरा निरन्तर प्रयास है, परन्तु जगत की रहस्यमयी परिणामवादी प्रवृत्तियों ने मुझे अभी तक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचने दिया है। मेरी सदा से ही जिज्ञासा रही है कि प्रकृति, आत्मा, ईश्वर और अन्य मानव-कल्याणकारी विषयों, सभी सांसारिक एवं पारमार्थिक उपक्रमों को कैसे आत्मसात् किया जए और कैसे दरकिनार किया जाए?

वास्तव में; जिज्ञासा शाश्वत ज्ञान की यात्रा की तरफ पहला कदम है और ज्ञान के प्रति अनन्त प्यास ही ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न कर सकती है, जिसका प्रशमन वैदिक विज्ञानों को आधार मानकर किया जा सकता है। हम अपनी इन्द्रियों के अनुभव से जिस संसार को देखते हैं, उसी के अनुरूप आकृति का निर्माण कर लेते हैं। वास्तव में; इस रहस्यमयी सृष्टि और इसके रचयिता

* सह आचार्य– दर्शनशास्त्र एवं योग विभाग, नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय), प्रयागराज

के प्रति जिज्ञासा के भाव प्रकट करने के लिए दर्शनशास्त्र की विद्या में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा', 'अथातो धर्म जिज्ञासा', 'अथातो भक्ति जिज्ञासा' एवं 'अथातो ज्ञान जिज्ञासा' जैसे सूक्त वाक्यों की विवेचना की गयी है।

ये सूत्र न केवल ज्ञान की प्यास बुझाते हैं, बल्कि जीवन के अन्तिम लक्ष्य का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। मेरा विश्वास है कि प्रकृति के विषयों का सटीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए विज्ञान एक प्रभावी साधन है। परन्तु हम लोग इस प्रकार के विज्ञान को साध्य मान लेते हैं और व्यावहारिक जीवन (विस्तारयुक्त) की समस्याओं का निराकरण वैज्ञानिक विधियों से करते हुए कोई भी पारमार्थिक एवं अभ्रामक तथा सत्य की खोज करने लगते हैं।

दार्शनिक रूप में देखा जाए, तो वैदिक विज्ञान का स्वरूप केवल प्रयोगात्मक या प्रायोगिक नहीं, बल्कि एक दार्शनिक चेतना से युक्त है। वेद शब्द का अर्थ है– ज्ञान, और यह ज्ञान केवल बाह्य जगत की वस्तुओं या पदार्थों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह ब्रह्म, आत्मा, प्रकृति और मानव के अन्त:सम्बन्धों तक विस्तृत है। वैदिक युग में ज्ञान का उद्देश्य मात्र भौतिक सुख प्राप्त करना नहीं था, बल्कि 'सत्य' की खोज और ब्रह्माण्ड के रहस्यों का अनावरण करना था। मानव-मनीषा सदा से ही यह जानने को उत्सुक रही है कि जगत का मूल क्या है, आत्मा क्या है और ईश्वर किस रूप में विद्यमान है? वेदों में यह कहा गया है– 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म', अर्थात् ब्रह्म ही सत्य, ज्ञान और अनन्तता का प्रतीक है। इस दृष्टि से वैदिक विज्ञान, आधुनिक विज्ञान से अधिक व्यापक है, क्योंकि वह अनुभव (Experience), अनुभूति (Realization) और चेतना (Consciousness)– इन तीनों स्तरों पर ज्ञान का विकास करता है। यही ज्ञान की सुसंगतता विज्ञान का आधार बनती है।

वेदों में ज्ञान की प्राप्ति को केवल तर्क या अनुभव तक सीमित नहीं किया गया है, बल्कि उसे एक 'अनुभूत सत्य' के रूप में देखा गया है। इसीलिए वैदिक विज्ञान में इन्द्रियबोध के साथ-साथ अन्तर्दृष्टि और आत्मबोध का समन्वय आवश्यक माना गया है। मनुष्य का वास्तविक ज्ञान तब प्रारम्भ होता है, जब वह बाह्य जगत की सीमाओं से ऊपर उठकर 'अन्त:स्फुरण' का अनुभव करता है। यही अनुभूति वैदिक विज्ञान का मूल तत्त्व है।

वैदिक विज्ञान के मूलभूत नियमों का विवेचन– इस आलेख में मैंने मूलभूत तत्त्वों को समाहित करने का प्रयास किया है, जिसकी सहायता से दुनिया के सभी पहलुओं की परस्पर सम्बन्ध की समझ को विकसित किया जा सकता है। वैदिक विज्ञान का आधार ऐसे सार्वभौमिक नियमों पर टिका है, जो ब्रह्माण्ड के संचालन, संतुलन और विकास की दिशा निर्धारित करते हैं। ये नियम न केवल प्राकृतिक घटनाओं के पीछे कार्यरत शक्तियों को स्पष्ट करते हैं, बल्कि मानव-चेतना के गूढ़तम स्तरों तक की यात्रा का मार्ग भी दिखाते हैं। वैदिक चिन्तन में विज्ञान को 'ऋत' का पर्याय माना गया है, अर्थात् वह अचल, शाश्वत और न्यायपूर्ण नियम, जो सबमें व्याप्त है। इस खण्ड में पाँच प्रमुख वैदिक नियमों– अनन्तता, सन्तुलन, विभेद, निरन्तरता और परिवर्तन की समीक्षात्मक व्याख्या की जा रही है।

(१) अनन्तता का नियम (The Law of Infinity)– वैदिक दृष्टि में ब्रह्माण्ड 'अनन्त' है। इसका कोई आरम्भ या अन्त नहीं। 'ईशावास्योपनिषद्' कहता है–

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।'

यह सूक्ति बताती है कि यह सृष्टि पूर्ण और अनन्त है। वैदिक विज्ञान में यह अनन्तता केवल स्थानिक या कालिक नहीं, बल्कि अस्तित्त्वगत (Ontological) है, अर्थात् ब्रह्माण्ड और ब्रह्म– दोनों अनादि-अनन्त हैं। आधुनिक विज्ञान जहाँ 'बिग बैंग' और 'एवर-एक्सपैंडिंग यूनिवर्स' जैसी परिकल्पना के माध्यम से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और विस्तार का वर्णन करता है, वहीं वैदिक विज्ञान इसे एक चक्रीय (Cyclic) प्रक्रिया मानता है, जहाँ सृष्टि और लय निरन्तर चलते रहते हैं।

'अनन्तता' का नियम यह सिखाता है कि ज्ञान, ऊर्जा और चेतना की कोई सीमा नहीं। मानव जब आत्मज्ञान की दिशा में अग्रसर होता है, तो वह स्वयं को इस अनन्त चेतना का अंश अनुभव करता है। यही अनुभव अध्यात्म का आधार है। यह नियम इस तथ्य की पुष्टि करता है कि विज्ञान का उद्देश्य सीमाओं का अतिक्रमण कर 'पूर्णता' की ओर बढ़ना है। इस प्रकार, अनन्तता का सिद्धान्त मानव को अहंकार से मुक्त होकर सार्वभौमिक चेतना में विलीन होने की प्रेरणा देता है।

(२) सन्तुलन का नियम (The Law of Equilibrium)– वेदों में 'संतुलन' को सृष्टि की आत्मा कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार, 'ऋतस्य पति: सत्यं बिभर्ति'– अर्थात् ऋत (सत्यनिष्ठ नियम) ही ब्रह्माण्ड के सन्तुलन को बनाए रखता है। यह नियम भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक– तीनों स्तरों पर लागू होता है।

वैदिक ऋषि कहते हैं– 'ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि', अर्थात् सत्य और संतुलन का पालन ही धर्म है। आधुनिक भौतिकी में भी 'संतुलन (Equilibrium) का सिद्धान्त' इसका प्रतीक है।

प्रकृति में हर क्रिया के साथ प्रतिक्रिया अनिवार्य है– यह कर्म और फल का वैदिक सिद्धान्त है। यही सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान में न्यूटन के तीसरे नियम (Newton's Third Law) के रूप में प्रतिध्वनित होता है– 'प्रत्येक क्रिया के बराबर और विपरीत दिशा में प्रतिक्रिया होती है। (Every action has an equal and opposite reaction.)' इस प्रकार, वैदिक विज्ञान ने हजारों वर्ष पहले ही इस सन्तुलन के सिद्धान्त को आत्मसात् किया था।

मानव-जीवन में यह नियम 'धर्म' के रूप में कार्य करता है। जब व्यक्ति अपने विचार, कर्म और व्यवहार में सन्तुलन खो देता है, तब असंतुलन के परिणामस्वरूप पीड़ा, रोग या सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से वैदिक विज्ञान केवल प्राकृतिक घटनाओं का नहीं, बल्कि नैतिक व्यवहार का भी नियामक है। सन्तुलन का नियम यह भी बताता है कि ब्रह्माण्ड में सब कुछ पारस्परिक निर्भरता पर आधारित है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि– सभी अपने-अपने स्थान पर सन्तुलित रूप से कार्य करते हैं। यह नियम आधुनिक पारिस्थितिकी (Ecology) का दार्शनिक आधार बन सकता है। यदि यह सन्तुलन बिगड़ता है, तो पर्यावरणीय संकट और नैतिक पतन– दोनों उत्पन्न होते हैं।

(३) विभेद का नियम (The Law of Differentiation)– विभेदन का अर्थ है– विविधता में एकता को देखना और एकता में विविधता को समझना। उपनिषदों में कहा गया है– 'एकोऽहं बहुस्याम्'– 'मैं एक हूँ, पर अनेक रूपों में प्रकट होता हूँ।'

यह वैदिक दृष्टि आधुनिक विज्ञान की विविधता और वर्गीकरण (Classification) की अवधारणा से बहुत गहरी है। आधुनिक विज्ञान पदार्थों को उनके गुणों, अणुओं या ऊर्जा-स्तरों

के आधार पर विभाजित करता है, जबकि वैदिक विज्ञान इन विविध रूपों को एक ही परमतत्त्व– 'ब्रह्म'– की अभिव्यक्ति मानता है।

विभेद का नियम ज्ञान की स्पष्टता (Clarity) से जुड़ा है। जब बुद्धि में विवेक का प्रकाश होता है, तब व्यक्ति सत्य और असत्य, स्थायी और अस्थायी, आत्मा और अनात्मा में भेद कर पाता है। यही विभेद वैदिक दर्शन में 'विवेक' कहलाता है। शंकराचार्य ने कहा है– 'विवेक: को नाम? नित्य-अनित्य वस्तु विवेक:।' अर्थात् जो नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद कर सके, वही वास्तविक ज्ञानी है।

यह नियम वैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ज्ञान का विकास सदैव विश्लेषण (Analysis) और वर्गीकरण (Classification) पर आधारित होता है। परन्तु वैदिक विज्ञान में यह विभेद किसी भेदभाव का प्रतीक नहीं, बल्कि ज्ञान की परिपक्वता का चिह्न है। इसका उद्देश्य विविधता के माध्यम से एकत्व को पहचानना है।

(४) निरन्तरता का नियम (The Law of Continuity)– निरन्तरता का सिद्धान्त कहता है कि सृष्टि और जीवन में कोई ठहराव नहीं। हर वस्तु, हर चेतना, हर परमाणु सतत् गति में है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं– 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत', अर्थात् कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म के नहीं रह सकता।

वेदों में आत्मा को 'अविनाशी' कहा गया है– 'न जायते म्रियते वा कदाचित्'। यह नियम बताता है कि ब्रह्माण्ड में ठहराव असम्भव है। जीवन और ऊर्जा निरन्तर प्रवाह में हैं। यह निरन्तरता वैदिक विज्ञान की जीवन्तता का प्रतीक है। सृष्टि का प्रवाह, ऋतुओं का परिवर्तन, जन्म-मृत्यु का चक्र– ये सब इसी नियम के परिणाम हैं। आधुनिक विज्ञान में इसे 'ऊर्जा संरक्षण का नियम' (Law of Conservation of Energy) के रूप में जाना जाता है– जहाँ ऊर्जा न उत्पन्न की जा सकती है, न नष्ट की जा सकती है, केवल रूप बदलती है।

वैदिक दृष्टि में यह ऊर्जा 'प्राण' के रूप में मानी गयी है, जो निरन्तर ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होती रहती है। यह नियम हमें यह सिखाता है कि जीवन में कोई भी अवस्था अन्त नहीं, बल्कि एक नयी शुरुआत है। ज्ञान, कर्म और चेतना का प्रवाह अनन्त काल तक चलता रहता है। निरन्तरता का सिद्धान्त यह भी इंगित करता है कि साधना, शिक्षा और चिन्तन की प्रक्रिया कभी रुकनी नहीं चाहिए। जैसे नदी का प्रवाह ही उसकी पवित्रता बनाए रखता है, वैसे ही ज्ञान का प्रवाह भी निरन्तर होना चाहिए। यही निरन्तरता मनुष्य को अधोगति से ऊपर उठाकर प्रगति की दिशा में अग्रसर करती है।

(५) परिवर्तन का नियम (The Law of Change)– परिवर्तन ही जीवन का आधार है। वैदिक विज्ञान परिवर्तन को सृष्टि का 'धर्म' मानता है। 'कठोपनिषद्' कहता है–

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते।।'

अर्थात् जब व्यक्ति परिवर्तनशील इच्छाओं से मुक्त होता है, तभी वह अमृतत्त्व को प्राप्त करता है। यह वाक्य बताता है कि परिवर्तन केवल बाह्य नहीं, आन्तरिक भी है।

'सर्वं परिवर्तनशीलम्'– यह वैदिक सिद्धान्त बताता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तित हो रही है। किन्तु परिवर्तन के पीछे एक अपरिवर्तनशील सत्य छिपा है– ब्रह्म। आधुनिक विज्ञान में 'विकास' (Evolution) और 'एन्ट्रॉपी' (Entropy)' की संकल्पनाएँ इसी परिवर्तन

की वैज्ञानिक व्याख्या हैं।

आधुनिक विज्ञान में भी यही सत्य प्रतिपादित है– एन्ट्रॉपी का सिद्धान्त कहता है कि सृष्टि निरन्तर परिवर्तित हो रही है और यह परिवर्तन ऊर्जा के रूपान्तरण से जुड़ा है। वैदिक विज्ञान इस सिद्धान्त को आत्मिक स्तर पर ले जाकर कहता है कि परिवर्तन आत्म-विकास का माध्यम है।

मनुष्य जब इस नियम को समझ लेता है, तब वह जीवन के उतार-चढ़ावों में समभाव बनाए रख सकता है। परिवर्तन का नियम हमें यह सिखाता है कि प्रत्येक क्षण एक अवसर है– नयी सृष्टि, नयी चेतना और नये सत्य के उद्‌घाटन का।

इन पाँच नियमों के समन्वय से वैदिक विज्ञान एक पूर्ण दर्शन का रूप लेता है। अनन्तता हमें व्यापकता का बोध कराती है, सन्तुलन हमें संयम सिखाता है, विभेद हमें विवेक देता है, निरन्तरता हमें गतिशील बनाती है और परिवर्तन हमें सृजनशीलता प्रदान करता है। इन सबका सम्मिलित रूप ही 'ऋत' है, जो वैदिक विज्ञान का परम सिद्धान्त है।

वैदिक विज्ञान और आधुनिक विज्ञान : तुलनात्मक अध्ययन– वैदिक विज्ञान और आधुनिक विज्ञान– दोनों ही ज्ञान की खोज के दो भिन्न, किन्तु परस्पर पूरक मार्ग हैं। आधुनिक विज्ञान जहाँ वस्तुगत जगत (Objective World) की व्याख्या करता है, वहीं वैदिक विज्ञान अस्तित्व के समग्र स्वरूप को समझने का प्रयास करता है। आधुनिक विज्ञान का उद्देश्य 'कैसे' (How) के प्रश्न का उत्तर देना है– किस प्रकार सृष्टि कार्य करती है? जबकि वैदिक विज्ञान 'क्यों' (Why) के प्रश्न पर केन्द्रित है– सृष्टि का उद्देश्य और अन्तर्निहित चेतना क्या है? इस तुलनात्मक विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि दोनों में दृष्टिकोण का अन्तर होने के बावजूद; उनकी खोज का अन्तिम लक्ष्य समान है, जिसे हम वैदिक विज्ञान में 'सत्य की प्राप्ति' कहते हैं।

यह सत्य है कि आधुनिक समय में वैज्ञानिक विषय परिवहन, संचार, चिकित्सा और अन्य रहस्यों को समझने में सहायक भी है, परन्तु हमारी भूल है कि हम इसे ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर आध्यात्मिक एवं परमचेतना के विषयों की तरफ अग्रसर नहीं होते हैं और इसका दुष्परिणाम हमें भुगतना पड़ता है। यही भूल हमें मानव-कल्याणकारी कार्यों को करने से विमुख करती है और ऐसी स्थिति उत्पन्न करती है, जिससे सामाजिकता एवं अनुशासन का ह्रास होता है। वैज्ञानिक प्रगति ने बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं, जिसमें मानव-सभ्यता को समाप्त करने की व्यापकता है। चाहे वह आयुध सामग्रियों का निर्माण-कार्य करते हुए हो या फिर वैचारिक दृष्टिकोण से सामाजिक समरसता का अभाव, मानव के प्रति मानव का प्रेम, धर्म की सटीक व्याख्या एवं आध्यात्मिक चिन्तन न करने की प्रवृत्ति हो। इसलिए आधुनिक युग के विज्ञान को पुनः आध्यात्मिक दृष्टि की आवश्यकता है।

आधुनिक विज्ञान ने ब्रह्माण्ड को भौतिक पदार्थ और ऊर्जा की संरचना के रूप में समझाया है। न्यूटन के यान्त्रिक नियमों से लेकर आइंस्टीन की सापेक्षता तक और आगे क्वांटम सिद्धान्त तक, विज्ञान ने पदार्थ की सूक्ष्म संरचना को उद्‌घाटित किया। किन्तु जैसे-जैसे विज्ञान आगे बढ़ा, उसने पाया कि पदार्थ कोई ठोस वस्तु नहीं, बल्कि ऊर्जा का सघन रूप है। यह वही विचार है, जिसे वैदिक ऋषियों ने हजारों वर्ष पूर्व 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहकर उद्‌घोषित किया था– अर्थात् यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म (चेतना) का ही रूप है। क्वांटम भौतिकी में यह विचार 'एकीकृत क्षेत्र सिद्धान्त' (Unified Field Theory) के रूप में पुनः प्रतिपादित हो रहा है।

आधुनिक विज्ञान का एक और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है– जीवविज्ञान (Biology)। यह शरीर की रचना, जीन, कोशिकाओं और विकास की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करता है। परन्तु वैदिक विज्ञान इस जैविक ढाँचे को केवल एक आवरण मानता है; उसके भीतर स्थित 'प्राण' और 'आत्मा' ही जीवन का वास्तविक कारण हैं। जहाँ आधुनिक विज्ञान जीवन को 'जैव रासायनिक प्रतिक्रिया' (Biochemical Reactions) का परिणाम मानता है, वहीं वैदिक विज्ञान कहता है कि जीवन एक 'चेतन ऊर्जा' का प्रकटीकरण है। आज के न्यूरोविज्ञान और चेतना-अध्ययन (Consciousness Studies) में यह विषय तेजी से प्रासंगिक होता जा रहा है।

भौतिकी के स्तर पर, आधुनिक विज्ञान ने पदार्थ और ऊर्जा की एकता को सिद्ध किया है। आइंस्टीन के समीकरण $E=mc^2$ ने यह प्रतिपादित किया कि ऊर्जा और द्रव्य– एक ही वास्तविकता के दो रूप हैं। वैदिक विज्ञान में यह विचार पहले ही 'प्रकृति और पुरुष' के सिद्धान्त में व्यक्त किया गया है, जहाँ सृष्टि (प्रकृति) और चेतना (पुरुष) एक-दूसरे के बिना अस्तित्वहीन हैं। इसी प्रकार, 'यज्ञ' की वैदिक अवधारणा ऊष्मागतिकी (Thermodynamics) के सिद्धान्तों से मेल खाती है– ऊर्जा नष्ट नहीं होती, केवल रूपान्तरित होती है।

वैदिक विज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच एक प्रमुख अन्तर यह है कि आधुनिक विज्ञान अनुभवजन्य (Empirical) है, जबकि वैदिक विज्ञान अन्तर्ज्ञानात्मक (Intuitive) और आध्यात्मिक है। आधुनिक विज्ञान बाह्य जगत के अवलोकन पर आधारित है, जबकि वैदिक विज्ञान अन्तर्जगत की अनुभूति पर। परन्तु दोनों ही ज्ञान के लिए अनुशासन, परीक्षण और सत्यापन की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। वैदिक ऋषियों ने कहा था– 'अविचारसिद्धं न मन्येत'– अर्थात् बिना विवेक और परीक्षण के किसी तथ्य को सत्य न मानो। यह वाक्य आज के वैज्ञानिक सिद्धान्त 'संशयवाद' (Skepticism) के समान है।

एक अन्य समानता 'नैतिकता' के स्तर पर दिखाई देती है। आधुनिक विज्ञान जब पर्यावरणीय संकटों, जैव-नैतिकता या कृत्रिम बुद्धिमत्ता के दुरुपयोग की चर्चा करता है, तब वह उस दिशा में बढ़ता है, जिसे वैदिक विज्ञान पहले ही 'धर्म' के रूप में स्थापित कर चुका था। वैदिक विज्ञान में 'धर्म' का अर्थ किसी सम्प्रदाय से नहीं, बल्कि वह प्राकृतिक नियम है, जो सृष्टि के संतुलन को बनाए रखता है। यह सिद्धान्त आधुनिक 'वहनीयता' (Sustainability) और 'पर्यावरण नैतिकता' (Eco-Ethics) के समान है।

विज्ञान के प्रयोगात्मक स्वरूप और वैदिक विज्ञान के अनुभवात्मक स्वरूप के बीच पुल का कार्य 'योग' करता है। योग एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें शरीर, मन और चेतना का समन्वय होता है। आधुनिक चिकित्सा और मनोविज्ञान अब यह स्वीकार कर चुके हैं कि ध्यान और योग मानसिक संतुलन, प्रतिरक्षा क्षमता और न्यूरोनल क्रियाशीलता को प्रभावित करते हैं। यह प्रमाणित करता है कि वैदिक विज्ञान केवल आध्यात्मिक अनुशासन नहीं, बल्कि एक गहन मनोदैहिक विज्ञान' (Psychophysiological Science) है।

अत: यह कहा जा सकता है कि वैदिक विज्ञान और आधुनिक विज्ञान– दो समानान्तर नदियों की भाँति हैं, जो भिन्न दिशाओं से बहकर अन्तत: एक ही सागर की ओर प्रवाहित होती हैं। वैदिक विज्ञान जहाँ 'सत्य के साक्षात्कार' की दिशा दिखाता है, वहीं आधुनिक विज्ञान 'सत्य के प्रमाण' की खोज करता है। दोनों का संगम ही भविष्य के समग्र विज्ञान (Integral Science) की दिशा निर्धारित करेगा, जहाँ चेतना और पदार्थ, अनुभव और प्रयोग तथा अध्यात्म और

विज्ञान एक समेकित दृष्टि में एकाकार होंगे।

क्रम	तत्त्व	वैदिक विज्ञान	आधुनिक विज्ञान
१.	आधार	वेद, उपनिषद, ऋषि-परम्परा, चेतना	प्रयोग, अनुभव, गणना
२.	उद्देश्य	आत्मज्ञान, मोक्ष, कल्याण, आत्मा और ब्रह्माण्ड के रहस्यों की खोज	भौतिक प्रगति, सुविधा, नियंत्रण, पदार्थ और ऊर्जा के रहस्यों की खोज
३.	पद्धति	श्रवण-मनन-निदिध्यासन, ध्यान, योग, अन्तर्दृष्टि	प्रयोग, अवलोकन, मापन, पर्यवेक्षण, निष्कर्ष
४.	ज्ञान का स्वरूप	आन्तरिक, अनुभूति-आधारित	बाह्य, वस्तुनिष्ठ
५.	परिणाम	शांति, संतुलन, सद्भाव, आत्मज्ञान और मोक्ष	तकनीकी प्रगति और भौतिक विकास
६.	दृष्टिकोण	एकात्म, आध्यात्मिक, ब्रह्मात्मक एवं समग्र (Holistic)	द्वैतवादी, भौतिक, प्रभुत्ववादी एवं विश्लेषणात्मक (Analytical)

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक विज्ञान की प्रासंगिकता– हमारा ब्रह्माण्ड रहस्यों से भरा है और इससे रहस्यों की सरलतम निराकरणीय या ज्ञानीय व्याख्या आज विज्ञान एवं अध्यात्म– दोनों के लिए आवश्यक है। एक संस्कृत कहावत के अनुसार– 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'– जैसा सूक्ष्म जगत है, वैसा ही स्थूल जगत है। हमारा शरीर स्वयं ब्रह्माण्ड के लिए एक दर्पण का कार्य करता है। यह प्राचीन कहावत इस विचार पर आधारित है कि हमारे जीवन के छोटे-छोटे पहलुओं को व्यापक एवं सार्वभौमिक वास्तविकता के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा जा सकता है। यह परस्पर जुड़ाव के दर्शन को समाहित करता है, जहाँ अध्यात्म प्रेरित धर्म, धर्म प्रेरित अध्यात्म एवं आधुनिक विज्ञान का सामंजस्य सम्भव है।

वैदिक विज्ञान केवल अतीत का विषय नहीं है; वह आज के वैज्ञानिक, सामाजिक और नैतिक सन्दर्भों में भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना हजारों वर्ष पहले था। वैदिक ज्ञान की मूल भावना है– सत्य की खोज, संतुलन की स्थापना और मानव-कल्याण की दिशा में प्रगति। आधुनिक युग में जब विज्ञान ने तकनीकी दृष्टि से अद्भुत उपलब्धियाँ हासिल की हैं, तब भी मनुष्य मानसिक अशांति, पर्यावरणीय असंतुलन, युद्ध, और मूल्य-संकट से जूझ रहा है। ऐसे में; वैदिक विज्ञान का आध्यात्मिक, नैतिक और मानवतावादी दृष्टिकोण आधुनिक सभ्यता को दिशा देने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(१) वैज्ञानिक चेतना और वैदिक दृष्टि– आधुनिक विज्ञान की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि उसने मानव को ज्ञान की शक्ति का अनुभव कराया। परन्तु यह ज्ञान अभी तक मुख्यत: भौतिक जगत तक सीमित है। वैदिक विज्ञान, इसके विपरीत; चेतना के विज्ञान के रूप में विकसित हुआ था। वह केवल पदार्थ नहीं, बल्कि 'प्रज्ञा' (Consciousness) को भी अध्ययन का विषय बनाता है। आज के युग में जब कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), क्वांटम भौतिकी (Quantum Physics) और तंत्रिका-विज्ञान (Neuro Science) जैसी विधाएँ मानव चेतना के रहस्यों को समझने का प्रयास कर रही हैं, तब वैदिक विज्ञान का यह दृष्टिकोण विशेष रूप से प्रासंगिक हो उठता है। उदाहरण के लिए, वैदिक वाक्य– 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'–

क्वांटम सिद्धान्तों के अनुरूप प्रतीत होता है, जहाँ सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत के बीच समानता स्वीकार की जाती है। वैदिक विज्ञान इस चेतना को केवल एक मस्तिष्कीय क्रिया नहीं मानता, बल्कि उसे सार्वभौमिक ऊर्जा का स्रोत मानता है। इसीलिए यह मानव को केवल शरीर नहीं, बल्कि ब्रह्माण्डीय चेतना का प्रतिबिम्ब मानता है। यह विचार आज की वैज्ञानिक खोजों के साथ एक गहरे दार्शनिक समन्वय का संकेत देता है।

(२) पर्यावरण और पारिस्थितिक संतुलन में वैदिक विचारों की भूमिका– आज विश्व जिस सबसे बड़े संकट से जूझ रहा है, वह है– पर्यावरणीय असंतुलन। आधुनिक औद्योगिकीकरण, अंधाधुंध उपभोगवाद और संसाधनों के दोहन ने पृथ्वी को असंतुलित कर दिया है। इस सन्दर्भ में वैदिक विज्ञान के सिद्धान्त मार्गदर्शक हैं। वेदों में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश– इन पंचमहाभूतों को पवित्र और पूजनीय माना गया है। अथर्ववेद में पृथ्वी को 'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:' कहा गया है– अर्थात् पृथ्वी हमारी माता है और हम उसके पुत्र हैं। यह भाव मनुष्य को प्रकृति का शासक नहीं, बल्कि संरक्षक बनाता है। यदि आधुनिक समाज इस दृष्टि को अपनाए, तो पर्यावरण-संरक्षण केवल नीति नहीं, बल्कि संस्कृति बन सकता है। वैदिक दृष्टि में प्रकृति के साथ 'सह-अस्तित्त्व' (coexistence) ही स्थायी जीवन का आधार है। यही विचार आज के 'सतत विकास' (Sustainable Development) का वास्तविक रूप है।

(३) योग, ध्यान और मानसिक स्वास्थ्य की प्रासंगिकता– वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या मानसिक तनाव, अवसाद और असंतुलन है। भौतिक प्रगति के बावजूद; मनुष्य भीतर से खाली महसूस कर रहा है। इस सन्दर्भ में वैदिक विज्ञान का योग और ध्यान विश्व के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। योग केवल शारीरिक व्यायाम नहीं, बल्कि यह शरीर, मन और आत्मा का वैज्ञानिक सन्तुलन है। पतंजलि योगसूत्र में कहा गया है– 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:।' अर्थात् योग मन की वृत्तियों के नियन्त्रण का विज्ञान है। आज आधुनिक चिकित्सा भी यह मान रही है कि ध्यान, प्राणायाम और योग मनोवैज्ञानिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त लाभकारी हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) द्वारा भी मानसिक स्वास्थ्य-सुधार में योग को एक प्रभावी साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार. वैदिक विज्ञान की यह देन आज के युग में न केवल वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित है, बल्कि वैश्विक कल्याण की दिशा में योगदान दे रही है।

(४) नैतिकता और वैज्ञानिक उत्तरदायित्व– आधुनिक विज्ञान ने जहाँ मनुष्य को अद्भुत तकनीकी शक्ति दी है, वहीं उसने विनाश की सम्भावनाएँ भी बढ़ाई हैं। परमाणु हथियार, जैविक युद्ध, कृत्रिम बुद्धिमत्ता का दुरुपयोग और पर्यावरण-प्रदूषण– ये सब विज्ञान के नैतिक संकट के उदाहरण हैं। वैदिक विज्ञान इस संकट का समाधान 'धर्म' के सिद्धान्त में देखता है। धर्म का अर्थ यहाँ किसी विशेष सम्प्रदाय से नहीं, बल्कि वह सार्वभौमिक नैतिक नियम है, जो समता, संयम और करुणा पर आधारित है। मनुस्मृति में कहा गया है– 'धृति: क्षमा दम: अस्तेयं शौचं इन्द्रियनिग्रह:। धीर्विद्या सत्यं अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्'– अर्थात् धैर्य, क्षमा, संयम, सत्य और अहिंसा ही धर्म के लक्षण हैं। यदि आधुनिक विज्ञान इन नैतिक आधारों को अंगीकार कर ले, तो यह केवल शक्ति नहीं, बल्कि सद्भाव का माध्यम बन सकता है। वैदिक विज्ञान हमें यही सिखाता है कि ज्ञान का अर्थ जिम्मेदारी है– और यह जिम्मेदारी मानवता के कल्याण से जुड़ी है।

(५) शिक्षा और वैदिक मूल्य– राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० में भी यह स्पष्ट रूप से

कहा गया है कि भारतीय ज्ञान परम्परा (Indian Knowledge Systems) को शिक्षा में पुन: स्थान दिया जाए। इसका उद्देश्य यह है कि छात्र केवल तकनीकी दक्षता ही न प्राप्त करें, बल्कि वे मानवीय और नैतिक मूल्यों से भी सम्पन्न हों। वैदिक विज्ञान में शिक्षा का अर्थ है– 'सा विद्या या विमुक्तये।' अर्थात् वह विद्या, जो बन्धन से मुक्त करे। आज के शिक्षा-संस्थानों में यदि इस विचार को पुन: स्थापित किया जाए, तो शिक्षा का स्वरूप मात्र रोजगार का साधन न होकर जीवन-संस्कार का माध्यम बन जाएगा।

(६) समग्र मानव विकास का दृष्टिकोण– वैदिक विज्ञान का अंतिम लक्ष्य मानव का समग्र विकास है– शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक– सभी स्तरों पर। आधुनिक युग में जहाँ जीवन प्रतिस्पर्धा और उपभोग के इर्द-गिर्द घूम रहा है, वहाँ वैदिक दृष्टि आत्म-संयम, सेवा और सह-अस्तित्त्व का सन्देश देती है। गीता में कहा गया है– 'योग: कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्म में दक्षता ही योग है। इसका अर्थ यह है कि विज्ञान और तकनीक का उपयोग तभी सार्थक है, जब वह कर्मयोग की भावना से प्रेरित हो। वैदिक विज्ञान इस एकात्म दृष्टि को प्रस्तुत करता है, जहाँ ज्ञान और करुणा, तर्क और अनुभव, प्रयोग और ध्यान– सब एक-दूसरे में समाहित हैं।

(७) आधुनिक विज्ञान और वैदिक चेतना का समन्वय– आज आवश्यकता इस बात की है कि हम न तो केवल भौतिक विज्ञान की अंधी दौड़ में उलझें और न ही केवल अध्यात्म के नाम पर संसार से पलायन करें। वैदिक विज्ञान हमें इन दोनों के बीच एक समन्वित मार्ग प्रदान करता है। विज्ञान जब चेतना से जुड़ता है, तो वह करुणामय बनता है; और अध्यात्म जब विज्ञान से जुड़ता है, तो वह यथार्थवादी बनता है। यही समन्वय मानव सभ्यता की नयी दिशा तय कर सकता है, जहाँ तकनीक का विकास मानवीयता के साथ चले और आध्यात्मिकता वैज्ञानिक विवेक के साथ।

अन्तत:, वैदिक विज्ञान की आधुनिक प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि यह विज्ञान को नैतिकता, चेतना और करुणा से जोड़ता है। यह हमें यह सिखाता है कि विज्ञान का विकास तभी सार्थक है, जब वह मनुष्य के भीतर की शान्ति और बाहरी जगत् की स्थिरता– दोनों को पोषित करे। अत: आज की वैज्ञानिक सभ्यता के लिए वैदिक विज्ञान कोई अतीत का अवशेष नहीं, बल्कि भविष्य का पथ-प्रदर्शक है, जो हमें यह स्मरण कराता है कि सत्य, विज्ञान और अध्यात्म एक-दूसरे से अलग नहीं, बल्कि एक ही ब्रह्माण्डीय चेतना के विविध रूप हैं।

मानवीय, सामाजिक एवं नैतिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक विज्ञान की भूमिका– वैदिक विज्ञान केवल ब्रह्माण्ड और पदार्थ की व्याख्या तक सीमित नहीं है, बल्कि उसका गहन उद्देश्य मानवता, नैतिकता और सामाजिक समरसता की स्थापना है। यह विज्ञान केवल 'जानने' का विज्ञान नहीं, बल्कि 'होने' का विज्ञान है, जो यह सिखाता है कि मनुष्य, प्रकृति और समाज के बीच कैसा सन्तुलन होना चाहिए। वैदिक ग्रन्थों में विज्ञान और धर्म– दोनों का आधार एक ही है–'ऋत' अर्थात् सार्वभौमिक व्यवस्था। यह व्यवस्था मनुष्य को अपने कर्म, विचार और व्यवहार में उस प्राकृतिक सन्तुलन के अनुरूप आचरण करने की प्रेरणा देती है।

मानवीय दृष्टिकोण से वैदिक विज्ञान यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म का अंश है। 'अहं ब्रह्मास्मि' का यह सिद्धान्त मनुष्य के भीतर आत्ममूल्य, आत्मसम्मान और आत्मदायित्व का भाव जगाता है। इस दृष्टि से हर व्यक्ति न केवल प्रकृति का अंग है, बल्कि उसकी रक्षा और

सन्तुलन का उत्तरदायी भी है। वैदिक विज्ञान में मानव जीवन का उद्देश्य केवल सुख-सुविधा नहीं, बल्कि आत्म-साक्षात्कार (Self-Realization) बताया गया है। यह विचार व्यक्ति को उपभोग से सहयोग की ओर और भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है। यही मानवीय दृष्टिकोण आज के यान्त्रिक, उपभोक्तावादी समाज के लिए सबसे बड़ा सन्तुलनकारी सिद्धान्त है।

सामाजिक दृष्टि से वैदिक विज्ञान ने मानव समाज को एक 'सजीव पारिस्थितिकी' (Living Ecology) के रूप में देखा है। 'यज्ञ' की अवधारणा केवल धार्मिक नहीं, बल्कि सामाजिक विज्ञान का प्रतीक है, जो यह सिखाती है कि मनुष्य का प्रत्येक कर्म सामूहिक हित से जुड़ा होना चाहिए। वेदों में कहा गया है– 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' अर्थात् साथ चलो, साथ बोलो और साथ सोचो। यह भाव आज के लोकतन्त्र, सामाजिक एकता और सह-अस्तित्त्व के मूल में निहित है। आधुनिक समाज जब 'Social Harmony' और 'Collective Responsibility' की बात करता है, तब वह अनजाने में वैदिक विज्ञान के ही सिद्धान्तों को पुन: व्यक्त करता है।

नैतिक दृष्टि से वैदिक विज्ञान 'धर्म' की उस व्यापक परिभाषा को प्रस्तुत करता है, जो किसी सम्प्रदाय या परम्परा तक सीमित नहीं। धर्म यहाँ 'कर्तव्य' और 'सन्तुलन' का प्रतीक है। यह नैतिकता को वैज्ञानिक दृष्टि से देखता है कि हर कर्म का परिणाम किसी अन्य प्रणाली पर प्रभाव डालता है। यह सिद्धान्त आधुनिक पारिस्थितिकी और समाजशास्त्र में 'Systemic Causality' या 'Ripple Effect' के रूप में जाना जाता है। वेदों के अनुसार– 'अहिंसा परमो धर्म:'– यह वाक्य केवल नैतिक उपदेश नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक नियम है, जो बताता है कि हिंसा, लालच या अति-उपभोग प्रकृति के सन्तुलन को तोड़ते हैं और अन्तत: मानव सभ्यता पर विपरीत प्रभाव डालते हैं।

वैदिक विज्ञान ने समाज में शिक्षा और ज्ञान की भूमिका को भी विशेष महत्त्व दिया है। 'विद्या ददाति विनयम्'– यह सूत्र केवल व्यक्तिगत आचरण नहीं, बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि का निर्माण करता है। वैदिक काल में शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार नहीं, बल्कि व्यक्तित्व और चेतना का विकास था। आज जब शिक्षा प्रणाली पुन: मूल्याधारित और मानव-केन्द्रित बनने की दिशा में बढ़ रही है, तब वैदिक विज्ञान का यह दृष्टिकोण अत्यन्त प्रासंगिक हो उठता है।

आधुनिक समाज में जब हम तकनीकी प्रगति और वैज्ञानिक विकास की चर्चा करते हैं, तब एक बड़ा प्रश्न उठता है– क्या विज्ञान नैतिक है? क्या तकनीक मानवीय मूल्यों के अनुरूप है? वैदिक विज्ञान इस प्रश्न का उत्तर देता है– 'सत्यं वद, धर्मं चर।' अर्थात् ज्ञान का उद्देश्य तभी सार्थक है, जब वह सत्य और धर्म के मार्ग पर चले। इसीलिए वैदिक विज्ञान मानवता को यह सिखाता है कि विज्ञान और नैतिकता अलग नहीं, बल्कि परस्पर निर्भर हैं।

आज के वैश्विक संकट, जैसे– पर्यावरणीय असंतुलन, सामाजिक असमानता और मानसिक तनाव इसी कारण उत्पन्न हुए हैं कि विज्ञान ने अपने नैतिक केन्द्र से दूरी बना ली है। वैदिक विज्ञान का पुनर्पाठ इस संकट का समाधान प्रस्तुत करता है। वह हमें यह सिखाता है कि जब तक विज्ञान मानवता की सेवा में न लगे, तब तक वह अधूरा है।

इस प्रकार, मानवीय, सामाजिक और नैतिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक विज्ञान का योगदान अमूल्य है। यह न केवल प्राचीन सभ्यता की स्मृति है, बल्कि भविष्य की सभ्यता का भी मार्गदर्शन है, जहाँ विज्ञान का उद्देश्य केवल खोज नहीं, बल्कि करुणा, सह-अस्तित्त्व और

स्थिरता की स्थापना है। वैदिक विज्ञान यही सिखाता है कि सच्चा विज्ञान वही है, जो मनुष्य को मनुष्य के भीतर के ब्रह्म से जोड़ दे।

वैदिक विज्ञान की चुनौतियाँ और सीमाएँ– वैदिक विज्ञान, यद्यपि भारतीय ज्ञान परम्परा की महानतम उपलब्धियों में से एक है, फिर भी; इसके समक्ष कुछ गम्भीर चुनौतियाँ और सीमाएँ हैं, जो इसके आधुनिक पुनरुत्थान और वैज्ञानिक व्याख्या में बाधा उत्पन्न करती हैं। इन चुनौतियों को केवल ऐतिहासिक या सांस्कृतिक दृष्टि से नहीं, बल्कि वैचारिक और पद्धतिगत (Methodological) दृष्टि से भी समझना आवश्यक है, क्योंकि वैदिक विज्ञान का पुनर्पाठ तभी सम्भव है, जब हम इसकी सीमाओं को स्वीकार करते हुए उसे युगानुकूल रूप में पुन: परिभाषित करें।

सबसे पहली और प्रमुख चुनौती 'व्याख्यात्मक अस्पष्टता' (Interpretational Ambiguity) की है। वेदों और उपनिषदों की भाषा अत्यन्त सांकेतिक, प्रतीकात्मक और काव्यात्मक है। ऋषियों ने अपने अनुभवों को अक्सर रूपक, मन्त्र या सूक्त के रूप में व्यक्त किया, जिनकी कई व्याख्याएँ सम्भव हैं। उदाहरण के लिए, 'अग्नि', 'वायु', 'सूर्य' जैसे शब्द कहीं प्राकृतिक तत्त्व हैं, तो कहीं चेतना के प्रतीक। आधुनिक विज्ञान इन प्रतीकों को तथ्यात्मक प्रमाणों में बदलना चाहता है, परन्तु वैदिक भाषा का भावात्मक और दार्शनिक स्वरूप इसे कठिन बना देता है। इस कारण, कई बार वैदिक विज्ञान को या तो अन्धविश्वास कहा जाता है या फिर रहस्यवाद से जोड़ा जाता है।

दूसरी बड़ी चुनौती वैज्ञानिक पद्धति के साथ सामंजस्य की कठिनाई है। आधुनिक विज्ञान प्रयोग, परीक्षण, पुनरावृत्ति और मापन पर आधारित है। इसके विपरीत; वैदिक विज्ञान का आधार अनुभूति और साधना है, जो व्यक्तिगत अनुभव की श्रेणी में आता है। जब तक कोई ज्ञान वस्तुनिष्ठ प्रमाणों में परिवर्तित न हो, तब तक वह आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर स्वीकार्य नहीं होता। इसलिए वैदिक विज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक विमर्श में स्थान दिलाने के लिए आवश्यक है कि उसकी अवधारणाओं की प्रयोगात्मक प्रामाणिकता विकसित की जाए। उदाहरणार्थ, योग और ध्यान पर हुए आधुनिक अनुसंधान इस दिशा में एक सकारात्मक प्रयास हैं, जिन्होंने अनुभवजन्य सत्य को वैज्ञानिक प्रमाण में बदला।

तीसरी चुनौती शोध-परम्परा की निरन्तरता के अभाव से जुड़ी है। भारत में मध्यकालीन दौर में विदेशी आक्रमणों और सामाजिक विघटन के कारण वैदिक अध्ययन की संस्थागत संरचना कमजोर हो गयी। नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालय, जहाँ वैदिक और वैज्ञानिक ज्ञान के केन्द्र थे, वे समय के साथ नष्ट हो गए। परिणामस्वरूप; वैदिक विज्ञान का स्वाभाविक विकास रुक गया और उसका अध्ययन पौराणिक या कर्मकाण्डी दृष्टिकोण तक सीमित हो गया। आज आवश्यकता है कि वैदिक ज्ञान को पुन: शोधाधारित आधुनिक पद्धतियों से युक्त शैक्षणिक विमर्श में स्थापित किया जाए।

चौथी चुनौती अति व्याख्या और छद्म वैज्ञानिकता (Pseudo-Science) की है। कई बार वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या इस उद्देश्य से की जाती है कि उनमें आधुनिक आविष्कारों का पूर्वाभास सिद्ध किया जा सके, जैसे यह दावा करना कि वेदों में विमान, परमाणु या कम्प्यूटर का उल्लेख था। यद्यपि इन ग्रन्थों में कुछ अवधारणाएँ आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से मेल खाती हैं, परन्तु हर प्रतीक को आधुनिक तकनीकी अर्थ देना वैदिक परम्परा के गूढ़ अर्थ को कमजोर करता है। यह

दृष्टिकोण न तो वैज्ञानिक है, न दार्शनिक। अतः वैदिक विज्ञान का वास्तविक सम्मान तभी सम्भव है, जब उसकी विवेचना तर्क, शोध और सत्यनिष्ठा के आधार पर की जाए, न कि अन्धभक्ति या राष्ट्रवादी गौरव के आग्रह से।

पाँचवीं चुनौती संस्कृत-ज्ञान की दुर्लभता और भाषिक जटिलता से जुड़ी है। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों की प्राचीन संस्कृत शैली अत्यन्त गूढ़ है, जिसे समझने के लिए केवल भाषा नहीं, बल्कि सन्दर्भ, छन्द और दर्शन की भी गहरी समझ आवश्यक है। आधुनिक युग में संस्कृत के विशेषज्ञों की संख्या कम होती जा रही है, जिससे वैदिक ज्ञान के सही अनुवाद और अर्थ-व्याख्या में त्रुटियाँ उत्पन्न हो रही हैं। कई अनुवाद पश्चिमी दृष्टिकोण से किए गए हैं, जो भारतीय आध्यात्मिकता की भावना को पूरी तरह नहीं समझ पाए। यह स्थिति वैदिक विज्ञान की प्रामाणिक व्याख्या के मार्ग में गम्भीर बाधा है।

छठीं चुनौती व्यावहारिक अनुप्रयोग की सीमितता है। वैदिक विज्ञान के कई सिद्धान्त अत्यन्त उच्च दार्शनिक स्तर के हैं, जैसे– ब्रह्म, आत्मा, ऋत, अद्वैत आदि। इन्हें आधुनिक प्रयोगशालाओं या तकनीकी प्रणालियों में प्रत्यक्ष रूप से लागू करना कठिन है। यद्यपि इनके नैतिक और वैचारिक सिद्धान्त उपयोगी हैं, परन्तु उन्हें आधुनिक विज्ञान की तकनीकी संरचनाओं में परिवर्तित करने की प्रक्रिया अभी प्रारम्भिक अवस्था में है।

अन्ततः, एक गहन चुनौती शिक्षा और समाज के स्तर पर जागरूकता की कमी है। वैदिक विज्ञान को आज भी अधिकांश लोग धार्मिक या कर्मकाण्डी परम्परा से जोड़कर देखते हैं, न कि ज्ञान-विज्ञान के रूप में। जब तक इसे आधुनिक शिक्षा में एक समग्र दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टि के रूप में स्थान नहीं मिलेगा, तब तक इसका पुनर्जागरण अधूरा रहेगा।

इन सभी चुनौतियों के बावजूद, वैदिक विज्ञान की सम्भावनाएँ समाप्त नहीं हुई हैं। यदि इसकी व्याख्या आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के आलोक में, तर्क और अनुभव– दोनों के सन्तुलन से की जाए, तो यह न केवल भारत, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए एक नयी वैज्ञानिक-दार्शनिक दिशा प्रदान कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि हम वैदिक विज्ञान को अतीत की वस्तु न मानें, बल्कि भविष्य की सम्भावनाओं का आधार समझें, जहाँ विज्ञान, नैतिकता और चेतना का समन्वय हो।

निष्कर्ष– ऐसा नहीं है कि विज्ञान के आविष्कारों के उपरान्त वैदिक समय के ज्ञान निर्मूल हो गए हैं, बल्कि सत्य तो यह है कि पूर्व के समय या वैदिक समय के विद्वानों की नकल आधुनिक विज्ञानवादियों ने की है। परिष्करण प्रत्येक समय की माँग होती है और आधुनिक विज्ञान ने यही परिष्करण किया है। मेरा यहाँ विज्ञान से कोई विरोध नहीं है, बल्कि मुझे यह बताना है कि आधुनिक विज्ञान यदि आध्यात्मिक आधारों को पुनः पूर्ण योजित करता है, तो इससे उत्पन्न इस विशेष ज्ञान का उपयोग मानवता के काम के लिए किया जा सकता है, न कि व्यक्ति की स्वार्थपरकता एवं स्व-पूर्णता के लिए। वैदिक विज्ञान का अध्ययन हमें यह सिखाता है कि ज्ञान केवल प्रयोगों से नहीं, बल्कि अनुभव और अन्तर्दृष्टि से पूर्ण होता है। आधुनिक विज्ञान ने भौतिक जगत पर अधिकार स्थापित किया, परन्तु चेतना के रहस्यों को अभी भी नहीं समझ पाया है। वैदिक दृष्टिकोण में विज्ञान और अध्यात्म– दोनों परस्पर पूरक हैं। यदि आधुनिक विज्ञान वैदिक सिद्धान्तों की सहायता से अपनी दिशा को पुनः परिभाषित करे, तो वह मानवता के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। अन्ततः, सृष्टि का सत्य बाह्य उपकरणों से नहीं, बल्कि अन्तःप्रकाश

से जाना जा सकता है और यही वैदिक विज्ञान का शाश्वत सन्देश है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. उपनिषद– ईश, कठ, छांदोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद
२. ऋग्वेद– मण्डल १ से १० तक चयनित सूक्त
३. ऋग्वेद संहिता– सम्पादक : मैक्समूलर (संस्कृत संस्करण)
४. कपिल शर्मा (२०१८)– वैदिक विज्ञान और आधुनिकता, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
५. कपिल, सांख्य दर्शन सूत्र– मोक्ष और प्रकृति के तत्त्वों पर विवेचना
६. छांदोग्य उपनिषद्– ब्रह्मविद्या पर आधारित प्रकरण
७. तैत्तिरीय उपनिषद्– आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विवेचना
८. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (१९९१)– भारतीय दर्शन का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
९. कपिलदेव द्विवेदी (२०१६)– वेद और विज्ञान, चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी
१०. भगवद्गीता– विशेषतः अध्याय १३ एवं १५ (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सम्वाद)
११. अच्युतानन्द मिश्र (२००८)– उपनिषदों का सार और विज्ञान-दृष्टि, भारतीय दर्शन अकादमी, नई दिल्ली
१२. आर. एस. मिश्र (२०१८)– वैदिक विज्ञान और आधुनिक चिन्तन, दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन, दिल्ली
१३. रामेश्वर मिश्र (२०१८)– वैदिक विज्ञान और उसका आधुनिक समय से सम्बन्ध, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली
१४. यजुर्वेद – मन्त्र संहिता
१५. रवीन्द्र शर्मा (२०२०)– आधुनिक आयुर्वेद : सिद्धान्त और अनुप्रयोग, आयुर्वेदिक पब्लिकेशन, दिल्ली
१६. श्रीकृष्ण शर्मा (२०१७)– वैदिक विज्ञान के दार्शनिक आयाम, वैदिक अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी
१७. रामकृष्ण शास्त्री (२०१२)– सामवेद संहिता : भाष्य सहित, संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
१८. श्री अरविन्द (२००५)– द लाइफ डिवाइन, श्री अरविन्द आश्रम प्रेस, पाण्डिचेरी
१९. सच्चिदानंद (२०१५)– वैदिक दर्शन और आधुनिक विज्ञान, ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली
२०. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (१९९३)– भारतीय दर्शन (Indian Philosophy, Vol. 1–2), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली

●

भाव स्वरूपा राधा : एक तुलनात्मक अध्ययन

दिवाकर साहू*

(जयदेव के 'गीतगोविन्द', विद्यापति की 'पदावली', सूरदास के 'सूरसागर' तथा हलधर नाग के 'प्रेम-पहचान' काव्य के विशेष सन्दर्भ में)

शोध-सार : भारतीय साहित्य में कृष्ण-प्रिया राधा का चरित्र अनुपम-अपरूपा है। ईसवी सन् प्रथम के पूर्व से अद्यतन साहित्य में राधा-कृष्ण का लीलाचरित-काव्य निरन्तर गतिशील है। १२वीं सदी में जयदेव की 'गीतगोविन्द' कृति से राधा-कृष्ण का लीलाचरित-काव्य एक भिन्न दृष्टिकोण के साथ अग्रसरित हुआ। जयदेव के पश्चात् चण्डीदास, विद्यापति, श्रीचैतन्य, सूरदास आदि कवियों ने इस परम्परा को अभिनव रूप दिया। समकालीन समय में भी भारतीय भाषाओं में कृष्णलीला-काव्य विविध आयामों के साथ उपस्थित होता है। भारतीय भाषाओं में से एक प्रमुख भाषा ओड़िया भाषा है। ओड़िया साहित्य की परम्परा में जयदेव के बाद उपेन्द्र भंज, गंगाधर मेहेर तथा समकालीन प्रतिष्ठित कवि हलधर नाग जैसे कवियों ने भी कृष्णलीला का गान किया है।

प्रस्तुत शोध-आलेख में जयदेव के 'गीतगोविन्द', विद्यापति की 'पदावली', सूरदास के 'सूरसागर' तथा हलधर नाग के 'प्रेम-पहचान' काव्य में वर्णित राधा के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन एवं विवेचन किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन के अनुरूप राधा-चरित्र के विविध आयामों पर प्रकाश डाला गया है।

बीज शब्द : भाव, प्रेम, राधा, कृष्ण, गोपलीला, जीव, ब्रह्म, संयोग-वियोग।

कृष्ण-कथा आधारित काव्य में जितना महत्त्व श्रीकृष्ण का है, उतना ही महत्त्व राधा का भी है। राधा के बिना कृष्ण की लीला अधूरी है। भारतीय परम्परा में कृष्ण-कथा का प्रारम्भ ईसवी सन् से पहले ही हो गया था। सबसे पहले कृष्ण-कथा का उल्लेख 'हरिवंश पुराण' में पाया जाता है। इसमें श्रीकृष्ण सम्बन्धी केलि-क्रीड़ा का वर्णन किया गया है, परन्तु इसमें राधा का वर्णन नहीं मिलता है। सबसे पहले 'गाथा सप्तसती' में 'राधा' शब्द पाया जाता है।[१] साथ ही; 'पंचतन्त्र' में भी 'राधा' का नाम आता है।[२] पहली ईसवी में जन्मी कृष्ण-कथा १०वीं-१२वीं सदी तक शैशवावस्था में थी। १२वीं सदी में जयदेव ने 'गीतगोविन्द' का सृजन करके कृष्णकथा-परम्परा को गति, नवीन दिशा एवं प्रबलता प्रदान की। जयदेव के गीतगोविन्द में कृष्ण-गोपियों की केलि-क्रीड़ा के साथ ही; राधा के प्रेम-विषाद का मनोहारी चित्रण देखने को मिलता है। उसके बाद विद्यापति, चण्डीदास आदि महाकवियों ने संस्कृत तथा मैथिली बोली में कृष्ण-लीला का गायन किया। महाप्रभु चैतन्य अपने उपास्य कवि जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास के काव्य-रसिक थे। १५वीं सदी में श्रीचैतन्य के आगमन से कृष्ण-लीला में मधुर भक्ति ने जुड़कर एक विराट् आन्दोलन का रूप ले लिया। वह इस काव्य-रस को वृन्दावन लेकर आए एवं उनके शिष्यों द्वारा देश भर में इसका प्रचार-प्रसार हुआ। आचार्य क्षितिमोहन सेन चीन और भारत के नाम-संकीर्तन में साम्य देखकर यह बताते हैं कि– ''महायान मत ही नाम-संकीर्तन का मूल उत्स है। बौद्ध धर्म

* शोधार्थी– हिन्दी विभाग, हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल (केन्द्रीय) विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल, उत्तराखण्ड

का ह्रास होते-होते उसके बहुत से मत वैष्णव मत में शामिल हो गए। इस प्रकार, सहजिया पंथ, जिनकी साधना प्रेम-मूलक थी और परकीया प्रेम को सहज साधना का प्रधान उपाय समझते थे, १६वीं शताब्दी में नित्यानंद के वैष्णव झण्डे के नीचे एकत्र हुए। इन्हीं नित्यानंद को श्रीचैतन्य ने अपने सम्प्रदाय में शामिल किया और यहीं से गौड़ीय वैष्णव धर्म ने अभिनव रूप धारण किया।''[३] इसी परम्परा ने पूर्वी राज्यों– बंगाल, ओड़िशा तथा आसाम में, आगे चलकर व्यापक रूप ले लिया। 'ओड़िशा के धर्माचार्यों में चैतन्य और नागार्जुन– दोनों के मतों के समन्वय से विशाल वैष्णव बौद्ध साहित्य निर्मित हुआ।[४] इस परम्परा के सबसे प्रतिष्ठित कवि ओड़िशा के संत कवि भीम भोई हैं। आगे चलकर, ओड़िशा में इसी परम्परा में उपेन्द्र भंज, गंगाधर मेहेर, हलधर नाग जैसे कवियों ने अपनी सृजन-यात्रा चलायी।

'राधा' भारतीय संस्कृति की विकास-प्रक्रिया में अनेक चिन्मय धाराओं के संघात का नाम है। प्राचीन काल से चली आ रही कला, साहित्य, धर्म तथा दर्शन-परम्परा में अनेक विषय प्रयुक्त एवं गृहीत हुए, किन्तु राधा का अन्तर्बाह्य सौन्दर्य चिरनवीन है। राधा के व्यक्तित्व-निर्माण में तथ्य और कल्पना, दार्शनिक-चिन्तन और भावना, शास्त्र-चिन्तन और लोक-चेतना का योगदान है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय में भी राधा का काव्यात्मक आध्यात्मिक स्वरूप जनमानस में निरन्तर विद्यमान है। वायु पुराण, पद्म पुराण तथा ब्रह्म पुराण में राधा का शक्ति रूप स्थापित हुआ है। इन पुराणों में राधा पुराशक्ति या सच्चिदानंद के भाव-लोक की अधिष्ठात्री देवी है। 'वायु पुराण' में राधा परमपुरुष कृष्ण की विलास सखी है। 'पद्म पुराण' में श्रीकृष्ण के क्रीड़ारस-स्थल गोकुल को 'गोलोक' बताया गया है। नित्य रासस्थल वृन्दावन को गोलोक से भी श्रेष्ठ बताया गया है और वह राधापति का निवास-स्थल है। यहाँ स्पष्ट कथन है कि राधा और कृष्ण ही आद्यपुरुष और प्रकृति हैं। हलधर नाग के शब्दों में– ''राधा-कृष्ण की नवरंग लीला विभु प्रकृति के संग।''[५] ईसवी सन् के पूर्व से चली आ रही पौराणिक कृष्णलीला-कथा में, १२वीं सदी में जयदेव ने नया रंग डाला। उन्होंने 'गीतगोविन्द' के माध्यम से भारतीय प्रेम-कविता में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन एवं प्रभाव उत्पन्न किया। यह प्रभाव मध्यकालीन कृष्ण-काव्य तथा विविध भारतीय भाषाओं के कृष्णकथा-आधारित साहित्य में भी दृश्यमान होता है। 'जयदेव ने अपनी मधुर कोमलकांत पदावली में हरिस्मरण और विलास का, भक्ति और श्रृंगार का जो अद्‌भुत मणि-कांचन योग उपस्थित किया, उससे मध्यकाल में व्यक्ति की वासनाओं का परिष्कार और उदात्तीकरण हुआ। निवृत्तिमूलक ज्ञान की ओर से विमुख जनता प्रवृत्तिमूलक रागात्मिका भक्ति की ओर प्रेरित हुई। जीवन-धर्म और धार्मिक जीवन के नए सम्बन्ध से लोक-चेतना प्रभावित हुई।''[६]

मैथिल-कोकिल विद्यापति राधा-कृष्ण का गाथा-गायन करने वाले अपरूप कवि हैं। विद्यापति आदिकाल एवं भक्तिकाल के बीच की कड़ी के कवि हैं। उनका जन्म बिहार के मिथिलांचल स्थित दरभंगा जिले में हुआ था। उन्होंने कीर्तिलता, कीर्तिपताका, पदावली जैसे अनेक काव्यों की रचना की है, परन्तु उनकी प्रतिष्ठा का मूल आधार उनकी 'पदावली' ही है। विद्यापति ने जयदेव को अपना आदर्श मानकर काव्य-सृजन किया है, इसलिए उन्हें 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। जयदेव की भाँति वे संगीतपूर्ण कोमलकांत पदावली में श्रृंगारिक रचना करते थे। विद्यापति की पदावली जयदेव के गीतगोविन्द की प्रतिध्वनि होते हुए भी उसमें अन्तर है। गीतगोविन्द में सम्पूर्ण प्रेमलीला का आयोजन श्रीकृष्ण की मनोकामना का परिणाम है। उसमें प्रेमी कृष्ण का ही प्रबल पक्ष है, प्रिया राधा का नहीं। जयदेव की राधा भावमूर्ति है, अत्यन्त प्रेम-

विह्वल है। उन्होंने कृष्ण के प्रेम की विह्वलता में अहम् और इदम्– दोनों का विसर्जन कर दिया है। विद्यापति की पदावली में राधा-कृष्ण प्रेम के समान धरातल पर स्थित हैं। दोनों के हृदय में प्रेम का प्रकाश समान है। इसमें राधा पक्ष प्रबल है, जिसका एक उद्धरण इस प्रकार है–

'जहाँ जहाँ पग जुग धरई। तहिं तहिं सरोरुह झरई।
जहाँ जहाँ झलकत अंग। तहिं तहिं विजुरी तरंग।
× × × ×
जहाँ जहाँ नयन विकास। तहिं तहिं कमल प्रकास।।
जहाँ जहाँ लहु संचार। तहिं तहिं अमिय विकार।।
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख। ततहिं मदन सर लाख।।'[७]

मध्यकालीन भक्ति साहित्य में प्रगल्भपूर्ण और काव्यांगपूर्ण काव्य-रचना करने वाले अकेले सूरदास ही हैं। परिष्कृत और अनुशासनबद्ध पद सूर की ऐसी विशेषता है कि मानों ऐसा लगता है, जैसे प्राचीन परम्परा से चली आ रही गीतिकाव्य-परम्परा का विकसित रूप हो। सूरदास के पदों में राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन जीवनोत्सव के रूप में हुआ है। सूरदास के पदों में राधा-कृष्ण का प्रेम अनन्त-अनुपम है। विश्व में अनेक महान रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में ऐसे चरित्र का चित्रण किया है, जिनके प्रत्येक स्पंदन में स्रष्टा की आत्मा का संगीत सुनाई देता है और जिनके व्यक्तित्व में कर्ता एवं कृति का आत्मीय सम्बन्ध दिखाई देता है। सूरदास की राधा का चरित्र ऐसा ही है। सूरदास की राधा के चित्रण में स्वाभाविक रूप से सत्य की शाश्वत प्राण-प्रतिष्ठा हुई है एवं शिवत्व की अनुभूति होती है। मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि– ''सूर की राधा की सहज अनुरक्ति, स्वच्छंद प्रकृति, अदम्य जीवनशक्ति तथा अनुपम सौन्दर्य-मूर्ति में मनस्विनी-प्रेयसी और असीम आत्मशक्ति-सम्पन्न वियोगिनी का जो उदात्त संयोग हुआ है, उससे उनका चरित्र लौकिक होकर भी लोकोत्तर बन गया है। राधा में प्रेयस और श्रेयस तत्त्वों का अद्‌भुत संयोग है। राधा के रूप में प्रेम के सुमधुर परिवेश में पली-विकसी किशोरी, संयोग में सिद्ध कामनामूर्ति युवती, परिणय की ओर उन्मुख प्रेयसी तथा वियोग में तपी नारी के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण हुआ है।''[८] इस प्रकार से, कहा जा सकता है कि सूरदास ने राधा के चरित्र का जो मनोरम चित्रण किया है, वह भारतीय जन-मन में प्रेम की देवी के रूप में बस गयी है। ऐसे मानव-चरित्रों का चित्रण महान मानवतावादी सूरदास ही कर सकते हैं। उदाहरण के रूप में, उनका एक पद देख सकते हैं–

'खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर बांधे, हाथ लए भौंरा चक डोरी।।
मोर मुकुट कुंडल स्त्रवननि बर, दसन दमक दामिनी छबि थोरी।
गए स्याम रबितनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी।।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल बहाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी।।
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझैं, नैन नैन मिलि परी ठगोरी।।'[९]

राधा-कृष्ण की कामोद्रेक क्रीड़ा एवं कुंजविहार का चित्रण करते हुए सूरदास ने राधा के रूप-वर्ण का जो चित्र आँका है, वह अनन्त अनुपम है। इस प्रकार का पद है–

'नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपनैं उर धरिया।।
क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर, स्यामा स्याम उमँगी रस भरिया।
यौं लपटाइ रहे उर उर ज्यौं, मरकत मनि कंचन मैं जरिया।।'[१०]

उपमा के माध्यम से सूरदास ने राधा-कृष्ण के रूप-वर्ण का जो सौन्दर्य चित्रण किया है, वह देखते ही बनता है। राधा गोरी थी और कृष्ण कृष्णवर्णा। सो जब दोनों लिपटे, ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे सोने में मरकत मणि जोड़ दिया गया हो।

राधा-कृष्ण लीला विषयक साहित्य-सृजन हिन्दी भाषा के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों की रचनाओं में भी देखने को मिलता है। भारतीय भाषाओं में प्रमुख भाषा ओड़िआ भाषा है। ओड़िआ भाषा साहित्य की परम्परा में भी कृष्णकाव्य-परम्परा का विविध रूप विद्यमान है। एक तरह से यह भी कहा जा सकता है कि ओड़िशा की धरती से ही राधा-कृष्ण की अनुपम रासलीला का गान जयदेव के कण्ठ से पहले-पहल हुआ। जयदेव की परम्परा ने १२वीं सदी से अद्यतन समय तक व्यापक रूप में प्रभावित किया है। इसी परम्परा में चण्डीदास, विद्यापति, श्रीचैतन्य, सूरदास आदि भक्त कवियों ने कृष्ण-लीलाओं का गान किया है। ओड़िशा मिट्टी के पुत्र होने के नाते जयदेव के पद को आज भी ओड़िशा के गाँव-गाँव में आदर के साथ गाया जाता है। जयदेव के 'गीतगोविन्द' के कृष्ण-लीला पद से प्रभावित होकर अनेक साहित्यकारों ने विविध शैली में कृष्ण-लीला का गान किया है। इसी परम्परा में ओड़िशा के तत्कालीन समय के प्रतिष्ठित कवि हलधर नाग अन्यतम हैं। हलधर नाग का जन्म आड़िशा के पश्चिमी क्षेत्र के बरगढ़ जिले में हुआ था। औपचारिक शिक्षा न मिलने के कारण उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए स्थानीय सम्बलपुरी-कोसली भाषा को चुना, जो ओड़िशा की एक क्षेत्रीय लोकभाषा है। यह भाषा राज्य के लगभग बारह जिलों में बोली जाती है। अपनी मातृभाषा सम्बलपुरी-कोसली में श्री नाग ने भारतीय पौराणिक मिथक काव्य-परम्परा के अनुरूप कई काव्य और कविताएँ रची हैं। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'अछूत' (शबरी), 'महासती उर्मिला', 'तारा-मंदोदरी', 'रसियाकवि तुलसीदास', 'श्री समलेई' और 'परम पहचान' शामिल हैं।

हलधर नाग का 'प्रेम-पहचान' एक श्रेष्ठ कृष्णचरित महाकाव्य है, जो २१ सर्गों में विभक्त है। यह काव्य श्रीकृष्ण के लीलावतार रूप में पूर्णपुरुष रूप का चित्रण करता है। कृष्ण मनुष्य रूप में साक्षात् प्रेम का असीम महासागर हैं, जो सभी भावों को आह्लादित करते हैं। प्रेम संसार का सर्वोच्च भाव है। इसका कोई एक निर्दिष्ट रूप नहीं, बल्कि अनगिनत रंग हैं—मातृप्रेम, वात्सल्य, शृंगार, भक्ति आदि। प्रेम का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, जो समस्त विश्व को अपनी छत्र-छाया में संरक्षण दे सकता है।

आज विश्व विविध मतभेदों—जाति, धर्म, राष्ट्रवाद—के कारण हिंसक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर है। युद्धो में लाखों की बलि चढ़ रही है तथा शान्ति लुप्त हो रही है। यदि मानवता हिंसा के विपरीत; प्रेम का मार्ग अपनाए, तो समस्त सभ्यता का कल्याण हो सकता है। प्रेम ही एकमात्र शक्ति है, जो द्वेष को मिटाकर एकता स्थापित कर सकता है। भारतीय साहित्य, विशेषकर कृष्णचरित काव्यों में यह सन्देश विस्तारपूर्वक मिलता है। हलधर नाग के 'प्रेम-पहचान' जैसे ग्रन्थ हमें कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से प्रेम की गहनता सिखाते हैं, जो विश्व-शान्ति का आधार बन सकता है। हलधर नाग ने ओड़िया लोक-परम्परा से प्रेरित होकर इसे अमर बनाया है।

हलधर नाग के 'प्रेम-पहचान' काव्य में श्रीकृष्ण लीलावतार पुरुष हैं। इस काव्य में, कृष्णचरित वर्णन में, भगवतगीता के अवतारवाद की स्पष्ट छाप है। अवतार का सामान्य अर्थ है– ऊपर से नीचे की ओर उतरना। भगवान् जब अपनी लीला हेतु स्वर्गलोक से धरतीलोक पर अवतरित होकर शरीर धारण करते हैं; भक्त लोग उसे आविर्भाव या अवतार कहते हैं। अवतार की स्पष्ट घोषणा हमें गीता में मिलती है– ''यद्यपि मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और समस्त भूतों का ईश्वर हूँ, तो भी अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति या माया को अपने वश में करके केवल अपनी लीला से ही शरीर धारण करता हूँ।''[११] यथा– 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे?'[१२] 'प्रेम-पहचान' काव्य में श्रीकृष्ण लीलपुरुष हैं एवं लीला के तहत वह समस्त चर-अचर प्राणी जगत को प्रेम-पहचान अर्थात् जीव को अपने वास्तविक रूप की पहचान कराने हेतु अवतरित हुए हैं। काव्य में श्रीकृष्ण ने प्रत्येक प्राणी को प्रेम की भिन्नता से प्रेम किया है– हर बार नित नवीन। कृष्ण ने राधा, यशोदा, सुदामा, माता पूतना, गोपी-गोपाल, गौ आदि सभी को अलग-अलग प्रेम किया है। और तो और, मामा कंस से भी प्रेम किया है।

हलधर नाग के प्रेमलीला-काव्य 'प्रेम-पहचान' में राधा का चित्रण अभिनव ढंग से हुआ है। काव्य में श्रीकृष्ण और राधा ने धरतीपुर में जीव के रूप में जन्म लिया है। लीलापुरुष श्रीकृष्ण का धरतीपुर में जन्म लेने का आशय समस्त जीवों को उनके वास्तविक रूप से परिचित कराकर उन्हे सांसारिक माया-बंधन से मुक्त करना है। राधा भी कृष्ण की इस प्रेम-लीला में मुख्य नायिका है। काव्य में राधा केवल सामान्य मनुष्य नहीं, बल्कि कृष्ण का अंश है। कृष्ण का प्रयास यही है कि राधा सांसारिक माया-बंधन से मुक्त होकर अपने वास्तविक रूप को पहचान जाए और कृष्ण-लीला में विहार करे, अर्थात् परमात्मा में लीन हो जाए। हलधर नाग के शब्दों में–

'प्रेम मधु घट, भाव प्लावित,
उस राधा को भी हुआ अब विस्मरण
मेरी अर्धांगिनी है वह,
फिर से कैसे होगा हमारा युग्मन?
खेलने अहर्निशि रासकेलि
'राधा-माधव' मेरा धरावतरण,
गोप-लीला के खातिर,
गोपपुर में हुआ मेरा आगमन।'[१३]

हलधर नाग के 'प्रेम-पहचान' काव्य में राधा और कृष्ण एक ही पेड़ की दो शाखाएँ हैं, अर्थात् परमात्मा के दो स्वरूप। अवतार के तहत दोनों ने गोप-लीला हेतु धरतीपुर में जन्म लिया है, परन्तु माया-बंधन के कारण राधा अपने जीवन की वास्तविकता से अनजान है। कृष्ण स्वयं परब्रह्म हैं, जो निरन्तर राधा को जाग्रत करने के प्रयास में रत दिखते हैं। काव्य में खुद श्रीकृष्ण कहते हैं कि राधा के बिना गोपलीला असम्भव एवं अवतार व्यर्थ है। हलधर नाग के शब्दों में–

'यह सुनकर बोले श्रीपति, / 'हे दुति, नाम उसका राधिका
कैसे करूँ उसका वर्णन? / वह मेरे जीवन से भी अधिका।
सोलह हजार गोपियों में, / वह है मुकुटमणि

मेरी आँखों की तारिका, / भाव सरिता की तटिनी।
जन्म मेरा होगा सफल / यदि कराती हो उससे भेंट
उसके बिना संसार-असार, / गोप-लीला तो दूर की बात।'[१४]

निष्कर्ष : भारत विविधता में एकता की आत्मा-भाव का देश है। यहाँ भौगोलिक विविधता के साथ भाषिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता भी विद्यमान है। भारत में प्रत्येक राज्य की अपनी भाषा एवं समृद्ध साहित्य है। भाषाई विविधता के अनुरूप प्रत्येक भारतीय साहित्य बहुआयामी है। तुलनात्मक अध्ययन एक ऐसी प्रविधि है, जिसके माध्यम से हमें भारतीय साहित्य के विविध आयामों का ज्ञान होता है। तुलनात्मक अध्ययन में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। अनुवाद द्वारा भारतीय भाषा के साहित्य का एक मुख्य स्रोत की भाषा में अनुवाद करके, उसको एक विस्तृत दिशा दी जा सकती है। प्रस्तुत लेख में जयदेव, विद्यापति, सूरदास एवं हलधर नाग के काव्यों में वर्णित राधा के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा राधा के बहुआयामी चरित्र का आभास होता है। इन कवियों की रचनाओं मे वर्णित राधा के चरित्र के साथ संस्कृत, मैथिली, ब्रज एवं सम्बलपुरी-कोसली भाषा एवं संस्कृति का भी ज्ञान होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ :

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी– 'सूर साहित्य', राजकमल प्रकाशन, पृ. २६
२. वही– पृ. २६
३. वही– पृ. ७०
४. वही– पृ. ७०
५. हलधर नाग ग्रन्थावली– अनुवाद– दिनेश कुमार माली, सम्पादक- सी. जयशंकर बाबू, यश पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण २०२५, पृ. ८४०
६. मैनेजर पाण्डेय– भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, लोकभारती प्रकाशन, पृ. १२४
७. कृष्णदेव शर्मा– विद्यापति और उनकी पदावली, अशोक प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९६२, पृ. ८५
८. मैनेजर पाण्डेय– भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, लोकभारती प्रकाशन, पृ. १३०
९. नंदकिशोर नवल– 'सूरदास', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण २०१३, पृ. ५२
१०. वही– पृ. ५४
११. शम्भुनाथ (सम्पादक)– 'हिन्दी साहित्य ज्ञानकोश', भारतीय भाषा परिषद (प्रकाशक), वाणी प्रकाशन (वितरक), दिल्ली, प्रथम संस्करण २०१९
१२. श्रीमद्भगवतगीता, अध्याय-४, श्लोक ७-८
१३. हलधर नाग ग्रन्थावली, अनुवाद– दिनेश कुमार माली, सम्पादक – डॉ. सी. जयशंकर बाबू, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, प्रथम संस्करण २०२५, पृ. ७२०
१४. वही– पृ. ७२४

●

मत्स्य पुराण के राजनीतिक दर्शन में राजधर्म

संतोष कुमार पाण्डेय*, **डॉ. सिद्धार्थ सिंह****

शोध-सारांश : मत्स्य पुराण को सनातन धार्मिक व्यवस्था में अति महत्त्वपूर्ण व अति पवित्र पौराणिक ग्रन्थ का दर्जा प्राप्त है, किन्तु इसे मात्र धार्मिक ग्रन्थ समझकर इसमें वर्णित मानव-जीवन सम्बन्धी अनेक उपयोगी व ज्ञानवर्धक तथ्यों की उपेक्षा कर देना किसी भी दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है। इस ग्रन्थ को भारतीय सभ्यता व संस्कृति का दर्पण माना जा सकता है। इसमें अन्य तथ्यों के साथ-साथ प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत राजधर्म से सम्बन्धित अनेक नवीन व उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो आज के वैज्ञानिक युग में भी मानव-कल्याण के लिए राजा (शासकवर्ग) के द्वारा अनुकरणीय हैं तथा ये वर्तमान भारत की राजनीति में व्याप्त विसंगतियों से मुक्ति प्राप्त करने की दिशा में भी अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं।

राजधर्म का शाब्दिक अर्थ है– 'राजा का धर्म' या 'राजा का कर्तव्य। इसका न्यायोचित ढंग से पालन करना राजा का प्रधान धर्म बताया गया। इसका मुख्य उद्देश्य प्रजाहित को सर्वोपरि रखते हुए उनके लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा करना तथा उन्हें शान्तिपूर्ण व सुरक्षित वातावरण के साथ विकास के लिए समुचित अवसर प्रदान करना था। प्राचीन भारत के जिन राजाओं ने राजधर्म का न्यायोचित ढंग से पालन किया, वे प्रजा में लोकप्रिय हुए तथा उनके शासनकाल में राजा व प्रजा– दोनों धन-धान्य से परिपूर्ण हुए। इसके विपरीत; राजधर्म का पालन न करने वाले राजा को विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना भी करना पड़ा। इस शोध-आलेख में मत्स्य पुराण में राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत राजधर्म से सम्बन्धित विविध पक्षों की सम्यक् विवेचना के साथ-साथ वर्तमान युग में उसकी प्रासंगिकता पर भी विचार करने का प्रयास किया जाएगा।

बीज शब्द– मत्स्य पुराण, राजा, धर्म, राजधर्म, प्रजा, प्रजाहित, राज्य, कर्तव्य, व्रत।

राजधर्म का अर्थ है– 'राजा का धर्म' अथवा 'राजा का कर्तव्य'। राजा को अपने राज्य का संचालन किस प्रकार से करना है, इसी विद्या का नाम 'राजधर्म' है। यह नैतिक आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों का समुच्चय है, जिसका पालन करना राजा के लिए नितान्त आवश्यक था। इसका उद्देश्य प्रजा का कल्याण करना था। यद्यपि भारतीय परम्परा में राजधर्म के मूल वेदों में प्राप्त होते हैं, तथापि मत्स्य पुराण, मनुस्मृति, अग्नि पुराण, याज्ञवल्क्य स्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत के शान्तिपर्व तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थों में इसके विषय में विस्तृत व ज्ञानवर्धक उल्लेख प्राप्त होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में राजधर्म की प्रशंसा करते हुए कहा गया कि जिस प्रकार एक विशालकाय हाथी स्वयं के पदचिह्न के भीतर सभी जीवों के पदचिह्न समाहित कर लेता है, ठीक उसी प्रकार; सभी तरह के धर्म राजधर्म के भीतर समाहित हो जाते हैं।[1] अतः स्पष्ट है कि राजधर्म को सभी धर्मों में सर्वोपरि स्थान दिया गया तथा इसे समस्त धर्मों का आश्रयगृह बताया गया। महाभारत में, एक अन्य स्थान पर, राजधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया कि राजधर्म में समस्त प्रकार के त्याग के दर्शन होने चाहिए, राजधर्म में सारी दीक्षाओं का प्रतिपादन होना चाहिए, राजधर्म में सम्पूर्ण विद्याएँ निहित होनी चाहिए, राजधर्म में सारे लोकों की प्रतिष्ठा बनाए रखने का चिन्तन समाविष्ट होना चाहिए–

---

* शोध छात्र (एस.आर.एफ.)– प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर (उ.प्र.)

** शोध-निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष– प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर (उ.प्र.)

'सर्वेत्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः। सर्वादीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।।
सर्वाविद्या राजधर्मेषु युक्ताः। सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः।।'[२]

अधिकांश प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थों की ही भाँति मत्स्य पुराण में भी राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का ही समर्थन मिलता है।[३] इस पुराण के अनेक अध्यायों में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में राजधर्म एवं शासन-संचालन के लिए महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन प्राप्त होता है।[४] इसमें अनेक प्रकार के सम्भावित एवं अनिवार्य व्रतों का वर्णन करते हुए राजा को उनका पालन करने के लिए निर्देशित किया गया है, ताकि वह धर्मशास्त्रों में वर्णित विधि से न्याय करते हुए सदैव प्रजा की रक्षा व कल्याण के लिए तत्पर रहे। एक स्थान पर यमव्रत का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार यमराज कर्मों के अनुसार समय-समय पर स्वयं के मित्र/शत्रु सभी को समान रूप से दण्डित करते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार; राजा को समान दृष्टि रखते हुए स्वयं के प्रिय/अप्रिय व्यक्ति को भी उसके कर्मों के अनुसार दण्डित/पुरस्कृत करते रहना चाहिए। राजा के इस व्रत को यमव्रत की संज्ञा दी गयी।[५] एक अन्य स्थान पर, वरुणव्रत का वर्णन करते हुए राजा को पापाचरण करने वाले व्यक्तियों को चिह्नित करते हुए उन्हें दण्डित करने का निर्देश दिया गया है।[६] इसी प्रकार, राजा के अग्निव्रत का उल्लेख करते हुए राजा को पापियों, दुष्ट सामन्तों व हिंसक कार्यों में संलिप्त मनुष्यों के प्रति अग्नि की भाँति नितान्त प्रभावशाली व तेजस्वी बने रहने के लिए निर्देशित किया गया है।[७] इसी प्रकार, पार्थिवव्रत का वर्णन करते हुए बताया गया है कि जिस प्रकार पृथ्वी सभी प्राणियों का भार धारण करती है, ठीक उसी प्रकार; राजा को समस्त प्रजा की रक्षा का दायित्व अपने कंधे पर धारण करना चाहिए। राजा के इस व्रत को पार्थिव व्रत की संज्ञा दी गयी।[८] राजा के लिए इन्द्रव्रत का वर्णन करते हुए कहा गया कि जिस प्रकार देवराज इन्द्र वर्षा ऋतु के दौरान वर्ष के चार माह तक निरन्तर वृष्टि करते रहते हैं, ठीक उसी तरह; राजा को अपने राज्य के भीतर अनाथ बच्चे, विधवा, वृद्ध तथा गरीब, असहाय व्यक्तियों के ऊपर दान की वृष्टि करते रहना चाहिए तथा जिस प्रकार सूर्य वर्ष के आठ माह तक निरन्तर जलाशय से जल ग्रहण करता रहता है, ठीक उसी प्रकार; राजा को भी अपने सम्पूर्ण राज्य से नियमित रूप से कर (राजस्व) का संग्रह करते रहना चाहिए। राजा के इस व्रत को सूर्यव्रत की उपमा दी गयी। जिस प्रकार वायु प्रत्येक स्थान पर विचरण करता रहता है, ठीक उसी प्रकार; राजा को अपने सम्पूर्ण राज्य में परोक्ष रूप में, गुप्तचरों के माध्यम से विचरण करते रहना चाहिए। राजा के इस व्रत को मारुतव्रत के नाम से विभूषित किया गया–

'वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽप्यभिवर्षति।
तथाभिवर्षेत स्वं राज्यं काममिन्द्रव्रतं स्मृतम्।।
अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्।।
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्।।'[९]

मत्स्य पुराण में प्राप्त होने वाले उपर्युक्त सभी व्रत थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ मनुस्मृति में भी संकलित किए गए हैं।[१] इन सभी प्रतीकात्मक धार्मिक उद्धरण (व्रत) के माध्यम से राजा को व्यक्तिगत हित की तुलना में राज्य के हित को सर्वोपरि रखने का निर्देश दिया गया, साथ-ही-साथ; उससे अपेक्षा की गयी कि वह प्रिय/अप्रिय सभी के साथ समान व्यवहार करते हुए निष्पक्ष न्याय करे। उसे न्याय व्यवस्था को सर्वसुलभ बनाते हुए प्रजा के हितार्थ सर्वस्व कल्याणकारी कार्य करने का भी परामर्श दिया गया। उसे प्रजा को पुत्र सदृश मानकर सदैव उसकी रक्षा करने का

भी निर्देश दिया गया। मत्स्य पुराण की ही भाँति कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में भी राजधर्म का वर्णन करते हुए कहा गया कि प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है, राजा का व्यक्तिगत प्रिय कुछ भी नहीं है, प्रजा का प्रिय ही उसका प्रिय है–

'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं प्रियं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं प्रियम्।।'[१०]

मत्स्य पुराण में राजा के कर्तव्यों का बोध कराते हुए कहा गया है कि राजा को अपने पुत्र (युवराज) की रक्षा करते हुए उसकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध करवाना चाहिए। उसे अपने राज्य में योग्य व्यक्तियों को, उनकी क्षमता व प्रतिभा के अनुसार, उच्च पदों पर नियुक्त करना चाहिए। सर्वप्रथम किसी व्यक्ति को छोटे पद पर नियुक्त करना चाहिए तत्पश्चात् उसकी क्षमता/दक्षता के अनुरूप क्रमशः उच्च पदों पर नियुक्ति देनी चाहिए। राजा को शिकार, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा इत्यादि दुर्गुणों से बचना चाहिए। उसके लिए दिन में शयन, व्यर्थ का भ्रमण, अप्रिय वचन, कठोर दण्ड, परोक्ष निन्दा इत्यादि का परित्याग कर देना श्रेयस्कर है।[११] राजा के लिए अपने राजप्रासाद व दुर्ग की रक्षा का समुचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। उसे सही समय पर तथा अभावग्रस्त (निर्धन) व्यक्ति को ही दान देना चाहिए। राजा को हर्षपूर्वक काम, क्रोध, मद, मान व लोभ इत्यादि अवगुणों का त्याग कर देना नितान्त आवश्यक है। उसे अपने राज्य के भीतर व बाहर के शत्रुओं पर साम, दाम, दण्ड, भेद इत्यादि नीतियों का प्रयोग करते हुए उन्हें विजित करने का प्रयास करना चाहिए। साथ-ही-साथ; राज्य के सप्तांग (स्वामी, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना, कोष) की भी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना नितान्त अनिवार्य माना गया।[१२] राजा को न ही बहुत अधिक उदार हृदय वाला होना चाहिए और न ही अत्यधिक कठोर स्वभाव वाला होना चाहिए, क्योंकि कोमल हृदय वाला राजा सदैव पराजय का भागी होता है, जबकि कटु स्वभाव वाले राजा से उसकी प्रजा आतंकित रहती है, जिस कारण वह प्रजा में अप्रिय हो जाता है। जो राजा समय व परिस्थिति के अनुसार कोमल व कठोर स्वभाव वाला होता है, वह पृथ्वी तथा स्वर्ग– दोनों लोकों पर विजय प्राप्त करने में सफल होता है। राजा को अपने अनुचरों के साथ परिहास नहीं करना चाहिए, उसे सभी प्रकार के व्यसनों से दूर रहना चाहिए तथा सभी से मंद मुस्कानपूर्वक बातें करनी चाहिए, यहाँ तक कि मृत्युदण्ड के पात्र अपराधी से भी प्रेमपूर्वक बात करना चाहिए। योग्य राजा की दृष्टि सदैव स्थूल लक्ष्य की ओर होनी चाहिए, क्योंकि महान लक्ष्य को सम्मुख रखने वाला राजा समस्त पृथ्वी को अपने अधीन करने में समर्थ होता है।[१३] राजा को शुभ कार्य अथवा राज्य के हित के कार्य में जरा सी भी देरी नहीं करनी चाहिए। चूँकि गोपनीयता ही राज्य का मूलमन्त्र है, अतः राजा को अपनी रणनीति अति गुप्त रखनी चाहिए। जिस राजा के पूर्व में किए गए कार्य को सभी जानते हैं, परन्तु भविष्य में किए जाने वाले कार्य को कोई भी नहीं जानता है, वह राजा समस्त वसुधा को विजित कर सकने में समर्थ होता है।[१४] राजा को कभी भी केवल एक व्यक्ति के साथ अथवा एक साथ एक से अधिक मन्त्रियों से भविष्य की नीतियों पर विचार-विमर्श नहीं करना चाहिए। उसे कभी भी ऐसी नौका पर नहीं बैठना चाहिए, जिसके चालक (नाविक) की योग्यता से वह अनभिज्ञ हो। विद्वान् राजा को विभिन्न प्रकार के उपायों द्वारा न सिर्फ स्वयं के शत्रुओं को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए, बल्कि यथासम्भव अपने राज्य को भी शक्तिशाली बनाने की कोशिश करनी चाहिए। जो राजा अज्ञानवश अपने राष्ट्र को कमजोर बनाता है, वह न सिर्फ अपने राज्य को खो बैठता है, बल्कि स्वयं के साथ-साथ अपने सगे-सम्बन्धियों का जीवन भी दुविधा में डाल बैठता है।[१५] जिस प्रकार पालतू बछड़ा बलवान होने पर कार्य करने में समर्थ होता है, ठीक उसी प्रकार; सम्यक् देखभाल करके समृद्ध किया गया राष्ट्र राजा की समस्त आकांक्षाओं को पूर्ण कर सकने में सफल होता है–

'.........भृतो वत्सो जातबलः कर्मयोग्यो यथा भवेत्।।
तथा राष्ट्रं महाभाग भृतं कर्मसहं भवेत्।'[१६]

मत्स्य पुराण में राजाओं की तीन श्रेणियाँ बतायी गयी हैं–

१. उत्तम कोटि– वह राजा, जो विद्वानों, मित्रों, शुभचिन्तकों से परामर्श के पश्चात् कार्य प्रारम्भ करता है तथा दैव के सहारे प्रयास करके परिणाम की इच्छा रखता है, उत्तम कोटि के राजाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है।

२. मध्यम कोटि– जो राजा स्वयं से ही विचार-विमर्श करके, धर्म के अनुसार कार्य करते हुए परिणाम की कामना करता है, मध्यम कोटि का राजा माना जा सकता है।

३. अधम कोटि– जो राजा बिना सोचे-समझे कार्य को आरम्भ करता है तथा थोड़ा-बहुत व्यवधान पड़ने पर कार्य को बीच में ही छोड़ देता है, अधम कोटि का राजा कहलाता है। मत्स्य पुराण में अनेक प्रसंग के माध्यम से राजा के न्यायिक विधान (न्याय एवं दण्ड व्यवस्था) के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है। एक राजा का प्रमुख कार्य धर्म के अनुसार शासन का संचालन करते हुए प्रजा की रक्षा करना, वर्णाश्रम धर्म के अनुसार न्याय करना तथा दोषियों को दण्डित करना था। राजा के लिए अपने राज्य में सशक्त दण्डनीति का पालन आवश्यक था, क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में समाज में मत्स्य न्याय की स्थिति व्याप्त हो जाएगी। अर्थात् जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, ठीक उसी प्रकार; शक्तिशाली लोग कमजोर (निर्बल) व्यक्तियों का शोषण करना प्रारम्भ कर देते हैं।[१७] इस समय सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए, समाज में विद्यमान अराजक तत्त्वों से शक्ति (सख्ती) से निपटने के लिए राजा द्वारा सशक्त दण्डनीति के पालन पर बल दिया गया। मत्स्य पुराण में दण्डनीति की आवश्यकता का वर्णन करते हुए कहा गया कि जो व्यक्ति लोकाचार से भ्रष्ट होकर लोक-आचरण के विपरीत कार्य करने लगता है, उसे रोकने का एक मात्र उपाय दण्ड है। अत: राजा के लिए अपराध की प्रवृत्ति के अनुपात में दण्ड देना आवश्यक है। यदि राजा पापी/अत्याचारी व्यक्ति को दण्ड नहीं देता है, तो उसे स्वयं पापी व्यक्ति के कुकर्मों का फल भोगना पड़ता है। मत्स्य पुराण के अनुसार, दण्ड को धारण करने वाला राजा धर्मपालक, महायशस्वी, जन समुदाय को आश्रय देने वाला, माननीय, पूजनीय एवं सबका मार्गदर्शक (गुरु) है। प्रजा की रक्षा करना ही उसका परम धर्म है।[१८] इसी ग्रन्थ में, एक अन्य स्थान पर, दण्डनीति के महत्त्व पर बल देते हुए कहा गया कि पापी/अपराधी व्यक्ति को धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार दिया गया दण्ड राजा को स्वर्गलोक तक पहुँचा सकने में समर्थ होता है। सशक्त दण्डनीति का प्रयोग करने वाला राजा संसार में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करता है। इस समय अपराध की प्रवृत्ति के हिसाब से राजा द्वारा दण्ड देने का विधान किया गया। इस समय सामान्य प्रवृत्ति वाले अपराध में साधारण दण्ड (अर्थदण्ड, अंग-विच्छेदन, शारीरिक दण्ड इत्यादि), जबकि गम्भीर प्रवृत्ति वाले अपराध में मृत्युदण्ड का प्रावधान किया गया था।[१८] मत्स्य पुराण के निर्देशानुसार, जो मनुष्य धर्मशास्त्र के हिसाब से मृत्युदण्ड पाने के अधिकारी हैं, राजा को उनका वध करने में बिलकुल भी संकोच नहीं करना चाहिए। इसी ग्रन्थ में, एक अन्य स्थान पर कहा गया कि जो व्यक्ति अपनी पुत्री, बहन या छोटे भाई की पत्नी (अनुज वधु) के पास कामबुद्धि से जाता है, राजा के लिए ऐसे दुष्ट व्यक्तियों का वध कर देना ही उचित है। राजा द्वारा दुराचारी व्यक्तियों का वध करने के अतिरिक्त; स्वयं भी परायी स्त्री के स्पर्श से बचना चाहिए। उसे कामासक्त स्वेच्छाचारी पुरुषों की संगति से भी दूर रहना चाहिए। उसे सत्पुरुषों का संग्रह एवं दुष्ट पुरुषों के निग्रह में सदैव तत्पर रहना चाहिए। राजा को धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट विधि से समय-समय पर तीनों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम) का पालन करना चाहिए। इसी ग्रन्थ में, एक स्थान पर राजा को चेतावनी

देते हुए कहा गया कि जो राजा धर्म, अर्थ व काम के लिए समय का समुचित विभाजन करके उचित समय पर न्यायोचित ढंग से उनका उपयोग करता है, वही श्रेष्ठ राजा है। परन्तु जो राजा धर्म व अर्थ को त्यागकर केवल काम का प्रयोग करता है, वह वृक्ष की अगली शाखा पर विश्राम करते हुए उस जीव की भाँति है, जिसकी आँखें धरती पर गिरने पर ही खुलती हैं।[१९]

जो राजा शत्रुओं का वध (संहार) एवं मित्रों के संग्रह में संलग्न रहकर उचित समय पर धर्म, अर्थ व काम का न्यायोचित विधि से प्रयोग करता है, वह धर्म का फल प्राप्त करता है। धर्म से राज, धन-सम्पत्ति व सुख की प्राप्ति होती है, जबकि अधर्म से मात्र कष्ट ही मिलता है। अत: सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिए राजा को सदैव धर्मयुक्त आचरण के साथ-साथ धर्म की रक्षा भी करनी चाहिए।[२०] इस समय शासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था। राजा द्वारा प्रजा की रक्षा करने के अतिरिक्त; जनमत (प्रजामत) का भी विशेष ध्यान रखा जाता था। जनकल्याण राजा की प्रथम प्राथमिकता थी। वह प्रजा को पुत्र की भाँति मानते हुए सदैव उनके सुख-दु:ख का पूरा ध्यान रखता था। उसके द्वारा प्रत्येक कार्य प्रजा के हित व प्रजा के कल्याण को ध्यान में रखकर ही किए जाते थे। मत्स्य पुराण की ही भाँति वाल्मीकि रामायण में राजा के दायित्वों का बोध कराते हुए कहा गया है कि प्रजाजनों की रक्षा के लिए यदि राजा को क्रूरतापूर्ण, क्रूरतारहित, पातकयुक्त (पाप युक्त) कार्य भी करना पड़े, तो उसे पीछे नहीं हटना चाहिए।[२१]

उपर्युक्त सभी वर्णनों से स्पष्ट है कि मत्स्य पुराण में प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप में, विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से, भारतीय राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत राजधर्म से सम्बन्धित उच्च कोटि के विचार प्राप्त होते हैं। राजा के लिए वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए प्रजा की रक्षा करना, प्रजा को पुत्र की भाँति मानते हुए उसके सुख-दु:ख का ध्यान रखना, प्रजा के कल्याण की कामना से कार्य करना, सशक्त दण्डनीति का पालन करते हुए धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट नियमों के अनुकूल व निष्पक्ष न्याय करना, शस्त्र का प्रयोग सदैव धर्म की रक्षा के लिए करना, उचित समय के हिसाब से एवं शास्त्रसंगत ढंग से धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थ का क्रमिक रूप से प्रयोग करना, शिक्षित व योग्य लोगों को उनकी योग्यता के अनुरूप उच्च पदों पर नियुक्त करना, विद्वान् मन्त्रियों से विचार-विमर्श के पश्चात् कार्य प्रारम्भ करना, दृढ़ प्रतिज्ञ होना, प्रजा के लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा करना, व्यक्तिगत हित की अपेक्षा राज्य हित/प्रजा हित को सर्वोपरि रखना, प्रजा हित के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपना सर्वस्व त्याग देने के लिए तत्पर रहना इत्यादि को राजधर्म के अन्तर्गत स्थान दिया गया। कुल मिला-जुलाकर, राजधर्म एक प्रकार से नैतिक आचरण व नियमों की संहिता थी, जिसका पालन करना राजा के लिए अनिवार्य था। राजधर्म की अवधारणा भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है, जिसका उद्देश्य राजा को निरकुंश होने से रोकने के साथ-साथ उसमें नैतिक व चारित्रिक गुणों का विकास करना तथा प्रजा का अधिकाधिक कल्याण करना था। चूँकि सामान्य प्रजा राजा का ही अनुकरण करती है, इसलिए राजा के व्यक्तित्व में इन गुणों का समावेश होना अनिवार्य माना गया। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि मत्स्य पुराण में राज धर्म का जो जनकल्याणकारी स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है, वही संशोधित व विकसित रूप में अग्नि पुराण के विभिन्न अध्यायों में भी दिखाई देता है।[२२]

निष्कर्ष– मत्स्य पुराण में राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत राजधर्म का विस्तृत, ज्ञानवर्धक व अनुकरणीय वर्णन प्राप्त होता है। राजधर्म का शाब्दिक अर्थ है– राजा का धर्म/कर्तव्य। मत्स्य पुराण के वर्णनानुसार, धर्मशास्त्रों में वर्णित विधि व न्यायोचित ढंग से शासन का संचालन करना, प्रजा को पुत्रवत मानते हुए, हर समय उसके कल्याण का भाव रखते हुए कार्य करना तथा आवश्यकता पड़ने पर जन-कल्याण के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने को तत्पर रहना ही एक राजा का प्रमुख

धर्म है। इस समय शासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था, परन्तु राजा द्वारा जनमत के साथ-साथ प्रजा की सुख-समृद्धि का भी ध्यान रखा जाता था। न सिर्फ राजा, बल्कि राज्य के महत्त्वपूर्ण सदस्यों (मन्त्रिगण, गुप्तचर, राजदूत इत्यादि) के द्वारा भी व्यक्तिगत हितों की तुलना में राज्य हित को प्राथमिकता दी जाती थी। इस समय प्रजा प्रत्येक दृष्टि से सुखी व सन्तुष्ट थी। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में आज भी जिस कल्याणकारी तथा आदर्श राज्य की अवधारणा को रामराज्य की संज्ञा दी जाती है, उसके बीज वैदिक ग्रन्थों-स्मृतियों, रामायण, महाभारत व अर्थशास्त्र के साथ-साथ मत्स्य पुराण में निहित हैं।

निश्चित रूप से; कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पौराणिक ग्रन्थों में एक 'मत्स्य पुराण' में प्रजा के कल्याण के उद्देश्य से वर्णित राजधर्म सम्बन्धी विचार प्राचीन काल में प्रासंगिक, उपयोगी व अनुकरणीय था, आज के वैज्ञानिक युग में भी यह प्रासंगिक एवं अनुकरणीय है तथा भविष्य में भी यह शाश्वत प्रासंगिक एवं अनुकरणीय रहेगा।

सन्दर्भ-सूची

१. महाभारत– शान्तिपर्व, ६३/२४-२५ २. वही– ६३/२९

३. ऋग्वेद– ५/४२/८-९; अथर्ववेद, २०/१२७/७; शतपथ ब्राह्मण, २/६/८, ५/१/५/१, १२/४/४/३, १३/१/१८-१९; ऐतरेय ब्राह्मण, ७/१७/८; रामायण, अयोध्याकाण्ड, २/६७/३५, महाभारत, शान्तिपर्व, ५९/३०, ६५/२९; मत्स्य पुराण, ३/१४-१६, २२६/१-३; मनुस्मृति, ७/३-४, शुक्रनीति, १/७/७३

४. (A)राजा के कर्त्तव्य एवं राजधर्म का वर्णन- मत्स्य पुराण, २१५/१-९९, २२०/१-४७
(B) राजकर्मचारियों का धर्म- मत्स्य पुराण, २१६/१-३८
(C) साम नीति (म.पु., २२२/१-१०), दाम नीति (म.पु., २२४/१-८, दण्ड नीति (म.पु., २२५/१-१८, २२७/१-६), भेद नीति (म.पु., २२३/१-६)
(D) सामान्य राजनीति का निरूपण– मत्स्य पुराण, २२६/१-१२

५. मत्स्य पुराण– २२६/४ ६. वही– २२६/५ ७. वही– २२६/७

८. वही– २२६/८ ९. वही– २२६/१०-१२

९. मनुस्मृति– ९/३०३-३१२ १०. अर्थशास्त्र– १/१९

११. मत्स्य पुराण– २२०/१-११

१२. वही– २२०/१२-२० १३. वही– २२०/२१-२९

१४. वही– २२०/३०-३६ १५. वही– २२०/३७-४०

१६. मत्स्य पुराण– २२०/४१-४२

१७. मत्स्य पुराण– २२५/९ १८. वही– २१५/६२

१८. मत्स्य पुराण– २२५/१-१८, २२७/१-२१४

१९. वाल्मीकीय रामायण– ४/३८/२०-२२

२०. मनुस्मृति– ८/१५; महाभारत, १३/१५३/३९

२१. वाल्मीकीय रामायण– १/२५/१८

२२. अग्नि पुराण– २२३/१-३३, २२४/१-३९, २२५/२-३३

●

व्याकरणिक स्फोट सिद्धान्त का ध्वनि सिद्धान्त पर प्रभाव

शिवानी[*]**, डॉ. सोहन आर्य**[**]

शोध-सार– भारतीय भाषावैज्ञानिक परम्परा में स्फोट सिद्धान्त मुख्यत: पाणिनीय व्याकरण-परम्परा तथा भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' में विकसित हुआ। स्फोट का तात्पर्य उस अखण्ड, अविभाज्य अर्थबोध से है, जो ध्वनियों के क्रमिक उच्चारण के पश्चात् एकाएक प्रकट होता है। ध्वनि (नाद) को इसमें अर्थ का वाहक नहीं, अपितु अर्थबोध को प्रकट करने का माध्यम माना गया है। ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार, शब्द अनेक वर्णध्वनियों से मिलकर बनता है और उन्हीं ध्वनियों के क्रम से अर्थ की उत्पत्ति होती है।

वैयाकरणों के अनुसार, शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो रूप हैं। दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है। इसी कारण स्फोट और ध्वनि, शब्द और अर्थ इकट्ठे रहते हैं। स्फोट यदि शब्द है, तो ध्वनि शब्द का गुण। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि व्याकरणिक स्फोट सिद्धान्त ने ध्वनि सिद्धान्त को नयी दार्शनिक दिशा प्रदान की तथा भारतीय भाषाविज्ञान में अर्थ और ध्वनि के सम्बन्ध को अधिक सूक्ष्म और गहन रूप में समझने का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रमुख शब्द : भारतीय परम्परा, संस्कृत व्याकरण, स्फोट सिद्धान्त, ध्वनि, शब्द-ब्रह्म, आचार्य भर्तृहरि, आचार्य पतञ्जलि, वाक्यपदीय।

प्रस्तावना– भारतीय परम्परा में वैयाकरणों के चरम लक्ष्य– शब्द-ब्रह्म– की प्राप्ति हेतु अजिह्म राजपद्धतिभूत व्याकरण का अन्यतम सिद्धान्त स्फोट है। यद्यपि आचार्य पाणिनि द्वारा कथित सूत्रों में पश्चाद्वर्त्ती व्याख्याकारों ने स्फोट सिद्धान्त को सिद्ध किया है, तथापि स्फोट का व्यवस्थित स्वरूप भर्तृहरि प्रणीत 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ में ही दृष्टिगोचर होता है। सामान्य दृष्टि से 'स्फुट विकसने' धातु से विकसित स्फोट शब्द 'स्फुटत्यर्थो अस्मादिति स्फोट:' अर्थात् जिससे अर्थ स्फुट होता है'– के रूप में प्रचलित है। स्फोट सिद्धान्त की वाचकत्व-निर्धारण में अत्यन्त महनीय उपयोगिता सिद्ध होती है। मीमांसक एवं नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत वर्ण एवं वर्णसङ्घात की वाचकता में दोष होने के कारण वैयाकरण स्फोट में वाचकता स्वीकार करते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र की व्याख्या में 'स्फोट: शब्द: ध्वनि: शब्दगुण:'[२] कहकर स्फोट को ही शब्द घोषित किया है।

महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने क्रिया, आकृति अथवा द्रव्य का शब्दत्व खण्डन करके पस्पशाह्निक में शब्द की निम्न परिभाषा दी है–

'येनोच्चरितेन सास्सालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्द:।'[३]

अर्थात् जो उच्चरित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकम्बल, पूँछ, खुरयुक्त गोव्यक्तियों का बोध कराता है, वह शब्द है। इस पंक्ति के माध्यम से महाभाष्यकार वैयाकरणों के प्रमुख सिद्धान्त स्फोट का वर्णन कर रहे हैं। यद्यपि यहाँ स्फोट शब्द का स्फुट नामोल्लेख नहीं है, तथापि शब्द की अन्य परिभाषा 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि: शब्द इत्युच्यते'– इसके द्वारा उपर्युक्त परिभाषा तथ्य की सिद्धि होती है। इस पङ्क्ति में ध्वनि को शब्द कहा गया है और यदि उपर्युक्त परिभाषा में भी ध्वनि को शब्द माना जाए, तो पुनरुक्ति दोष होगा। अत: प्रदीपादि टीकाओं के टीकाकार प्रथम परिभाषा में स्फोट वर्णन को स्वीकारते हैं। पदीय टीका के लेखक आचार्य कैय्यट महाभाष्यकार

* शोध छात्रा– संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

** सहायक आचार्य– संस्कृत विभाग, डी.पी.बी.एस. कॉलेज, अनूपशहर, उ.प्र.

द्वारा प्रदत्त परिभाषा में पठित 'उच्चारितेन' का अर्थ 'प्रकाशितेन' करते हैं, अर्थात् जो ध्वनियों के द्वारा प्रकाशित होकर किसी वस्तुविशेष का बोध कराता है, वही स्फोट शब्द है।

उच्चारितेन पद को स्पष्ट करते हुए उद्योतकार लिखते हैं–

'शारीरमारुताभिहतकण्ठादिस्थानैः वाऽवयवद्वारा अभिव्यक्तेन इत्यर्थः।'[४]

अर्थात् शरीर की प्राणवायु द्वारा अभिहत होने पर कण्ठादि उच्चारण स्थानों द्वारा अभिव्यक्त होने पर। यहाँ उद्योतकार स्फोट को व्यङ्ग्य एवं ध्वनियों को स्फोट का व्यञ्जक मान रहे हैं। इसके पश्चात् महाभाष्यकार ने द्वितीय शब्द-भेद ध्वनि को भी 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते'– इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट किया है।

वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि शब्दों के दो भेद–स्फोट एवं ध्वनि– को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

'द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते।।'[५]

वाचक शब्दों में प्रमुखतया दो शब्द शब्दविद् मानते हैं। प्रथम; ध्वनि शब्द, जो परिवर्तनीय है एवं द्वितीय; स्फोट शब्द, जो प्रत्यायकता एवं सार्थक है। वैयाकरणों के अनुसार, वास्तविक अर्थवत्ता स्फोट की है। वस्तुनिष्ठ सन्दर्भ में ध्वनि की अर्थवत्ता प्रातिनिधिक ही मानी जा सकती है। ध्वनि केवल स्फोट शब्द को प्रकाशित करने का कार्य करती है और इसकी उत्पति को स्फोट व्यावहारिक स्तर पर अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के लिए प्रेरित करता है। स्फोट की स्थिति वैयाकरण सदैव मानसिक स्वीकारते हैं। इस रूप में स्फोट को श्रोता या अन्य व्यक्ति तब तक नहीं समझ सकता है, जब तक इसका सम्प्रेषण स्फोट के व्यञ्जक ध्वनियों द्वारा न किया जाए। सामान्यतः स्थूलबुद्ध्या हम ध्वनि एवं शब्द में भेद नहीं कर पाते हैं एवं ध्वनि को ही तथ्य का प्रत्यायक मान लेते हैं।

'एको निमित्तं शब्दानाम्' को स्पष्टतर करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं कि– **'एको निमित्तं शब्दानाम्। यदधिष्ठानाः यदुपाश्रयाः यदाधाराः श्रुतयः प्रत्याय्यमर्थं प्रतिपद्यन्ते तस्य निमित्तत्वम्।'**[६]

अर्थात् जिसका आश्रय लेकर श्रुतियाँ प्रत्याय्य अर्थ को प्राप्त करती हैं, उन प्रत्याय्य अर्थों का अधिष्ठान ही निमित्त है और यह निमित्त स्फुट ही स्फोट है।

सदैव मानस अस्पष्ट स्फोट सभी शब्दों का निमित्त होता हुआ अन्य श्रुतियों का कारण कैसे हो सकता है? इसका समाधान भर्तृहरि ने अरणिस्थ ज्योति उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है। यथा– अस्फुट अरणिस्थ अग्नि प्रकाश को जन्म देकर उसका कारण बनती है, उसी तरह बुद्धिस्थ अस्फुट शब्द अन्य श्रुतियों का कारण बन जाता है–

'अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वत् शब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथग्।'[७]

स्फोट-विवेचन के पश्चात् ध्वनि सिद्धान्त पर इसके प्रभाव को यदि देखा जाए, तो ध्वनि सिद्धान्तवादियों ने वैयाकरणों के प्रति अपनी कृतज्ञता सहर्ष ज्ञापित की है। काव्यशास्त्र में काव्यात्म तत्त्वविचारणा में ध्वनि सिद्धान्त स्वतार्किकता एवं समर्थक आचार्यों के बाहुल्य के कारण प्रबल प्रतीत होता है। सामान्यदृशा महान् वैयाकरण भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित स्फोट सिद्धान्त एवं काव्यशास्त्रियों का ध्वनि सिद्धान्त पृथक् हो सकते हैं, परन्तु विशिष्टदृशा दोनों ग्रन्थों के विश्लेषणोपरान्त ज्ञात होता है कि दोनों सम्बन्धित हैं। दोनों का ही वर्ण्यविषय शब्दार्थविश्लेषण से सम्बन्धित है।

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनिकाव्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं–

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिःकथितः।।'[८]

प्रस्तुत कारिका में पठित 'सूरिभि: कथित:' पद को वृत्ति में स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं कि– **'सूरिभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्, ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।'**[९]

व्याकरणशास्त्र में शब्द की उपलब्धि श्रोत्र द्वारा होती है। जिस क्रम में शब्द श्रूयमाण होते हैं, उसी क्रम में नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है। स्फोट को पूर्व वर्ण से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से अन्तिम वर्ण की बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है।[१०] इस प्रकार, स्फोट रूप नित्य शब्द के अभिव्यञ्जक होने के कारण वर्ण ध्वनि पद से कहे जाते हैं।[११] यहाँ ध्वन्यालोककार ने वैयाकरणों के प्रति 'प्रथम हि विद्वांसो वैयाकरणा:' कहकर स्वकृतज्ञता ज्ञापित की है।

वाक्यपदीय में कथित उपर्युक्त भावों को ही आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन टीका' में लिखा है। व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि घण्टादि के शब्द पर अनुरणन रूप होता है और व्याकरण दर्शन में स्फोट वह शब्द है, जो स्थान, प्रयत्न आदि से वायु में संयोग या विभाग के द्वारा उत्पन्न होता है और उस शब्द से उत्पन्न होने वाले घण्टानुरणन रूप शब्द ध्वनि कहे जाते हैं। यहाँ लोचनकार ने वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका भी उद्धृत की है–

यथाह भगवान भर्तृहरि: –

'यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरूपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः।।'[१२]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैयाकरणों ने ध्वनि को स्वीकार तो किया, किन्तु यथाकिञ्चित् परिवर्तन के साथ स्व आवश्यकता के अनुरूप स्वीकार कर आचार्य अभिनवगुप्त की लोचन टीका में ध्वनि एवं नाद का वर्णन उपलब्ध होता है। वाक्यपदीय ग्रन्थ में स्फोट एवं ध्वनि के मध्य व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बध माना जाता है। ध्वनि व्यञ्जकों के द्वारा स्फोट व्यङ्ग्य प्रतीत होता है। जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा भी है–

'ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः।।'[१३]

इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध को आनन्दवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखा जा सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन इन दोनों व्यङ्ग्य-व्यंजक शब्दार्थों को यत्नपूर्वक जानने हेतु कहते हैं–

'यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।'[१४]

आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध को निम्न कारिका में भी देखा जा सकता हैं–

'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्।।'[१५]

इस तरह, स्फोट के व्यञ्जक को ध्वनि कहने वाले वैयाकरणों के भावों को अभिव्यक्त करते हुए काव्यालोचकों ने भर्तृहरि के कथन को भी उद्धृत किया है।

वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत स्फोट शब्द की तरह ध्वनि तत्त्व भी सूक्ष्म है। यथा शब्द तत्त्व का साक्षात्कार सभी को नहीं होता है, केवल शब्द ब्रह्म के उपासक ऋषि ही शब्द-तत्त्व का साक्षात्कार कर सकते हैं, तथैव ध्वन्यर्थ बोध भी सभी को नहीं हो पाता है। केवल शब्दार्थ के ज्ञानमात्र से

उसे नहीं जाना जा सकता है, उसके लिए सहृदय एवं काव्यार्थतत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है–

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।।'[१६]

व्याकरण में स्फोट शब्द के विशिष्ट संस्कार (व्याकरण प्रकृति-प्रत्ययादि प्रक्रिया) ही शब्द-ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। इसको साधुतया जानने वाला उस शब्द-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार, काव्यशास्त्र का भी अन्तिम उद्देश्य सहृदयमन: प्रीति एवं ब्रह्मास्वादसहोदर आनन्द की प्राप्ति ही है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन ने स्वसिद्धान्त को व्याकरण से यत्किञ्चित परिवर्तन कर स्वीकारा है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसका पूर्ण श्रेय भर्तृहरि को ही दिया है– **'भर्तृहरिणेदं कृतम्– यस्यायमौदार्यमहिमा ययास्मिञ्जास्त्रे एवंविधस्सारो दृश्यते तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेतदिति।'**[१७]

इस आधार पर यह सिद्ध होता कि ध्वनि सिद्धान्त वैय्याकरणों के स्फोट सिद्धान्त से प्रभावित है। स्वयं ग्रन्थकार एवं लोचनटीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त के इसे सप्रमाण सहर्ष स्वीकार किया है।।

सन्दर्भ-सूची

१. अष्टाध्यायी – १/१/७०
२. महाभाष्य – १/१/७०
३. महाभाष्य पस्पशाह्निक
४. महाभाष्य – उद्योत
५. वाक्यपदीय – १/४३
६. वाक्यपदीय वृत्ति – १/४३
७. वाक्यपदीय – १/४५
८. ध्वन्यालोक – कारिका – १३
९. ध्वन्यालोक वृत्तिभाग – पृष्ठ १२८
१०. नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।। वाक्यपदीय – १/८३
११. ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवदार्यते।
१२. वाक्यपदीय – १/१०१
१३. वाक्यपदीय – १/९६
१४. ध्वन्यालोक – १/८
१५. ध्वन्यालोक – ४/५
१६. ध्वन्यालोक – १/७
१७. लोचन टीका– १/९

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

१. ध्वन्यालोक: (अवधानटीकया संवलित:)– सं. डॉ. प्रदीप्त कुमार पण्डा, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, २०१५
२. ध्वन्यालोक: (लोचनसहित:)– व्या. आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७९
३. ध्वन्यालोक:– व्या. डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६३
४. ध्वन्यालोकदर्शनम्– प्रो. एन. लक्ष्मीनारायणभट्ट:, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय:, नव देहली, २०२४
५. महाभाष्यम्– व्या. युधिष्ठिरो मीमांसक:, रामलाल कपूर ट्रस्ट, हरियाणा, द्वितीय संस्करण, १९९२
६. वाक्यपदीयम्– चौखम्बा संस्कृत सिरीज ऑफिस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् २०२८
७. वाक्यपदीयम्– टी. वाचस्पति: सत्यकामो वर्मा, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७०
८. व्याकरण महाभाष्य– अनु. चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् २०२५

●

बस्तर की शिल्पकला का ऐतिहासिक अध्ययन
काष्ठकला के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. हेमलता बोरकर वासनिक*, डॉ. बंसो नुरूटी**

सारांश– भारतीय शिल्पकला का एक लम्बा इतिहास है, जो प्राचीन काल से अनवरत जारी है। ये कलारूप स्थानीय कारीगरों और शिल्पकारों की देन हैं, जिन्होंने अद्वितीय और आकर्षक डिजाइन बनाने के लिए प्राकृतिक सामग्रियों और पारम्परिक तकनीकों का उपयोग किया था। भारत के विभिन्न क्षेत्रों की शिल्पकला की अपनी विशिष्ट शैली है, जो भारतीय संस्कृति की विविधता को दर्शाती है। ये कलारूप पीढ़ियों से अनवरत जारी रहने के साथ-साथ भारत की सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। भारत का छत्तीसगढ़ राज्य विभिन्न कलाओं के लिए प्रसिद्ध है। राज्य के निवासियों के जनमानस में व्याप्त विचार, कला, परम्परा, जीवन-दर्शन व शैली– बहुरूपों में अभिव्यक्त होती है। यह समयानुरूप अभिव्यक्ति के विविध माध्यमों से प्रकट होती है। राज्य में लोककला, नृत्यकला, धातुकला, मिट्टीकला, काष्ठकला आदि का समृद्ध इतिहास रहा है। यहाँ के आदिवासी समाज में व्याप्त कलारूपों का जीवन, प्रकृति तथा संस्कृति से सीधा जुड़ाव होता है। वे अपने दैनिक जीवन तथा परिवेश में घटित घटनाओं को गीत, संगीत, कथा, कहानियों, भित्ति चित्र, पेंटिंग, काष्ठ नक्काशियों के माध्यम से व्यक्त करते आ रहे हैं। यहाँ के जनजातीय बाहुल्य बस्तर सम्भाग में काष्ठ पर की जाने वाली कारीगरी अपनी मौलिकता, रचनात्मकता, सुन्दरता तथा उपयोगिता के कारण देश-विदेश में लोकप्रिय है। यह काष्ठकला आदिवासी समुदाय की सदियों पुरानी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है, जो मुख्य रूप से जनजातीय जीवन-शैली, धार्मिक मान्यताओं और प्रकृति पर आधारित है। यह कला सागौन, साल, साजा, बीजा, देवड़ा, शीशम आदि वृक्षों की लकड़ियों पर देवी-देवताओं, स्थानीय संस्कृति, उत्सव, मुखौटे, गोटुल स्तम्भों में नृत्य, मृतक स्तम्भ और वन्य प्राणियों इत्यादि को उकेरकर अपनी जीवनशैली को दर्शाती है।

शब्द कुंजीः सांस्कृतिक, मौलिकता, अद्वितीय, मान्यता, अभिव्यक्ति।

भूमिका– बस्तर सम्भाग जनजातीय बाहुल्य क्षेत्र है। यहाँ गोंड़ तथा उसकी उपजातियाँ, जैसे– मुरिया, दंडामी माड़िया, अबुझमाड़िया, धुरवा, दोरला, हल्बा, भतरा, गदबा, परधान आदि जनजाति निवास करती हैं। घने वन, नदी, पहाड़ व घाटियाँ जनजातियों का आदिकाल से निवास-स्थल रहा है। इन जनजातियों की संस्कृति में वन तथा काष्ठ का अटूट सम्बन्ध है। सामुदायिक जीवन हो या पारिवारिक जीवन या व्यक्तिगत जीवन– प्रत्येक पक्ष में काष्ठ-निर्मित भौतिक संस्कृति की महती भूमिका रही है। काष्ठ-निर्मित भौतिक संस्कृति की अनेक सामग्रियों को सुन्दरता प्रदान करने के लिए उनमें विभिन्न प्रकार की कारीगरी की जाती है। यहाँ की गोंड़, मुरिया, दंडामी माड़िया, अबुझमाड़िया, धुरवा जनजातियों में काष्ठकला के प्रति विशेष लगााव

* प्रोफेसर– समाजशास्त्र एवं समाजकार्य अध्ययनशाला, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर, छ.ग.

** एसोसिएट प्रोफेसर– इतिहास अध्ययनशाला, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर, छ.ग.,
(भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (आईसीएसएसआर), नई दिल्ली से अनुदान प्राप्त)

दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान में बस्तर सम्भाग के मध्य, उत्तरी, पश्चिमी एवं पूर्वी भाग में काष्ठकला का कार्य अधिक किया जा रहा है। मुरिया तथा अबुझमाड़िया जनजाति के युवा गृह (गोटुल) के कलात्मक नक्काशी युक्त दरवाजे, खम्बे, पीढ़ा, कंघी, बालों में खोंचने वाले काष्ठ निर्मित पिन, तम्बाकू डिब्बी आदि काष्ठकला के बेहतरीन नमूने हैं। नक्काशीयुक्त काष्ठ निर्मित मृतक/स्मृति स्तम्भ दंडामी माड़िया जनजाति की कलाप्रियता को दर्शाता है, जिसमें मृत व्यक्ति के जीवन से जुड़ी घटनाओं व जनजातीय संस्कृति से जुड़े विभिन्न पहलुओं को नक्काशी कर उकेरा जाता है। इससे स्पष्ट है कि काष्ठकला जनजातीय जीवन का अभिन्न अंग है।[१]

साहित्य समीक्षा– सिंह, राजेन्द्र (२०१८)[२] 'ट्राइबल वुडन आर्ट : ए मोनोग्रॉफ स्डटी' में इन्होंने बस्तर सम्भाग के सात जिलों में प्रचलित काष्ठकला पर आधारित अध्ययन किया है, जिसमें गोटुल स्तम्भ, देवगुड़ी के द्वार, लकड़ी की कंघी और जनजातीय मुखौटों, गोटा, मृतक स्तम्भ आदि हैं। इन्होंने जनजातीय काष्ठकला में उपयोग किये जाने वाले औजारों का विस्तार से वर्णन किया है। इन्होंने इस अध्ययन में यह पाया कि बस्तर की अधिकांश जनजातियों ने प्राचीन काल से, अपनी आवश्यकतानुसार, दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुओं का निर्माण वनों से सुगमता से प्राप्त होने वाले वृक्षों के तनों से उपकरण निर्मित किया है।

सानिया (२०१९)[३], 'बस्तर की शिल्प-परम्परा : एक अध्ययन', रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर ने बस्तर अंचल की शिल्प-परम्परा का अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि आदिवासी ही यहाँ के प्रमुख तथा मूल आदिवासी हैं। प्राचीन काल से ही इस अंचल की हवा, पानी, पौधे, पहाड़ियों में पले-बढ़े आदिवासियों में भी बहुत अन्तर देखने को मिलता है। हर आदिवासी की अलग-अलग संस्कृति है। नाच-गाना, रहन-सहन, खान-पान, विश्वास-कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज आदि में भी बहुत भिन्नता देखने को मिलती है।

यहाँ, वास्तव में; माड़िया, मुरिया, परजा, गदबा, हलबा, धुरवा, राजगोंड़ एवं गोंड़ को ही आदिवासी माना जाता है। इन आदिवासियों की दिनचर्या अत्यन्त सरल है। यह दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ जंगल से प्राप्त करते हैं। उनकी आय का साधन कृषि, वनोपज, शिकार एवं मुर्गीपालन, पशुपालन एवं विभिन्न शिल्प-निर्माण भी है।

प्रताप, रीता (२०२२)[४], 'भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास'– लेखक ने इस ग्रन्थ को दो भागों में विभाजित किया है। ग्रन्थ के प्रथम भाग में भारतीय चित्रकला के अन्तर्गत भारत के विभिन्न क्षेत्रों की शिल्पकला का विस्तृत वर्णन है तथा द्वितीय भाग में; भारत में मूर्तिकला पर प्रकाश डाला गया है। इन्होंने भारत में आदिकाल से चित्रकला की जानकारी दी है, जिससे हमें चित्रकला के प्रारम्भिक दौर से वर्तमान तक के विकास को समझने में सहायता मिली।

शोध का उद्देश्य– शोध-पत्र का मुख्य उद्देश्य बस्तर की काष्ठकला का ऐतिहासिक अध्ययन करना है।

शोध-प्रविधि एवं क्षेत्र– काष्ठकला का ऐतिहासिक अध्ययन करने हेतु छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर सम्भाग की कांकेर, कोंडागाँव, नारायणपुर एवं बस्तर जिले का चयन किया गया। इन चार जिलों से काष्ठकला से सम्बन्धित तथ्यों का संकलन किया गया। काष्ठकला से सम्बन्धित प्राथमिक तथ्यों का संकलन काष्ठकला शिल्पियों एवं काष्ठकला व्यवसाय में संलग्न शासकीय व निजी संस्थाओं के व्यक्तियों/अधिकारियों तथा काष्ठकला से जुड़े व्यक्तियों से किया गया।

प्राथमिक तथ्यों के संकलन हेतु असहभागी अवलोकन प्रविधि का प्रयोग किया गया। इसके

साथ ही; काष्ठकला के निर्माण की फोटोग्रॉफी भी की गयी। काष्ठकला से सम्बन्धित द्वितीयक तथ्यों का संकलन ग्रन्थालय बादल जगदलपुर, ट्रायबल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट तूता नवा रायपुर, पं. सुन्दरलाल शर्मा ग्रन्थालय रायपुर से शोध-ग्रन्थों, शोध-पत्रिकाओं, शासकीय प्रतिवेदनों तथा विविध प्रकाशनों की पुस्तकों से किया गया।

काष्ठकला– बस्तर वनों से आच्छादित जनजातीय बाहुल्य क्षेत्र है। इसी वजह से यहाँ के निवासियों की जीवन-शैली, रहन-सहन तथा सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक जीवन पर पर्यावरण का गहरा प्रभाव है। यहाँ के वनों में इमारती तथा गैर इमारती प्रजाति के वृक्ष बहुतायत से पाये जाते हैं। जनजातीय समुदाय अपने परिवेश में व्याप्त वस्तुओं का उपयोग कर अपनी भौतिक संस्कृति का निर्माण करता है। वे जीविकोपार्जन हेतु मुख्यत: वनों पर निर्भर हैं।[५]

यह समुदाय वन से उपभोग हेतु कंद-मूल, फूल-फल, पत्तियाँ, बीज, मशरूम, साग-भाजी आदि का संकलन करते हैं। विक्रय हेतु लघु वनोपजों, दातौन, पत्तियाँ, फूल-फल, शहद, गोंद, जड़ी-बूटियाँ इत्यादि तथा दैनिक उपयोगी सामग्री निर्माण हेतु पत्ते, दातौन, बाँस, लकड़ी, झाड़ियाँ, घास-फूस, छाल आदि का संकलन करते हैं। इनमें से काष्ठ सबसे महत्त्वपूर्ण सामग्री है। यहाँ का व्यक्ति वनों के सान्निध्य में रहकर जीवन व्यतीत करता है तथा वह वनों के विभिन्न भागों का उपयोग अपने जीवन को सरल व सुगम बनाने के लिए करता है। इनके दैनिक जीवन में काष्ठ-निर्मित वस्तुओं की अधिकता है। इनका निर्माण व उपयोग जनजातीय समुदाय आदिकाल से कर रहा है, यथा– अनाज कूटने की ढेकी, ओखली-मूसर, तेल निकालने का पिटला/तेलासी, खेतों में जुताई का हल, कोदों जाता, धान मिजाई का बेलन, पानी निकालने का टेड़ा, विभिन्न प्रकार के औजारों का बेंट, बैलगाड़ी आदि हैं।[६]

चित्र क्रमांक-१

इस समुदाय ने काष्ठ-निर्मित अनेक वस्तुओं को सुन्दर, आकर्षक, रचनात्मक तथा कलात्मक स्वरूप में निर्मित किया हैं, जो उपयोगी होने के साथ-साथ कलात्मक भी हैं। यद्यपि वे विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की बारीकियों को नहीं जानते, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनकी कला में विशिष्टता नहीं है। काष्ठकला कलाप्रियता का परिचायक है तथा आदिकाल से मौलिक रूप में प्रचलित है। इनका निर्माण वस्तुओं को व्यक्तिगत पहचान प्रदान करने, मनोभावों को प्रकट करने, प्रस्थिति को दर्शाने के लिए तथा सामूहिकता के प्रतीक स्वरूप किया जाता है।[७] इनकी कला धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष

होने के साथ-साथ उपयोगितावादी तथा आलंकारिक– दोनों होती है, अर्थात् इनकी कला शुद्ध रूप से कलात्मक होती है।[८]

बस्तर में काष्ठकला का प्रचलन आदिकाल से है। मानव ने पत्थर के बाद लकड़ी को सबसे पहले अपनी सुरक्षा के लिए अपनाया। हथियार के रूप में यही लकड़ी धीरे-धीरे जीवनयापन का प्रमुख अंग बनती गयी, जिस पर उसने सुन्दर बेल-बुटे, फूल-पत्तियाँ आदि कला-कृतियाँ उकेरीं और हथियार में लगा रहने वाला यह लकड़ी का बेंत उनकी कलात्मक अभिरुचि बन गयी।[९]

काष्ठकला की परम्परा बहुत प्राचीन और समृद्ध है। लकड़ी में विभिन्न रूपाकारों को उतारने की कोशिश मनुष्य ने आदिम युग से शुरू कर दी थी। प्राचीन काल से ही लकड़ी (काष्ठ) का उपयोग सामान्य घरों के निर्माण के साथ-साथ विशालतम भवनों के निर्माण में होता रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि पाटलिपुत्र के मौर्यकालीन राजप्रासाद का निर्माण लकड़ियों से ही हुआ था। इस तथ्य की पुष्टि पुरातत्त्व विभाग की खुदाई के दौरान वर्तमान पटना शहर के पास लकड़ी के राजप्रासाद के अवशेष मिलने से हुई है। काष्ठकला का इतिहास आज से लगभग ३५०० वर्ष पुराना है। ऋृग्वेद काल के पहले से ही भारतीयों को काष्ठकला का ज्ञान था। वर्तमान बस्तर सम्भाग के जनजातीय लोगों ने आज भी काष्ठकला के महत्त्व को सँजोए रखा है। सम्पूर्ण बस्तर सम्भाग के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले जनजातीय समूह, जैसे कि गोंड़, मुरिया, माड़िया, भतरा, धुरवा, हल्बा एवं परजा जाति के लोग विभिन्न प्रकार के आर्थिक क्रिया-कलाप में संलग्न हैं। अधिकांश जनजातियों के जीविकोपार्जन का साधन लकड़ी तथा लकड़ी से सम्बन्धित हस्तकलाओं पर आधारित है। प्रथम दृष्टया जब हम बस्तर के लोगों के बारे में अध्ययन करते है, तब यह प्रतीत होता है कि बस्तर के जनजातीय लोग लकड़ी का उपयोग केवल भोजन बनाने के लिए जलाऊ लकड़ी के रूप में तथा अपने घरों के निर्माण हेतु करते हैं। किन्तु, यह वास्तविकता नहीं है। बस्तर के भोले-भाले आदिवासी लोग लकड़ी का उपयोग अपनी दैनिक आवश्यकताओं के अलावा विश्वस्तरीय काष्ठशिल्प अथवा हस्तशिल्प के निर्माण में भी करते हैं।[१०]

कंघी कला– बस्तर के ग्रामों में, विशेषकर गोंड़, मुरिया, माड़िया जनजाति बाहुल्य ग्रामों में काष्ठ की कंघियों का प्रचलन प्राचीनकाल से ही है। गोंड़, मुरिया, माड़िया महिलाओं को केशविन्यास का बहुत शौक होता है तथा वे जूड़े (खोपा) में काष्ठ निर्मित कंघी लगाती हैं।[११] हरिश्चन्द्र उप्रेती के अनुसार, छत्तीसगढ़ की माड़िया जनजाति में विभिन्न प्रकार की कंघियाँ बनाने की प्रथा है, जिसे प्रेम का प्रतीक माना जाता है।[१२] इन जनजातियों में काष्ठ के कंघी-निर्माण की विशेष महत्ता है, क्योंकि ये कंघियाँ

चित्र क्रमांक-२

इनके युवक 'चेलिक' द्वारा गोटुल की अपनी प्रिय महिला मित्र 'मोटियारी' को भेंट किया जाता है। इन कंघियों में काष्ठकला के उत्कृष्ट नमूने दिखाई देते हैं, जिन्हें काँच की मणियों और कौड़ियों से भी अलंकृत किया जाता है। युवतियाँ इन कंघियों को श्रृंगार के रूप में अपने जूड़े में खोंच कर रखती हैं।[१३] इन जनजातियों में कंघी को प्रेम का प्रतीक मानते हैं। मुरिया युवक अपनी प्रेमिका को स्वयं अपने हाथों से इस लकड़ी की कलात्मक कंघी को बनाकर भेंट करता है। जो युवक अपनी प्रेमिका को जितनी सुन्दर और कलात्मक कंघी भेंट करता है, वह उससे उतना ही अधिक प्रेम करने का प्रतीक माना जाता है। यह परम्परा आदिकाल से चली आ रही है।[१४]

काष्ठ-स्तम्भ– बस्तर की माड़िया, मुरिया जनजाति में किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की मृत्यु उपरान्त उसकी स्मृति में काष्ठ-स्तम्भ स्थापित करने की परम्परा है। ये काष्ठ-स्तम्भ विशाल वृक्ष के तने से बनाए जाते हैं, जो १२ से १५ फीट ऊँचे और ७ से ९ फीट मोटे होते हैं।

चित्र क्रमांक-३

चित्र क्रमांक-४

इन स्तम्भों पर आकर्षक नक्काशी की गयी है, जो जनजातीय गोत्र एवं टोटम से सम्बन्धित आकृतियाँ, जैसे– कच्छिम, बाघ, नाग, बोधमछली आदि उकेरी गयी है।[१५] गोटुल के स्तम्भ भी मुरिया जनजाति अपने आदिम अभिप्रायों के अनुरूप गढ़ते हैं। इस स्तम्भ पर विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों तथा आदिम स्मृतियों की आकृतियाँ बनायी जाती हैं।[१६]

गोटा या चुनौटी– मानव-जीवन में काष्ठ की उपादेयता से इंकार नहीं किया जा सकता, जिसने ग्रामीण अंचल को सबसे अधिक प्रभावित किया है। बस्तर के आदिवासियों में आम तौर पर तम्बाकू का सेवन किया जाता है। यहाँ की जनजातियाँ भी इसके सेवन की शौकीन होती हैं। इनके द्वारा तम्बाकू रखने के लिए काष्ठ से निर्मित एक पात्र होता है, जिसे 'चुनौटी' या 'गोटा' कहा जाता है। इसकी बनावट शंखाकार होती है, जिस पर बड़ी बारीकी से बेल-बूटे या अन्य कलात्मक नक्काशी की जाती है। कुछ चुनौटियों पर चाँदी या राँगे की नक्काशी भी की जाती है।

लाला जगदलपुरी[१७] के अनुसार, आदिवासी जनजीवन में चावल और नमक के बाद दो प्रमुख आवश्यकताएँ हैं– तूँबी और चुनौटी। चुनौटी, लकड़ी से बना शंकु आकार का एक लघुपात्र होता है, जिस पर तम्बाकू रखा जाता है। इस सन्दर्भ में, बस्तर की सम्पर्क भाषा हल्बी में एक लोकगीत प्रसिद्ध है–

चित्र क्रमांक-५

जाती जोन आय, पुन्नी भागेसे
आधा राती, पीता नींद ने जोगनी जागेसे
मोचो राजा, 'चुनटी' हाजली खिसी लागेसे।

अर्थात् चन्द्रमा जा रहा है, पूर्णिमा भाग रही है। आधी रात की कड़वी नींद में मेरे राजा, 'चुनौटी' खो गयी, खिसियाहट सी लग रही है।

मुखौटे व मूर्तियाँ- यहाँ के जनजातीय लोग काष्ठ के मुखौटे व मूर्तियाँ बनाते हैं, जिनकी विषयवस्तु में बाजार जाती हुई स्त्री, तालाब या नदी से पानी लेकर आती हुई स्त्री, माँ और उनकी गोद में शिशु, झूले पर विराजमान माता गुड़ी की देवी प्रतिमा आदि कलाकृतियाँ प्रमुखता में होती हैं। काष्ठ निर्मित मुखौटों का प्रयोग छेरता तिहार के अवसर पर युवकों द्वारा किया जाता है।[१८]

चित्र क्रमांक-६

चित्र क्रमांक-७ : माँ और शिशु

बस्तर दशहरा एवं काष्ठकला– बस्तर दशहरा एवं काष्ठकला का सम्बन्ध अपने आप में एक अनूठा उदाहरण है– काष्ठकला की भव्यता का। आदिवासी बाहुल्य बस्तर अंचल में दशहरा उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। इस उत्सव में बस्तर के आदिवासी तन-मन-धन से सहयोग करते हैं। सावन माह की अमावस्या को वन से लकड़ी का तना लाया जाता है और इसी दिन से उत्सव की तैयारी प्रारम्भ हो जाती है, जो लगभग ७५ दिनों तक चलती है।[१९] उद्घाटन के इस कार्यक्रम को 'पाट-जात्रा' कहा जाता है। जगदलपुर राजमहल परिसर के सिंहद्वार के सामने जंगल से लकड़ी लाकर उसकी विधि-विधान से पूजा-अर्चना की जाती है। इस लकड़ी के लट्ठे को 'टूरलू-खोटला' कहा जाता है।[२०]

चित्र क्रमांक-८ : आठ चक्के का रथ

चित्र क्रमांक-९ : चार चक्के का रथ

बस्तर की काष्ठ-कृतियों पर दृष्टिपात करने से 'बस्तर दशहरा' के समय निर्मित दो विशाल रथ अपनी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। इसमें से छोटा रथ, जिसे 'फूल रथ' कहा जाता है, वह चार पहियों का होता है और बड़ा रथ आठ पहियों का। फूल रथ लगभग ३० फुट ऊँचा, ३३ फुट लम्बा और १७ फुट चैड़ा होता है, जबकि बड़ा रथ लगभग ३३ फुट लम्बा, १७ फुट चौड़ा और ३५ फुट ऊँचा होता है। इस रथ पर चढ़ने-उतरने के लिए मजबूत एवं विशालकाय सीढ़ी का निर्माण लकड़ी से बना होता है। धार्मिक आस्था और परम्परा के अनुसार, यह रथ बस्तर अंचल की लोक-आराध्या देवी दंतेश्वरी को पूर्णतः समर्पित होता है। यह रथ पूर्णतः काष्ठ से निर्मित होता है, जिसके अलग-अलग हिस्से के निर्माण में अलग-अलग गाँव के ग्रामीण लगे होते हैं। इसके निर्माण में लगे ग्रामीण अपनी धार्मिक आस्था के कारण श्रमदान करते हैं। दशहरा पर दोनों रथों को ऊपर से नीचे तक, पारम्परिक रूप से सुसज्जित किया जाता है, जिसे मोटी एवं लम्बी रस्सी के सहारे खींचकर जगदलपुर शहर का भ्रमण कराया जाता है। दोनों रथ, सामूहिक सेवा-भाव और सहकारिता के श्रम से निर्मित एक काष्ठ-रचना है, जो बस्तर दशहरा के अवसर पर आज भी हमें देखने को मिल जाते हैं।[२१]

काष्ठ की अन्य कलाएँ– बस्तर की जनजातियों का काष्ठ-शिल्प के साथ एक विशिष्ट रिश्ता है। उनके अनुसार, सबसे बड़े देवता बूढ़ापेन का निवास साजा वृक्ष में होता है, इसलिए साजा वृक्ष उनके लिए आराध्य होता है। अपने कुलदेवता के आंगा का निर्माण भी साजा की लकड़ी से करते हैं।[२२] बस्तर की मुरिया जनजाति के लोग हाथी, घोड़ा, मानव आदि की मूर्तियाँ बनाकर देवताओं को अर्पित करते हैं।[२३]

इसके अतिरिक्त; काष्ठ की कुल्हाड़ियाँ और तीर-धनुष बनाए जाते थे। गोटुल में इस कला की शिक्षा दी जाती थी। कुल्हाड़ी और तीर-धनुष पर गरम लोहे से आकृतियाँ उकेरी जाती हैं।[२४]

जगदलपुर नगर काष्ठकला का केन्द्र-बिन्दु बन गया है। इसकी शुरुआत डासिंग कैक्टस नामक संस्था के अरुण गुहा ने की थी। आज यह कला व्यवसाय का रूप ले चुकी है। वर्तमान में लकड़ी के गणेश, महाभारत, गीता उपदेश मूर्ति, दशहरा के दृश्य, माड़िया नर्तक, जनजातीय जीवन-शैली की आकर्षक कृतियाँ, फर्नीचर में काष्ठकला को उकेरने की कला का प्रचलन है। बस्तर की मौलिक कृतियाँ लकड़ी पर बनी जीवन-शैली की कृतियाँ हैं, जिनकी माँग बढ़ती जा रही हैं। आम तौर पर यहाँ की काष्ठ-कृतियाँ सागौन की लकड़ी से बनती हैं।[२५]

काष्ठ-शिल्प का निर्माण सागौन, सिवना और हल्दू की लकड़ी पर किया जाता है, जिसमें

चित्र क्रमांक-१० : चलायमान देवी डोली

चित्र क्रमांक-११ : आंगादेव एवं डागपालो का स्नान पाटा

स्थानीय जनजातियों के साथ ही दूसरी जातियों के लोग भी लगे हुए हैं।[२६]

बस्तर की काष्ठकला, अंचल के ग्रामीण जीवन की विविधता को विस्तारपूर्वक अभिव्यक्त करती आ रही है। यहाँ का प्रत्येक आदिवासी अपनी जरूरतों के अनुसार गृहस्थ कामों के लिए बढ़ई का काम जानता है, जिससे समय-समय पर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।[२७]

उपसंहार– बस्तरिया काष्ठकला अपने आप में एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है, जिससे बस्तरिया संस्कृति की विविधता प्रदर्शित होती है। ये कलारूप पीढ़ियों से अनवरत जारी है तथा यह बस्तर की सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित करने में महत्ती भूमिका निभा रही है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि जनजाति अपनी कला के क्षेत्र में उतनी पिछड़ी हुई नहीं है, जितनी कि आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों में। उनकी कला का संस्कृति से अटूट सम्बन्ध होता है। वर्तमान में जनजातीय काष्ठकला व्यावसायिक रूप धारण कर चुका है। देश-विदेश में जनजातीय काष्ठ-शिल्प तथा फर्नीचरों से निर्मित जनजातीय काष्ठकला की माँग में लगातार वृद्धि हो रही है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ :

१. राजेन्द्र सिंह– जनजातीय काष्ठकला, आदिमजाति अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान, रायपुर, २०१८, पृ. ४

२. उपर्युक्त

३. सानिया– बस्तर की शिल्प-परम्परा : एक अध्ययन, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर २०१९

४. रीता प्रताप– भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, २०२२

५. राजेन्द्र सिंह– पूर्वोक्त, पृ. ५

६. राजेन्द्र सिंह– पूर्वोक्त, पृ. ५

७. हरिश्चन्द्र उप्रेती– भारतीय जनजातियाँ : संरचना एवं विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ

अकादमी, जयपुर, २००२, पृ. २५०
८. अर्पण- बस्तर के जनजातीय शिल्प, ओम प्रकाशन, दिल्ली, २०१६, पृ. १०७
९. बंसो नुरूटी– ''छत्तीसगढ़ की जनजातियों का सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास : बस्तर जिले की माड़िया जनजाति के विशेष सन्दर्भ में''; (१९वीं शताब्दी से वर्तमान तक), सर्वप्रिय प्रकाशन, नई दिल्ली, २०२३, पृ. २१७
१०. छबिराम साहू– जनजातीय हस्तकलाएँ : एक ऐतिहासिक अध्ययन (बस्तर के विशेष सन्दर्भ में), २०१२, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, पृ. ३७
११. राजीव रंजन प्रसाद– बस्तरनामा, यश पब्लिकेशन, दिल्ली, २०१८, पृ. १७८
१२. हरिश्चन्द्र उप्रेती– भारतीय जनजातियाँ : संरचना एवं विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, २००२, पृ. २५२
१३. निरंजन महावर– छत्तीसगढ़ की शिल्पकला, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१६, पृ. १०६
१४. अर्पण– बस्तर के जनजातीय शिल्प, ओम प्रकाशन, दिल्ली, २०१६, पृ. ११३
१५. निरंजन महावर– छत्तीसगढ़ की शिल्पकला, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१६, पृ. ८४
१६. अर्पण– बस्तर के जनजातीय शिल्प, ओम प्रकाशन, दिल्ली, २०१६, पृ. ११३
१७. विनय कुमार श्रीवास्तव एवं डॉ. आभा– संकलन एवं सम्पादन, बस्तर माटी की गूँज, इण्डियन प्रेस बुक्स, २०२०, पृ. ६०
१८. निरंजन महावर– छत्तीसगढ़ की शिल्पकला, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१६, पृ. ८७
१९. रामकुमार बेहार– ''बस्तर आरण्यक''; पृ. १७८
२०. विनय कुमार श्रीवास्तव एवं डॉ. आभा– बस्तर माटी की गूँज, एशियन प्रेस बुक्स, २०२०, पृ. ७७
२१. लाला जगदलपुरी– बस्तर : इतिहास एवं संस्कृति, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९९४, पृ. २४०
२२. निरंजन महावर– छत्तीसगढ़ की शिल्पकला, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, २०१६, पृ. ८७
२३. हरिश्चन्द्र उप्रेती– भारतीय जनजातियाँ : संरचना एवं विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, २००२, पृ. २५२
२४. अर्पण– बस्तर के जनजातीय शिल्प, ओम प्रकाशन, दिल्ली, २०१६, पृ. ११३
२५. ब्रजभूषण सिंह आदर्श– लेख- 'बस्तर का शिल्प-उत्सव', 'स्मारिका'; पृ. ५
२६. शिवअनुराग पटैरया– छत्तीसगढ़, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, २०१६, पृ. ९६
२७. लाला जगदलपुरी– बस्तर : इतिहास एवं संस्कृति, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९९४, पृ. २४२

●

खण्ड-ख : समाज और शिक्षा

कुल्लवी देव-परम्परा में पर्यावरण-चेतना

जगती पौट के सन्दर्भ में

मोहन लाल*

प्रस्तावना– मानव एक सभ्य प्राणी है। सभ्यता उसके आदर्श गुण एवं सुसंस्कृत जीवन का आधार है। प्रकृति इस सभ्यता का शृंगार है और प्रकृति के बिना इसका अस्तित्व असम्भव है। मनुष्य इस प्रकृति की सुन्दर रचना है, जिसके जीवन का केन्द्र प्रकृति ही है। इसके बाहर मनुष्य का जीवन निराधार है। पुरातन युग से ही प्रकृति और मानव का एक संतुलित एवं सामंजस्यपरक व्यवहार रहा है। वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में अनेक ऋषि-मुनियों द्वारा प्रकृति को भोग की वस्तु न मानकर उपासना एवं श्रद्धा के तुल्य स्वीकृत किया गया। परन्तु आज के सन्दर्भ में प्रकृति के प्रति यह श्रद्धा, उपासना और संतुलित व्यवस्था केवल न के बराबर रही है। निरन्तर मनुष्य स्वयं को सर्वसम्पन्न एवं सर्वग्राही मानकर प्रकृति का उपभोग किए जा रहा है, जो उसके पतन का मुख्य कारण बनता जा रहा है। वर्तमान समय में यह पर्यावरणीय संकट विश्व के समक्ष एक गम्भीर चुनौती है। अत्यधिक वनों की कटाई और विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों के अतिदोहन ने प्रकृति और मानव के सम्बन्धों को प्रभावित किया है। ऐसे समय में; पारम्परिक संस्कृतियों की पर्यावरणीय चेतना और लोक-संस्कार की पुनः व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

हिमालय भूखण्ड इस पर्यावरणीय ज्ञान एवं संतुलन का सजीव प्रमाण है। हिमालय के इस अंचल में बसा हिमाचल प्रकृति के सुन्दर शृंगार से सुशोभित अपनी विशाल देव संस्कृति के लिए परिचित है। इसी भूमि का एक सुन्दर अलंकरण कुल्लू, जिसे सुन्दरता का पर्यायवाची कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सुदर्शन वशिष्ठ अपनी पुस्तक 'व्यास की धरा' में कहते हैं– ''कुल्लू के सौन्दर्य को देखते हुए विदेशी पर्यटक कैलवर्ट ने अपनी पुस्तक 'The Silver Country and Wazirirupi of the Waziraz' में लिखा है कि कुल्लू घाटी अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए अत्यधिक विख्यात् है, जिसकी काश्मीर भी बराबरी नहीं कर सकता।''[१] इस सुन्दरता को बनाए रखते हैं– यहाँ के संस्कार, आदर्श, नैतिक मूल्य और विशेषकर यहाँ की देव-परम्परा। यह भूमि देवताओं की भूमि के नाम से भी जानी जाती है। प्रत्येक गाँव का अपना एक स्थानीय देवता है और उनके अपने-अपने नीति-नियम एवं सिद्धान्त हैं। उस क्षेत्र विशेष के सभी वन, जल, भूमि आदि उसी देवी-देवता के अधीन होते हैं। बिना देवी-देवता की अनुमति के उस विशेष क्षेत्र में पेड़ काटना, जल-दोहन एवं विकास के नाम पर प्राकृतिक क्षरण नहीं कर सकते। इन नियमों का पालन स्थानीय लोग बड़े ही सहज रूप से स्वीकार करते हैं, जो इस पर्यावरण संतुलित संस्कृति की सजीवता को परिभाषित करता है। यहाँ देवी-देवताओं को केवल धार्मिक सत्ता के रूप में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक व्यवस्था के संरक्षक के रूप में भी देखा जाता है। इस क्षेत्र विशेष में प्रकृति के विविध तत्त्वों में देवत्व का वास माना जाता है। यहाँ वृक्षों की पूजा, जल-स्रोतों का तीर्थीकरण तथा वनों की पूजा-वन्दना की जाती है। यहाँ बणशीरा देवता, जहल देवता, थान देवता

* शोधार्थी– हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला

एवं जोगनी (वन देवियाँ) आदि प्रसिद्ध देवी-देवता प्रकृति के संरक्षक के रूप में पूजे जाते हैं।

इसी पारम्परिक संस्कृति की देव-परम्परा में नगर स्थित जगती पौट एक विशिष्ट केन्द्र है– जो धार्मिक आस्था के साथ-साथ सामुदायिक निर्णय और सांस्कृतिक अनुशासन का प्रतीक है। विभिन्न देवी-देवताओं की उपस्थिति में होने वाली यह देव संसद कुल्लवी देव-परम्परा के अद्‌भुत देवतन्त्र की सामूहिक चेतना को व्यक्त करती है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य जगती पौट (दैविक संसद) के माध्यम से कुल्लवी देव-परम्परा में निहित पर्यावरण चेतना का अध्ययन करना है।

कुल्लवी देव-परम्परा : स्वरूप एवं पर्यावरण आधार – कुल्लू, जो वास्तव में; देवभूमि है। प्रत्येक गाँव-घाटी का अपना एक अधिष्ठाता देवता है, जो स्थानीय समुदाय विशेष के सांस्कृतिक जीवन को संचालित करता है। देवताओं की उत्पत्ति एवं यात्राओं का लोक-ज्ञान उनकी देव भारथाओं (गाथा) में गुर के माध्यम से सभी जनमानस के समक्ष वर्ष में एक बार विशेष पर्व-त्योहार के दिन सुनाया जाता है, जो इस देव संस्कृति की सजीवता का प्रमाण है। एक सम्पूर्ण देव-व्यवस्था के अन्तर्गत यह क्रिया संचालित की जाती है, जिसमें देवता के सभी काम-काज के लिए एक व्यवस्थित समिति बनायी जाती है, जिसमें मुख्यत: १. कारदार, २. नाइप कारदार, ३. गूर, ४. पजेरी, ५. धामी, ६. नीहर (सेवादार), ७. मण्ढारी, ८. बाज़दार (ढाउँसी) शामिल होते हैं। इन सभी करकुनों में मुख्य भूमिका गूर (चेला) की होती है। गूर वह माध्यम होता है, जिसके द्वारा देवता आम जनमानस से सम्वाद स्थापित करते हैं और उस देववाणी को सामूहिक रूप से स्वीकारा जाता है। प्रकृति के प्रति प्रत्येक देवी-देवताओं के अपने नैतिक नियम व अनुशासन स्थापित हैं। यहाँ देवी-देवता भी इसी प्रकृति के अंचल में किसी-न-किसी तत्त्व के रूप में अवतरित हुए हैं। अनेक महान ऋषियों ने भी इसी भूमि में अपने तप-ज्ञान को अर्जित किया है, जिसके प्रमाण प्रत्यक्ष रूप से आज भी उस विशिष्ट स्थान विशेष में मिलते हैं। वर्ष भर यहाँ देवी-देवताओं के आश्रय में अनेक प्राकृतिक उत्सव एवं पर्व आयोजित होते रहते हैं, जिसमें जौलाई पर्व (जौ की पूजा), रूहणी पर्व (धान रोपाई), शाख, सलाहर तथा बीठ (विरशु) जैसे उत्सव शामिल हैं। ये सभी उत्सव देवी-देवताओं की उपस्थिति में ही सम्पन्न होते हैं। घाटी के वन, नदी, पर्वत सभी किसी-न-किसी देवी-देवता का स्वरूप लिए हुए हैं। व्यास ऋषि की व्यास गंगा, माँ पार्वती की पवित्र धारा, गौमती तथा तीर्थन जैसी पवित्र रस धाराएँ इस भूमि की प्यास मिटाती हैं। अनेक देव वाणियाँ एवं पवित्र पर्वत यहाँ बणशीरा, जोगणियाँ तथा स्थानीय देवी-देवताओं के आश्रय में संरक्षित हैं। प्रकृति और देवतन्त्र का सामंजस्य यहाँ एक ऐसी विरासत को विकसित कर रही है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ प्रकृति और देवता की एक सत्ता है। एक साथ समान रूप से इस सत्ता की पूजा होती है और यही आम जनमानस का गणतन्त्र है, संविधान है, नीति-कानून है।

जगती पौट : स्वरूप, परम्परा और सांस्कृतिक भूमिका– नगर स्थित जगती पौट कुल्लू की देव-संस्कृति का एक अद्‌भुत अपूर्व धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थल है। 'जगती' शब्द का अर्थ न्याय और 'पौट' का अर्थ शिला (मूर्ति) के रूप में लिया जा सकता है। इसका सामान्य अर्थ– जगत के कल्याण हेतु देव संसद का आयोजन करना है। जगती शब्द की सही व्याख्या करते हुए रघुनाथ जी के छड़ीबरदार महेश्वर जी कहते हैं– ''जब कभी कोई आफ़त आ जाए, कोई अप्रिय घटना हो जाए और कोई Epidemic (महामारी) हो जाए, तब देवता स्वयं ही आदेश करते हैं कि आप हमारी संसद बुलाओ। इस जगती का दूसरा नाम है– Assambly।''[२] यह पवित्र स्थान कुल्लू की पुरानी राजधानी नगर में स्थित है। माँ त्रिपुरासुन्दरी के आश्रय में इस स्थान की पूजा-

अर्चना होती है। नगर कैसल नामक पैलेस के एक भव्य मन्दिर में जगती पौट को स्थापित किया गया है। इस जगती यानी देव संसद में कुल्लू के साथ-साथ मण्डी व लाहौल के देवी-देवता भी भाग लेते हैं। इसमें देवताओं के गूर व कारकुन देवता के सम्वाहक (प्रतिनिधि) के रूप में शामिल होते हैं और पूछ डालकर देव मत लिए जाते हैं। माता भगवती त्रिपुरासुन्दरी द्वारा इस जगती का संचालन किया जाता है। जब कोई अनहोनी हुई हो या होनी हो, तो सभी देवी-देवता गूरवाणी में संसद आयोजन हेतु आदेश देते हैं। माता हिडिम्बा द्वारा राज परिवार से रघुनाथ जी के छड़ी बरदार को इस जगती के आयोजन के लिए आदेश दिया जाता है और छड़ीबरदार तथा कारदार संघ सभी देवी-देवताओं को आमन्त्रण-पत्र प्रेषित करते हैं और जगती के दिन प्रातः रघुनाथ जी का धौड़छ आता है। इनके आगमन के पश्चात् ही यह सभा सुचारु रूप से शुरू की जाती है और इस सभा के निर्णय सर्वमान्य होते हैं।

जगती पौट– इस पवित्र शिला के सम्बन्ध में लोकमान्यता है कि– "नगर कैसल के इस जगती पौट मन्दिर के विषय में एक रोचक अपूर्व कथा है, जिसके अनुसार, संसार के समस्त देवी-देवताओं द्वारा मधुमक्खियों का रूप धारण कर अनादिकाल में जगती पौट शिला को भृगु तुंग पहाड़ी के एक छोटे भाग– द्राम ढाग, जो कि वाहँग के समीप है, से काटकर लाया गया तथा वर्तमान स्थान नगर में स्थापित किया गया। इसे समस्त देवी-देवताओं का सिंहासन माना जाता है तथा सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। सभी देवी-देवता इसका आदर करते हैं। नगर १४६० वर्षों तक कुल्लू के राजाओं की राजधानी रहा और यह कैसल उनका निवास स्थान था। यह शिला ५-८-६ आकार की है। आज भी प्राकृतिक आपदाओं अथवा अन्य संकट के समय एवं देवी-देवताओं से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने हेतु समस्त देवी-देवताओं के प्रतिनिधि गूर, पुजारी आदि अपने-अपने देवी-देवताओं के घंटी धौड़छ (धूप उठाने का पात्र) लेकर इस पवित्र स्थल पर एकत्र होते हैं। इस सभा का आयोजन कुल्लू राजपरिवार का प्रमुख देवी-देवताओं के आदेशानुसार करता है। कुल्लू स्थित राजमहल से अठारह करडु धड़छ मान-सम्मान सहित, परम्परा-अनुसार इस स्थल पर लाया जाता है, जिसकी अध्यक्षता में सभी देवी-देवता के उपस्थित गूर, देवता के प्रतिनिधि के रूप में अपने-अपने देवता की ओर से देववचन रखते हैं और इसी आधार पर हवन, पूजा-पाठ आदि का विश्व-कल्याण हेतु आयोजन किया जाता है।

कालान्तर में यह मन्दिर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। देवी-देवताओं के आदेशानुसार ही इस मन्दिर का पुनः निर्माण जिला कुल्लू, मण्डी, लाहौल एवं अन्य दानी सज्जनों के सहयोग से वैशाख प्र.१८, विक्रमी संवत् २०५६ को पूर्ण हुआ।"[३]

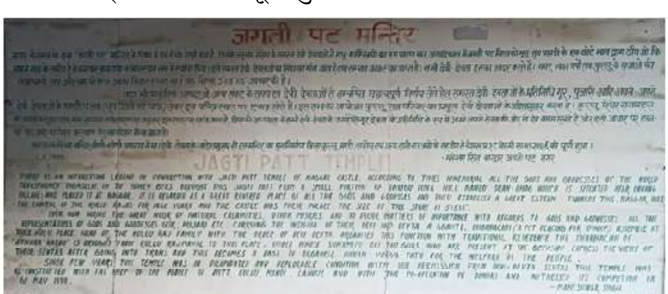

जगती पौट की यह सांस्कृतिक परम्परा प्राचीन समय से ही इस पहाड़ी देव समाज में चलती आ रही है। इससे पहले भी इस परम्परा का विधि-विधानो सहित निर्वहण होता आया है, परन्तु इससे सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री का अभाव है। लेकिन वर्तमान राजपरिवार के काल में जगतियों

का विस्तृत डाटा उपलब्ध है। जब भी कुछ भयावह अथवा अप्रिय घटना हो, तो हमारे देवी-देवताओं का चिन्तन इस जगती का कारण बन जाता है। इससे पहले जो जगतियाँ (देव सभाएँ) हुईं, उनके भी अपने-अपने कारण थे, जिनका विवरण निम्नलिखित सारणीबद्ध प्रस्तुत है–

क्र.सं.	**जगती वर्ष**	**देवी-देवता**	**कारण**	**निर्णय**
१.	२००६	लगभग ३५०	स्की विलेज प्रोजेक्ट	रद्द किया गया
२.	सितम्बर २०१४	लाहौल, मण्डी व कुल्लू	बलि-प्रथा रोक	सुचारु रूप से पुनः प्रारम्भ
३.	१४ जुलाई २०२१	स्थानीय देवता	कोरोना महामारी	यज्ञ-हवन
४.	२७ अगस्त २०२५	१४ देवी-देवता	अतिवृष्टि आपदा	बड़ी जगती का आदेश
५.	३१ अक्टूबर २०२५	लगभग २६०	प्राकृतिक आपदा	कुष्टु काहिका, पवित्र स्थलों के व्यवसायीकरण पर रोक

उपर्युक्त दिए गए विवरण से स्पष्ट होता है कि जगती के अनेक कारण हमेशा से ही इसे बल देते आ रहे हैं।

जगती २०२५ में निहित पर्यावरण-चेतना– ३१ अक्टूबर, २०२५ को सम्पन्न हुई बड़ी जगती देव सभा के अनेक विचारणीय निष्कर्ष स्पष्ट होते हैं। यह जगती सभी जगतियों से सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण रही। इस जगती के आदेश छोटी जगती से ही राजपरिवार को दिए गए थे। इस जगती में १८ करडु (१८ नाग, १८ नारायण) एवं ६४ जोगनियाँ सबका आह्वान किया गया। जगती तब तक सफल नहीं मानी जाती, जब तक नगर की भगवती त्रिपुरासुन्दरी एवं मलाणा के जमलू उपस्थित न हों। वर्ष २०२३-२४-२५ की भारी प्राकृतिक आपदा के कारण न केवल हिमाचल, बल्कि सम्पूर्ण भारत को अशेष हानि पहुँची, जिस कारण देवी-देवताओं ने इस संसद की पहल के लिए आदेश दिए और राजपरिवार के प्रमुख रघुनाथ जी के छड़ीबरदार महेश्वर सिंह और कारदार संघ के अध्यक्ष दानवेन्द्र जी के परामर्श से जगती २०२५ का आयोजन किया गया। सभी देवताओं द्वारा मानव को स्थिर और सन्तुलित होने की सलाह दी गयी। अतिवृष्टि एवं आपदा के कारण हम स्वयं हैं और मानव को ये समझना होगा कि प्रकृति सिर्फ उसके भोग की वस्तु नहीं, बल्कि उसके सहयोगी के रूप में निरन्तर उसका साथ देती आ रही है। यही इस जगती का भी अन्तिम निष्कर्ष है। जगती २०२५ के कुछ मुख्य निष्कर्ष एवं निर्णय निम्नलिखित हैं–

१. धार्मिक पवित्र स्थलों का व्यावसायीकरण बन्द करने का आदेश दिया गया। विभिन्न देवी-देवता के गूर द्वारा इस बात पर जोर दिया गया। गूर वाणी के बोल– 'जागाह नि रौही आसा बै'।

२. बिजली महादेव रोप वे का पूर्णतया विरोध किया गया। मनुष्य विकास के नाम पर अन्धाधुन्ध प्राकृतिक दोहन किए जा रहा है। इसका साफ तौर पर विरोध किया गया है।

३. १८ करडु री सौह में असमय खुदाई या निर्माण पर सख्त मनाही। आज मनुष्य स्वयं को बड़ा तथा प्रकृति और देवता को छोटा मान रहा है। पराशर ऋषि के गूर की गूरवाणी के शब्द– 'महाणु हुए बौड़े आसे हुए होछे'।[४]

४. गौ माता के अनाथ होने पर सभी देवी-देवताओं की गूरवाणी में पीड़ा स्पष्ट झलकी। उन्होंने मानव को सुधरने की सीख दी है और साथ ही चेतावनी भी दी है। माँ हिडिम्बा द्वारा साफ-साफ शब्दों में गूरवाणी की है कि– 'अभी तो सिर्फ एक लोटा दिया है।'[५]

५. जगती पौट नगर में यज्ञ-अनुष्ठान और ढालपुर में कुष्ठु काहिका को करवाने का आदेश दिया गया है और यह यज्ञ भगवान् राम के अश्वमेध यज्ञ जितना बड़ा होना चाहिए। मानव अगर नहीं सीखा, तो उसे इन यातनाओं से संघर्ष करना होगा।

यह जगती अपने आप में सबसे प्रसिद्ध एवं बड़ी रही है। राजा महेश्वर सिंह जी भी कहते हैं– ''ये सबसे बड़ी जगती है, जो मेरे जीवन काल में हुई।''[६]

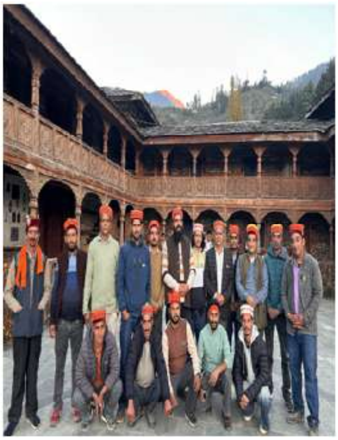

जगती (देव संसद) २०२५ के कुछ छायाचित्र

निष्कर्ष– कुल्लवी देव-परम्परा हिमालयी लोकजीवन की एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर है। इस पहाड़ी प्रदेश की खूबसूरती भी इसकी यही देव विशिष्टता है। देव भूमि के नाम से जाना जाने वाला यह जनपद धार्मिक रूप से, सामाजिक रूप से, सांस्कृतिक रूप से तथा पर्यावरण की दृष्टि से एक सन्तुलित, व्यवस्थित एवं सुसंस्कृत है। यहाँ प्रकृति को देवतुल्य पूजा जाता है, जो प्रकृति और संस्कृति के साथ सहअस्तित्व का सम्बन्ध स्पष्ट करता है। नगर स्थित यह जगती पौट इस विशिष्टता का एक उदाहरण है, जहाँ धार्मिक आस्था, सामुदायिक सहभागिता एवं सांस्कृतिक अनुशासन का जीता-जागता प्रमाण मिलता है। इस देव समाज में प्रकृति का पवित्रीकरण, देववाणियों की परम्परा और प्राकृतिक स्थलों के प्रति श्रद्धा तथा देव-अनुशासन पर्यावरण-सरंक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधुनिक समय में कुल्लवी लोक देवता-प्रकृति-मानव का त्रिकोण एक संतुलित व्यवस्था व सांझी विरासत को परिभाषित करता है। आज जब कुल्लू सहित सम्पूर्ण हिमाचल इस पर्यावरणीय असन्तुलन के संकट से जूझ रहा है, तब कुल्लवी लोक में निहित यह पर्यावरणीय देव-संस्कृति हमें स्पष्ट करती है कि प्रकृति के साथ सन्तुलन कैसे बनाया गया था और भविष्य में इसे पुनः कैसे स्थापित किया जा सकता है? अतः आवश्यक है कि कुल्लवी देव-परम्पराओं जैसी लोक सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का सरंक्षण किया जाए तथा उन्हें पर्यावरण-विमर्श के साथ जोड़ जाए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. सुदर्शन वशिष्ठ– व्यास की धरा, पृष्ठ १४७
२. महेश्वर सिंह– रघुनाथ छड़ीबरदार राज परिवार कुल्लू, साक्षात्कार
३. सूचना पट्ट– नगर स्थित जगती पौट मन्दिर, क्षेत्रीय सर्वेक्षण, छायाचित्र, अक्टूबर २०२५
४. गूर वाणी– गूर पराशर ऋषि, जगती पौट मन्दिर नगर, ३१ अक्टूबर २०२५
५. गूर वाणी– गूर हिडिम्बा, जगती पौट मन्दिर नगर, ३१ अक्टूबर २०२५
६. वही- महेश्वर सिंह, रघुनाथ छड़ीबरदार राज परिवार कुल्लू, साक्षात्कार

●

आधुनिक भारतीय लोकतन्त्र में
राजनीतिक दलों की बदलती भूमिका और चुनौतियाँ

डॉ. अरविन्द कुमार श्रीवास्तव*

सारांश– यह शोध-लेख आधुनिक भारतीय लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका, उनकी बदलती प्रकृति और उनके समक्ष उपस्थित प्रमुख चुनौतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भारतीय लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों का स्थान अत्यन्त केन्द्रीय रहा है। वे न केवल शासन की संरचना को निर्धारित करते हैं, बल्कि जनमत-निर्माण, नीति-निर्धारण और सामाजिक एकीकरण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किन्तु, समय के साथ-साथ इन दलों की कार्य-प्रणालियों में कई प्रकार के बदलाव देखे गए हैं। आज भारतीय राजनीतिक दल विचारधारा से अधिक सत्ता-प्राप्ति पर केन्द्रित होते जा रहे हैं। वंशवाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार, अपराधीकरण और आन्तरिक लोकतन्त्र की कमी जैसी प्रवृत्तियाँ लोकतान्त्रिक मूल्यों को कमजोर कर रही हैं। लेख में इन सभी पहलुओं पर विश्लेषणात्मक दृष्टि डाली गयी है तथा सुधार के कुछ ठोस सुझाव भी प्रस्तुत किए गए हैं।

मुख्य शब्द– राजनीतिक दल, लोकतन्त्र, भ्रष्टाचार, वंशवाद, अपराधीकरण, जातिवाद, चुनाव-सुधार, जनमत, आन्तरिक लोकतन्त्र, विचारधारा।

परिचय– भारतीय लोकतन्त्र विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्र माना जाता है, जहाँ विविधता, बहुलता और समावेशिता उसकी मूल विशेषताएँ हैं। यहाँ न केवल भाषाई और सांस्कृतिक भिन्नता है, बल्कि सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक विविधता भी गहराई से मौजूद है। इन जटिलताओं के बावजूद; भारत का लोकतन्त्र सात दशक से अधिक समय से सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है, जो स्वयं में एक अद्वितीय उदाहरण है। इस सफलता की पृष्ठभूमि में राजनीतिक दलों की निर्णायक भूमिका रही है, क्योंकि वे लोकतान्त्रिक व्यवस्था के 'कार्यशील अंग' (Functional Organs) के रूप में न केवल शासन की संरचना को संचालित करते हैं, बल्कि जनता की आकांक्षाओं और राज्य की नीतियों के बीच सेतु का कार्य भी करते हैं।

लोकतन्त्र की अवधारणा केवल मतदाता और मतदान तक सीमित नहीं है; बल्कि यह विचारों, मूल्यों और राजनीतिक भागीदारी की निरन्तर प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को संस्थागत रूप प्रदान करने का कार्य राजनीतिक दल करते हैं। जैसा कि मॉरिस ड्यूवर्जे ने अपने ग्रन्थ 'Political Parties : Their Organization and Activity in the Modern State' (1954 : 23) में कहा है– ''राजनीतिक दल लोकतन्त्र की आत्मा हैं; इनके बिना लोकतन्त्र मात्र एक यान्त्रिक व्यवस्था है।'' अर्थात् राजनीतिक दल लोकतन्त्र के प्राणतत्त्व हैं, जो राजनीतिक सामाजीकरण, नीति-निर्माण, शासन-निर्णय और जनमत-निर्माण की आधारशिला रखते हैं।

भारत में राजनीतिक दलों का उद्‌भव और विकास स्वतन्त्रता-आन्दोलन से गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, कम्युनिस्ट पार्टी, किसान सभा और समाजवादी संगठन जैसे दलों ने न केवल राजनीतिक चेतना का प्रसार किया, बल्कि औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध जन-आन्दोलन को भी दिशा दी। इन संगठनों ने जनता में

* सहायक आचार्य– राजनीतिशास्त्र विभाग, धनौरी पी.जी. कॉलेज, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

स्वतन्त्रता, समानता और अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न की। (सिंह, २०१५ : ४१)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत ने संसदीय लोकतन्त्र को शासन-प्रणाली के रूप में स्वीकार किया। संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (c) के अन्तर्गत नागरिकों को संघ बनाने का अधिकार मिला, जिससे राजनीतिक दलों की वैधानिक नींव मजबूत हुई। प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का राजनीतिक प्रभुत्व निर्विवाद रहा, जिसने देश को एक स्थिर राजनीतिक दिशा दी। किन्तु समय के साथ-साथ समाज में उत्पन्न विविध माँगों, क्षेत्रीय असमानताओं और आर्थिक परिवर्तन ने नए राजनीतिक दलों के उद्‌भव को प्रेरित किया। १९६७ के बाद से भारत में गठबन्धन राजनीति (Coalition Politics) का दौर आरम्भ हुआ, जिसने बहुदलीय लोकतन्त्र को नयी पहचान दी। (राय, २०१२ : ५८)

आज भारतीय राजनीति में २५०० से अधिक पंजीकृत राजनीतिक दल हैं (ECI, 2023), जिनमें से कुछ राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय हैं, जबकि अधिकांश क्षेत्रीय या स्थानीय स्तर पर कार्यरत हैं। इन दलों के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्ग– दलित, पिछड़े, किसान, महिला, अल्पसंख्यक आदि राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी सुनिश्चित कर रहे हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल भारतीय लोकतन्त्र की रीढ़ हैं, जो लोकतन्त्र को 'कार्यशील' और 'जीवन्त' बनाए रखते हैं।

हालाँकि बदलते समय के साथ इन दलों की भूमिका, स्वरूप और प्राथमिकताओं में व्यापक परिवर्तन आए हैं। प्रारम्भिक काल में जो दल विचारधारात्मक और राष्ट्र-निर्माण के आदर्शों पर आधारित थे, वे अब चुनाव-केन्द्रित रणनीतियों, मीडिया प्रबन्धन और वोट बैंक राजनीति के शिकार हो गए हैं। आज दलों के सामने सबसे बड़ी चुनौती है– जन-विश्वास की पुनर्स्थापना। वंशवाद, भ्रष्टाचार, अपराधीकरण, जातिवाद और आन्तरिक लोकतन्त्र की कमी जैसी प्रवृत्तियाँ दलों की साख को कमजोर कर रही हैं। (शर्मा, २०२१ : ९२)

भारतीय राजनीतिक दलों का विकास-क्रम– भारत में राजनीतिक दलों का विकास-क्रम भारतीय लोकतन्त्र की यात्रा के समानान्तर चलता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही देश में संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना हुई और राजनीतिक दल इस व्यवस्था की नींव बन गए। भारत के राजनीतिक दलों का इतिहास केवल सत्ता-प्राप्ति की कथा नहीं है, बल्कि यह समाज की राजनीतिक चेतना, सामाजिक परिवर्तन और संस्थागत परिपक्वता का दर्पण भी है।

स्वतन्त्रता के बाद प्रारम्भिक चरण (१९५०-१९६७) : एकदलीय प्रभुत्व का युग– स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने देश की राजनीति में प्रमुख भूमिका निभायी। कांग्रेस न केवल स्वतन्त्रता-आन्दोलन की धारा से निकला हुआ संगठन था, बल्कि वह राष्ट्रीय एकता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवादी योजना और लोकतान्त्रिक मूल्यों का भी प्रतिनिधि बन गया था। १९५२, १९५७ और १९६२ के आम चुनावों में कांग्रेस को क्रमश: ३६४, ३७१ और ३६१ सीटें प्राप्त हुईं, जो उसके राजनीतिक वर्चस्व का प्रमाण हैं (Election Commission of India, 1962 Report)। इस अवधि को 'कांग्रेस प्रणाली' (Congress System) कहा गया, जैसा कि राजनीतिक वैज्ञानिक, राजनीतिशास्त्री रजनीश कुमार ने वर्णित किया है– "यह वह दौर था, जब कांग्रेस केवल एक राजनीतिक दल नहीं, बल्कि 'राष्ट्रीय सहमति का मंच' थी।"

कांग्रेस के इस प्रभुत्व के पीछे कई कारण थे– स्वतन्त्रता-आन्दोलन में उसकी ऐतिहासिक

भूमिका, नेहरू का करिश्माई नेतृत्व, विपक्ष की विखण्डित स्थिति और जनता का शासन-प्रक्रिया के प्रति नया विश्वास। परन्तु इसी काल में विपक्षी दलों ने वैकल्पिक राजनीतिक दृष्टिकोण की नींव रखनी शुरू कर दी थी। समाजवादी दल, भारतीय जनसंघ (१९५१), भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (१९२५) और अन्य संगठनों ने विचारधारात्मक बहस को जीवन्त रखा।

द्वितीय चरण (१९६७-१९७७) : बहुदलीयता का उदय और राजनीतिक अस्थिरता– १९६७ का आम चुनाव भारतीय राजनीति का ऐतिहासिक मोड़ सिद्ध हुआ। इस चुनाव में कांग्रेस को ९ राज्यों में सत्ता से हटना पड़ा और पहली बाल विपक्षी दलों ने गठबन्धन बनाकर सरकारें बनायीं। इससे भारतीय राजनीति में बहुदलीय व्यवस्था की शुरुआत हुई (राय, २०१२ : ५६)। १९६९ में कांग्रेस का विभाजन हुआ– कांग्रेस (O) और कांग्रेस (I)– जिसने दलों के भीतर वैचारिक मतभेदों और नेतृत्व-संघर्ष को उजागर किया।

१९७५ में घोषित आपातकाल (Emergency) भारतीय लोकतन्त्र के लिए एक बड़ा संकट था। इस अवधि में नागरिक अधिकारों का हनन हुआ और विपक्षी नेताओं को जेल भेजा गया। किन्तु इस घटना ने जनता में लोकतन्त्र की महत्ता को और गहराई से स्थापित किया। १९७७ के चुनाव में जनता पार्टी का गठन हुआ, जिसने पहली बार कांग्रेस को पराजित किया और केन्द्र में गैर-कांग्रेसी सरकार बनी। इससे यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय मतदाता अब केवल एक दल पर निर्भर नहीं रहना चाहता, बल्कि वह विकल्प की राजनीति में विश्वास करने लगा है।

तृतीय चरण (१९८०-१९९०) : पुनः कांग्रेस का उभार और क्षेत्रीय दलों की तैयारी– १९७९ में, जनता पार्टी सरकार के विघटन के बाद, १९८० में कांग्रेस पुन: सत्ता में आयी। इंदिरा गाँधी और बाद में राजीव गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने तकनीकी आधुनिकीकरण और पंचवर्षीय योजनाओं को नया स्वरूप दिया। किन्तु इसी अवधि में क्षेत्रीय दल जनता के बीच मजबूत हुए। आन्ध्र प्रदेश में तेलुगू देशम पार्टी (टीडीपी), तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डीएमके) और ऑल इण्डिया अन्ना डीएमके (एआईएडीएमके), पंजाब में अकाली दल तथा असम में असम गण परिषद (एजीपी) जैसे दल उभरे। इन दलों ने यह स्पष्ट किया कि भारतीय राजनीति अब क्षेत्रीय अस्मिता, भाषा और स्थानीय मुद्रों पर आधारित होकर आगे बढ़ेगी।

चतुर्थ चरण (१९९०-२०१४) : गठबन्धन युग और राजनीतिक विविधता का प्रसार– १९९० का दशक भारतीय राजनीति में निर्णायक मोड़ लेकर आया। आर्थिक उदारीकरण (१९९१) ने राजनीतिक विमर्श को नए सिरे से परिभाषित किया। अब दलों के बीच विचारधारात्मक विभाजन घटा और सत्ता-साझेदारी (Power Sharing) की प्रवृत्ति बढ़ी। राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन (NDA) और संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन (UPA) जैसे गठबन्धन भारतीय राजनीति की नयी पहचान बने। भाजपा, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी, तृणमूल कांग्रेस जैसे दलों ने सामाजिक समूहों के हितों को केन्द्र में रखा। इस अवधि में दलों ने नीतिगत व्यावहारिकता अपनायी। समाजवाद, पूँजीवाद और क्षेत्रीयता के बीच संतुलन बनाते हुए उन्होंने गठबन्धन की राजनीति को लोकतान्त्रिक स्थिरता का आधार बना दिया।

पंचम चरण (२०१४ के बाद) : डिजिटल लोकतन्त्र और व्यक्तित्व-केन्द्रित राजनीति– २०१४ के बाद भारतीय राजनीति में एक नया चरण प्रारम्भ हुआ, जिसे 'डिजिटल

और नेतृत्व-केन्द्रित युग' कहा जा सकता है। भाजपा ने 'सबका साथ, सबका विकास' के नारे के साथ अभूतपूर्व जनादेश प्राप्त किया। इस काल में राजनीतिक दलों ने सोशल मीडिया, डेटा-विश्लेषण और प्रचार-तकनीक का अभूतपूर्व उपयोग किया। मतदाता से प्रत्यक्ष सम्वाद, ऑनलाइन अभियानों और मीडिया छवि-निर्माण ने राजनीति की दिशा बदल दी।

कांग्रेस और अन्य विपक्षी दलों के सामने संगठनात्मक पुनर्गठन की चुनौती उत्पन्न हुई। साथ ही; क्षेत्रीय दल अब भी अपने-अपने राज्यों में निर्णायक बने हुए हैं, जिससे बहुदलीय लोकतन्त्र की भावना जीवित है।

मुख्य चुनौतियाँ :

१. भ्रष्टाचार और धनबल का प्रभाव– भारतीय राजनीति में भ्रष्टाचार और धनबल का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है। चुनावों में उम्मीदवारों के चयन से लेकर मतदाताओं को प्रभावित करने तक, धन एक निर्णायक भूमिका निभा रहा है। एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स (ADR) की रिपोर्ट (२०२४) के अनुसार, लोकसभा के ५४३ सांसदों में से लगभग ४३% सांसदों पर आपराधिक मामले दर्ज हैं, जबकि ८८% सांसद करोड़पति हैं। इस प्रवृत्ति से स्पष्ट है कि राजनीति में अब पूँजी-आधारित प्रभाव बढ़ा है, जो समान अवसर और पारदर्शिता की भावना को कमजोर करता है।

राजनीति में धनबल के उपयोग के कारण गरीब और ईमानदार उम्मीदवारों के लिए चुनाव लड़ना कठिन हो गया है। राजनीतिक दल अब प्राय: उन्हीं उम्मीदवारों को प्राथमिकता देते हैं, जो चुनाव में अधिक धन खर्च कर सकते हैं। यह लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को 'धन के खेल' में परिवर्तित कर देता है। प्रो. योगेन्द्र यादव (२०२१) के शब्दों में– ''भारतीय लोकतन्त्र में चुनाव अब समान अवसर का संघर्ष नहीं, बल्कि असमान संसाधनों की प्रतिस्पर्धा बन चुके हैं।''

चुनाव आयोग और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा समय-समय पर पारदर्शिता के उपायों की सिफारिश की गयी है, जैसे उम्मीदवारों की सम्पत्ति और आपराधिक सामलों का सार्वजनिक खुलासा, परन्तु इनके कार्यान्वयन में अभी भी कई चुनौतियाँ हैं।

२. वंशवाद और परिवारवाद– राष्ट्रीय और क्षेत्रीय– दोनों स्तरों पर अनेक राजनीतिक दलों में नेतृत्व परिवार-केन्द्रित हो चुका है। कांग्रेस में नेहरू-गाँधी परिवार, समाजवादी पार्टी में मुलायम सिंह यादव परिवार, राष्ट्रीय जनता दल में लालू यादव परिवार, शिवसेना में ठाकरे परिवार और अकाली दल में बादल परिवार इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

वंशवाद का यह स्वरूप लोकतान्त्रिक प्रतिस्पर्धा को सीमित करता है, क्योंकि इससे प्रतिभा और योग्यता की तुलना में वंश को प्राथमिकता मिलती है। (कुमार, २०१९ : ७६) लोकतन्त्र की आत्मा 'समान अवसर' पर आधारित होती है, किन्तु परिवारवाद इस सिद्धान्त को चुनौती देता है।

३. जातिवाद और साम्प्रदायिकता– भारतीय समाज की विविधता राजनीति में परिलक्षित होती है, किन्तु जातीय और साम्प्रदायिक पहचान का अत्यधिक राजनीतिकरण लोकतन्त्र के लिए चुनौती है। अनेक बार राजनीतिक दल मतदाताओं को जातीय या धार्मिक आधार पर संगठित कर 'वोट बैंक राजनीति' अपनाते हैं। इससे न केवल सामाजिक विभाजन बढ़ता है, बल्कि नीति और विचारधारा गौण हो जाती है।

२०१४ और २०१९ के आम चुनावों में धार्मिक और सांस्कृतिक मुद्दों की बढ़ती भूमिका

इसका प्रमाण है। जातिवाद के कारण क्षेत्रीय दलों ने सीमित सामाजिक समूहों को केन्द्र में रखकर अपनी राजनीति को आकार दिया– जैसे बहुजन समाज पार्टी (दलित हितों पर केन्द्रित), समाजवादी पार्टी (ओबीसी राजनीति), राष्ट्रीय जनता दल (जातीय समीकरण आधारित)। (शर्मा, २०२१ : ८८)

इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप; नागरिकता, समानता और धर्मनिरपेक्षता जैसे सम्वैधानिक मूल्य कमजोर पड़ते हैं। चुनावी राजनीति का यह जातीय-साम्प्रदायिक स्वरूप नीति-आधारित राजनीति को हाशिए पर डाल देता है।

४. राजनीति का अपराधीकरण– भारतीय राजनीति में अपराधी तत्त्वों की भागीदारी गम्भीर चिन्ता का विषय है। ADR और National Election Watch (2924) की रिपोर्ट के अनुसार, ४३% सांसद और ३१% विधायक गम्भीर आपराधिक मामलों का सामना कर रहे हैं। यह प्रवृत्ति लोकतन्त्र के नैतिक आधार को कमजोर करती हैं।

Public Interest Foundation vs Union of India (2018) में सुप्रीम कोर्ट ने इस पर कठोर टिप्पणी करते हुए राजनीतिक दलों को यह अनिवार्य करने की सिफारिश की थी कि वे अपने उम्मीदवारों के आपराधिक रिकॉर्ड को सार्वजनिक करें। इसके बावजूद, राजनीतिक दल अपराधी छवि वाले उम्मीदवारों को चुनावी लाभ के लिए टिकट देना जारी रखते हैं। इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा खतरा यह है कि शासन व्यवस्था अपराधी प्रवृत्ति के लोगों के नियन्त्रण में आ सकती है, जिससे नीति-निर्माण, प्रशासन और न्याय-प्रक्रिया प्रभावित होती है। राजनीतिक अपराधीकरण लोकतन्त्र के लिए 'आन्तरिक दीमक' की तरह है, जो धीरे-दीरे उसकी विश्वसनीयता को नष्ट करता है।

५. आन्तरिक लोकतन्त्र की कमी– राजनीतिक दलों में लोकतन्त्र का अभाव एक प्रमुख संरचनात्मक समस्या है। अधिकांश दलों में नेतृत्व-चयन, नीति-निर्माण, उम्मीदवारों के चयन, और वित्तीय पारदर्शिता जैसे निर्णय शीर्ष नेतृत्व के हाथों में केन्द्रित रहते हैं। दलों के भीतर न तो नियमित चुनाव होते हैं और न ही पदाधिकारियों की जवाबदेही तय की जाती है।

भारतीय चुनाव आयोग (ECI Report, 2022) ने राजनीतिक दलों में आन्तरिक लोकतन्त्र को मजबूत करने के लिए कई सिफारिशें की हैं, जैसे–

– दलों के भीतर नियमित संगठनात्मक चुनाव
– लेखा-परीक्षा (Audit) की पारदर्शिता
– सदस्यों की भागीदारी सुनिश्चित करना।

फिर भी; अधिकांश दलों ने इन सिफारिशों को केवल औपचारिकता तक सीमित रखा है। इससे लोकतन्त्र के उस मूल सिद्धान्त पर आघात होता है, जिसके अनुसार सत्ता जनता की इच्छा से संचालित होनी चाहिए।

राजनीतिक विश्लेषक प्रभात पटनायक (२०२०) के अनुसार– ''जब दलों के भीतर लोकतन्त्र नहीं होता, तो लोकतन्त्र की बाहरी संरचना भी अन्ततः कमजोर पड़ जाती है।''

६. विचारधारात्मक अस्पष्टता– भारतीय राजनीति में विचारधारा अब 'लचीली' हो गयी है। सत्ता-प्राप्ति की प्रतिस्पर्धा में राजनीतिक दल गठबन्धन बनाते और तोड़ते हैं, जिससे उनकी नीति-दिशा अस्पष्ट होती जा रही है। यह प्रवृत्ति १९९० के दशक के बाद गठबन्धन युग में अधिक स्पष्ट हुई। दल वैचारिक आधार से अधिक सत्ता-समीकरणों पर निर्भर रहने लगे हैं।

उदाहरण के लिए, वामदलों का कांग्रेस के साथ या भाजपा का क्षेत्रीय दलों के साथ गठबन्धन बनाना– इस वैचारिक लचीलेपन का द्योतक है। (सेठी, २०२० : ४८) परिणामस्वरूप; मतदाताओं में भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है और लोकतन्त्र के प्रति विश्वास कमजोर होता है। विचारधारा का यह ह्रास लोकतान्त्रिक विमर्श को कमजोर करता है, क्योंकि राजनीति केवल सत्ता-प्राप्ति का साधन बन जाती है, न कि सामाजिक परिवर्तन का माध्यम। यह स्थिति नागरिक समाज और जनसंगठनों के लिए भी चुनौतीपूर्ण है, जो स्पष्ट नीति और वैचारिक दिशा की अपेक्षा करते हैं।

भारतीय लोकतन्त्र पर प्रभाव :

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ– धनबल, वंशवाद, जातिवाद, अपराधीकरण और आन्तरिक लोकतन्त्र की कमी– भारतीय लोकतन्त्र की गुणवत्ता पर गहरा प्रभाव डाल रही हैं। यद्यपि भारत अब भी विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है, परन्तु इन विकृतियों ने इसकी बुनियादी संरचना और नैतिक चरित्र को कमजोर किया है।

१. राजनीतिक उदासीनता और जनता का मोहभंग– भारतीय लोकतन्त्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि यहाँ स्वतन्त्र और नियमित चुनाव होते हैं। किन्तु पिछले दो दशकों में मतदाताओं, विशेषत: शहरी मध्यमवर्ग में, राजनीति के प्रति उदासीनता बढ़ी है। इसका मुख्य कारण राजनीतिक दलों में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व की कमी है।

राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन (NES, 2023) के अनुसार, शहरी क्षेत्रों में औसत मतदान ५८% तक सीमित है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह ७२% तक पहुँचता है। यह असमानता दर्शाती है कि शिक्षित और सम्पन्न वर्ग का राजनीति से विश्वास कम हुआ है।

राजनीतिक विश्लेषक **योगेन्द्र यादव (२०२१)** लिखते हैं कि– ''जब मतदाता यह महसूस करता है कि चुनाव से कुछ नहीं बदलेगा, तो लोकतन्त्र की आत्मा कमजोर पड़ने लगती है।'' यह प्रवृत्ति लोकतन्त्र की सक्रिय भागीदारी को सीमित करती है।

२. मतदान प्रतिशत में गिरावट और प्रतिनिधित्व की समस्या– मतदान प्रतिशत में गिरावट केवल राजनीतिक उदासीनता का संकेत नहीं, बल्कि प्रतिनिधित्व के संकट का भी प्रतीक है। जब आबादी का एक बड़ा हिस्सा मतदान-प्रक्रिया में भाग नहीं लेता, तो निर्वाचित सरकार, वास्तव में; पूरे समाज की इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

इलेक्शन कमीशन ऑफ इण्डिया (ECI, 2024) की रिपोर्ट के अनुसार, महानगरों– जैसे मुम्बई, दिल्ली, चेन्नई और बेंगलुरु में मतदान प्रतिशत ५०-५५% तक ही रहा है। यह लोकतान्त्रिक वैधता को चुनौती देता है।

विभिन्न वर्गों– जैसे महिलाएँ, अनुसूचित जनजातियाँ और युवा मतदाता– की भागीदारी बढ़ाने के प्रयास अवश्य हुए हैं, परन्तु राजनीतिक दलों द्वारा इन समूहों को वास्तविक प्रतिनिधित्व देने की प्रतिबद्धता अभी भी सीमित है।

३. राजनीतिक विमर्श का अवमूल्यन– लोकतन्त्र का मूल आधार नीति-आधारित बहस, वैचारिक विमर्श और जनहितकारी निर्णय हैं। किन्तु वर्तमान भारतीय राजनीति में विमर्श का स्तर लगातार गिर रहा है। संसद और विधानसभाओं में प्रश्नोत्तर, नीतिगत बहस और रचनात्मक आलोचना की परम्परा कमजोर पड़ी है।

मीडिया और सोशल मीडिया के प्रभाव में राजनीतिक विमर्श व्यक्तिगत हमलों, चरित्र-

हनन और भावनात्मक मुद्दों पर केन्द्रित हो गया है।

सिंह (२०२३-११२) के शब्दों में– ''भारतीय लोकतन्त्र की गुणवत्ता केवल चुनाव कराने से नहीं, बल्कि राजनीतिक दलों की जवाबदेही और पारदर्शिता से तय होती है।''

यह स्थिति लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सम्वाद की जगह टकराव और ध्रुवीकरण को जन्म देती है। परिणामस्वरूप; नीति-निर्माण का ध्यान दीर्घकालिक जनहित के बजाए तात्कालिक चुनावी लाभों पर केन्द्रित हो गया है।

४. मीडिया और सोशल मीडिया की भूमिका– मीडिया, जो लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ माना जाता है, आज राजनीतिक ध्रुवीकरण का माध्यम बन गया है। पारम्परिक समाचार माध्यमों (टीवी, अखबार) से लेकर सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म (X, Facebook, WhatsApp) तक, राजनीतिक प्रचार और जनमत-निर्माण की दिशा नियन्त्रित की जा रही है।

सोशल मीडिया ने जनता तक पहुँच आसान की है, परन्तु इसके साथ 'भ्रामक सूचना' (Misinformation), 'फेक न्यूज' और 'ट्रोल कल्चर' जैसी समस्याएँ भी बढ़ी हैं।

ऑक्सफोर्ड इण्टरनेट इंस्टीट्यूट (२०२२) की रिपोर्ट के अनुसार, भारत दुनिया के उन देशों में शामिल है, जहाँ डिजिटल प्रचार सबसे तीव्र है और सोशल मीडिया राजनीतिक ध्रुवीकरण को प्रभावित करने में सबसे अधिक सक्रिय है।

५. लोकतान्त्रिक संस्थाओं की विश्वसनीयता पर प्रभाव– जब राजनीतिक दल पारदर्शिता और जवाबदेही से विमुख होते हैं, तो उसके परिणामस्वरूप; लोकतान्त्रिक संस्थाओं– जैसे संसद, चुनाव आयोग, न्यायपालिका और मीडिया– की विश्वसनीयता पर भी प्रभाव पड़ता है। लोकतन्त्र के कार्यशील होने के लिए केवल चुनाव पर्याप्त नहीं हैं। इसके लिए सशक्त विपक्ष, स्वतन्त्र मीडिया और निष्पक्ष संस्थागत ढाँचा आवश्यक है। किन्तु वर्तमान परिदृश्य में संस्थागत स्वायत्तता पर राजनीतिक दबाव बढ़ता जा रहा है।

राजनीतिक समाजशास्त्री राजीव भार्गव (२०२०) के अनुसार, ''लोकतन्त्र तब खतरे में पड़ता है, जब राजनीतिक दल स्वयं को संविधान से ऊपर समझने लगते हैं।''

६. नागरिक समाज और युवाओं पर प्रभाव– राजनीतिक अविश्वसनीयता का असर नागरिक समाज और युवाओं की राजनीतिक भागीदारी पर भी पड़ा है। युवाओं का एक बड़ा वर्ग राजनीति को भ्रष्ट और अप्रभावी मानकर उससे दूरी बना रहा है। इससे लोकतन्त्र की ऊर्जा और नवीनता प्रभावित होती है। साथ ही; नागरिक संगठनों की आवाज को राजनीतिक और प्रशासनिक दबावों के कारण सीमित किया जा रहा है। लोकतन्त्र में जहाँ 'जनभागीदारी' आवश्यक तत्त्व है, वहीं यह प्रवृत्ति लोकतन्त्र को केवल औपचारिक प्रक्रिया में बदल देती है। इस प्रकार, आधुनिक भारत में लोकतन्त्र की मजबूती के लिए केवल संस्थागत सुधार पर्याप्त नहीं हैं; बल्कि राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली, आन्तरिक संरचना और जनसेवा की भावना में नैतिक पुनरुत्थान आवश्यक है।

निष्कर्ष– राजनीतिक दल किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था की आत्मा और संरचनात्मक रीढ़ होते हैं। वे न केवल शासन और प्रशासन के बीच सेतु का कार्य करते हैं, बल्कि जनता की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और विचारों को नीति-निर्माण में रूपान्तरित करने का माध्यम भी हैं। भारत जैसे विशाल, विविध और बहुसांस्कृतिक देश में राजनीतिक दलों की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि वे ही विभिन्न वर्गों, जातियों, भाषाओं और क्षेत्रों को एक

लोकतान्त्रिक सूत्र में बाँधने का कार्य करते हैं।

स्वतन्त्रता के बाद से अब तक भारतीय राजनीतिक दलों ने कई ऐतिहासिक भूमिकाएँ निभायी हैं, जैसे– स्वतन्त्रता-आन्दोलन की विचारधारा को जनतन्त्र में रूपान्तरित करना, समाजवादी नियोजन को साकार करना, आर्थिक उदारीकरण का मार्ग प्रशस्त करना और वैश्वीकरण के युग में भारत की राजनीतिक पहचान को पुनर्परिभाषित करना। किन्तु, वर्तमान परिदृश्य में ये दल कई आन्तरिक और बाह्य चुनौतियों का सामना कर रहे हैं, जिनमें वंशवाद, भ्रष्टाचार, अपराधीकरण, जातिवाद, विचारधारात्मक अस्पष्टता और आन्तरिक लोकतन्त्र की कमी प्रमुख हैं।

सहायक ग्रन्थ

१. भोला प्रसाद शास्त्री– भारतीय संस्कृति के तत्त्व, इंडियन पब्लिकेशन्स, भोपाल, १९८१, पृ. १३४

२. एस. राय (२०१२)– भारतीय राजनीति का समाजशास्त्र. दिल्ली : ओरिएण्टब्लैकस्वान

३. एम. जोशी (२०१८)– भारत में राजनीतिक दल और लोकतन्त्र. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन

४. ए. कुमार (२०१९)– भारतीय लोकतन्त्र और राजनीतिक सुधार, लखनऊ : सेज पब्लिकेशन

५. पी. शर्मा (२०२१)– लोकतन्त्र और राजनीतिक पतन, नई दिल्ली : प्रभात पब्लिकेशन्स

६. आर. सेठी (२०२०)– इंडियन पार्टी सिस्टम : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स

७. Election Commission of India (2022)– Report on Political Parties and Electoral Reforms, नई दिल्ली

८. Association for Democratic Reforms (ADR) Report-२०२४.

९. R. Singh (2023)– Democracy and Governance in India. New Delhi : Routledge.

१०. Public Interest Foundation vs Union of India– Supreme Court Judgment, 2018.

●

प्राचीन भारत में बौद्ध शिक्षण केन्द्रों के वित्तीय संसाधन

एक अध्ययन

डॉ. प्रदीप सिंह*

किसी भी राष्ट्र की प्रगति अधिकतर उसकी शिक्षा पर निर्भर करती है। उसके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय प्रयास तथा विकास उसकी जनशक्ति पर आधारित है। जनशक्ति शिक्षा को संगठित करती है, उसे राष्ट्र की सेवा में विनियुक्त करती है।[१] प्राचीन भारत में शिक्षा धर्म से पूरी तरह प्रभावित थी। शिक्षा शिक्षक, शिक्षार्थी तथा समाज का सम्मिलित उपक्रम थी। बौद्धकाल में शिक्षा, संस्थागत रूप ले चुकी थी। पूर्व शिक्षा-पद्धति की तरह ही, शैक्षिक संस्थाओं की तरह सहायता देने की पद्धति अब किसी काम की नहीं रही। बौद्ध-विहारों और मठों में हजारों विद्यार्थी व शिक्षक रहते थे और यदा-कदा दिया गया धन, उपहार या दान उनकी प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य नहीं रहा। वृहत्तर धनराशि की आवश्यकता की पूर्ति विभिन्न राजाओं, समाज, उपहार, शुल्क व धर्मस्थ द्वारा हुई। बौद्ध शिक्षा संस्थाओं के वित्त-प्रबन्ध के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया जाना यहाँ उपयुक्त रहेगा।

१. राज्य– अशोक बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा राजाश्रयदाता था। सारनाथ में एक खण्डित स्तम्भ मिला है। उसके अनुसार, जो बौद्ध संघ की एकता को तोड़ना चाहे, उन्हें बहिष्कृत कर दिया जाए।[२] बौद्ध काल में शिक्षा को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। अशोक ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में अनेक मठ, भिक्षुणियों के संघ तथा प्रस्तर-लेख स्थापित कर शिक्षा की सहायता की। उसने काश्मीर में पाँच सौ मठ बनवायें, जिनमें से ह्वेनसांग ने सौ देखे थे[३] और औ-कांग ने तीन सौ।[४] मिलिन्दपन्हों से ज्ञात होता है, जो विशेष प्रशिक्षित नवशिल्पी थे, राजा से मिलने पर राज्य से उनको बहुत उदार प्रोत्साहन मिलता था।[५] उत्तर व मध्य भारत में सातवहान, शक और कुषाण राजाओं ने अनेक बौद्ध मठ बनवाये। कनिष्क विद्वानों का बड़ा आदर करता था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् नागार्जुन, अश्वघोष, वसुमित्र और प्रख्यात् वैद्य चरक को उसका संरक्षण प्राप्त था। गुप्त राजाओं में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रसिद्ध विद्वानों के महान संरक्षक थे। वसुबन्धु हरिषेण और कालिदास भी गुप्तकाल में ही हुए थे। गुप्तकाल को 'स्वर्णकाल' कहा जाता है। प्रसिद्ध नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना भी इसी युग में, कुमारगुप्त के शासनकाल में हुई। नालन्दा को पाँच सौ सौदागरों ने दस कोटि मुद्रा में खरीदकर भगवान् बुद्ध को दिया था।[६] महाराजगुप्त ने पाँच सौ वर्ष पूर्व चीन के तीर्थयात्रियों नरसिंहगुप्त के लिए चौबीस ग्राम दान में दिये।[७] गुप्त राजाओं– कुमारगुप्त तथा तथागतगुप्त, नरसिंहगुप्त और बुद्धगुप्त ने नालन्दा विश्वविद्यालय को दान मत में बहुत से गाँव दिये थे।[८]

बाणभट्ट के अनुसार, विद्वान् सम्राट हर्ष ने विद्वानों की सहायता की और अपने राज्य की यह नीति बना ली कि सम्राट की भूमि से प्राप्त राजस्व का चतुर्थांश उच्च बौद्धिक ख्याति के लिए पारितोषिक रूप में दिया जाए और दूसरा चतुर्थांश विभिन्न वर्गों को दान दिया जाए।[९] 'जातकमाला' की रचना उसके प्रोत्साहन का ही फल है। ह्वेनसांग के सभापतित्व में कन्नौज में

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर– प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, तिलकधारी पी.जी. कॉलेज, जौनपुर (उ.प्र.)

एक महासभा का आयोजन हर्षवर्धन ने किया। इस सभा की समाप्ति पर ह्वेनसांग को दस हजार सोने की मुद्राएँ, तीन हजार चाँदी की मुद्राएँ और सैकड़ों बहुमूल्य वस्त्र उपहार में दिये। सभा में उपस्थित अनेक राजाओं ने भी मूल्यवान रत्न भेंट किये। ह्वेनसांग ने उपहार स्वीकार नहीं किये। उपहार में प्राप्त धन सम्राट हर्ष ने स्वर्ण की बुद्ध मूर्ति के साथ संघाराम को दान दे दिया।[१०]

इसी प्रकार, प्रयाग महोत्सव के विषय में इतिहासविद् आर. सी. मजूमदार ने इस प्रकार लिखा है– ''दोनों नदियों के संगम के पश्चिम की ओर एक बहुत बड़ा मैदान था, जो 'दानस्थल' कहा जाता था। अतीत काल से भारत के विभिन्न भागों के राजा वहाँ दान देने के निमित्त बहुधा आते थे। वहाँ सम्राट हर्षवर्धन ने अपनी सारी सम्पत्ति लाकर रख दी और दान देने का काम शुरू हुआ। यह कार्य तीन मास तक चलता रहा।''[११] हर्षवर्धन ने ह्वेनसांग को 'विधि पारंगत' की उपाधि से विभूषित किया तथा दस हजार स्वर्ण मुद्राएँ, तीस हजार रजत मुद्राएँ और एक सौ सुन्दर वस्त्र भी दिये। इसके अतिरिक्त; अठारह राज्यों के राजकुमारों ने भी अमूल्य रत्न ह्वेनसांग को दिये। जयसेन के बहुमुखी ज्ञान से हर्ष इतना प्रभावित हुआ कि उड़ीसा के अस्सी बड़े-बड़े गाँवों का राजस्व उसे प्रदान करना चाहा। शिक्षा के लिए हर्ष के दान से दूसरे राजा इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने शिक्षा व ज्ञान के लिए अपने कोष खोल दिये।[१२] विद्यार्थियों को शिक्षा शुल्क व अन्य व्ययों के लिए छात्रवृत्तियाँ दी गयीं। विद्यार्थीगण राजा के साथ शिक्षा केन्द्रों में जाते थे और उनका पूरा व्यय राजकीय कोष से दे दिया जाता था।[१३]

प्रसिद्ध लेखक पी. वी. बापट ने 'बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष' में लिखा है– ''जो राजा बौद्ध धर्म का विकास चाहता था, वह बौद्ध विहारों, मठों व विद्यालयों को ग्राम या ग्राम संघ का सारा लगान अनुदान के रूप में देता था। विहार व मठों की जमीन, भवन आदि भी अमीर व्यक्तियों द्वारा दान के रूप में की गयी थी। जब राजा भिक्षु संघ या मठ विहार को दान देता था, तब वह अपना मुकुट उतारकर आदर व्यक्त करता था और अपने रिश्तेदार व मन्त्रियों के साथ भिक्षुओं को अपने हाथों से खिलाता था। जनता भी भिक्षु संघों को मुक्त हस्त से दानस्वरूप धन, अनाज, वस्त्र व अन्य चीजें देती थी।''[१४] उन दिनों उच्च विद्या केवल विहारों में ही मिल सकती थी। इस प्रकार, प्रबल राजाश्रय के कारण बौद्ध शिक्षा संस्थाओं, मठ व विहारों को अत्यधिक सहायता के कारण वित्त सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं हुई तथा इनका उत्तरोत्तर विकास होता गया। ज्ञान के क्षेत्र में नये विकास, अनुसंधान तथा शोध-कार्य हुए और शिक्षा की उत्तरोत्तर प्रगति होती गयी। शिक्षा संस्थाओं के लिए बड़े-बड़े दान इस काल की विशेषता है। राजा शिक्षा के केन्द्र बनाते थे और उनको बहुत दान देते थे। ह्वेनसांग लिखता है कि– ''एक के बाद एक, मगध के छ: राजाओं ने नालन्दा के मगध विश्वविद्यालय के निर्माण में सहयोग दिया। देश का राजा पण्डितों का आदर करता और पारितोषिक देता है। लगभग एक सौ गाँवों के राजस्व को विद्यालय के धर्मस्व के लिए दे दिया है।''[१५] नालन्दा मठ के पास ही हर्ष ने भी एक विहार बनवाया, जो पीतल की चादर से मढ़ा गया था। इत्सिंग ने लिखा है कि– ''नालन्दा विश्वविद्यालय के पास बहुत धन था। दो सौ से अधिक ग्रामों का राजस्व उसे मिलता था। यह एक ऐसा धर्मस्व था, जिसके लिए मठ कई पीढ़ियों के राजाओं की दानशीलता के आभारी थे।''[१६] राज्य, समस्याओं के विचारार्थ, मनोरंजक प्रतियोगिताएँ आयोजित करता था और कवियों की रचनाओं की परीक्षा के लिए सभाएँ आयोजित की जाती थीं। जो सबसे अधिक अच्छे समझे जाते थे, उनको राजा उदार पारितोषिक देते थे। बौद्ध युग में अधिकांशत: जिन तरीकों से शिक्षा को संरक्षण प्राप्त था, वे संक्षेप में; निम्न हैं–

१. शिक्षकों व विद्वानों को जमीन व सेवावृत्ति देना।
२. राजकीय सेवाओं के लिए योग्य व्यक्तियों को अधिकारी नियुक्त करना।
३. विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देना।
४. जीवन प्रारम्भ करने के लिए विद्यार्थियों को धन से सहायता करना।
५. विद्यार्थियों के लिए समय के नियम उदार बनाना।
६. गरीब ब्राह्मण व विद्यार्थियों को कर से मुक्त करना।
७. विद्यालयों को बहुत अधिक दान देना, जिससे खर्चे पूरे किये जा सकें।
८. विद्वत् बस्तियाँ बनाना व राज्य के आर्थिक दायित्व पर व्यक्तियों को वहाँ स्थायी रूप से रखना।

यह सब राजकीय संरक्षण बिना किसी शर्त के था। शिक्षक व संस्थाओं पर कोई राजकीय प्रतिबन्ध नहीं था। वे पूर्ण स्वतन्त्र थे। राजा राजकीय नीति के लिए उनसे कोई अपेक्षा नहीं करते थे। गुप्त वंश का राजा नरसिंह बालादित्य जब नालन्दा विश्वविद्यालय में भर्ती हुआ, तो उसने विहार के लिए अपने दान के बदले में विश्वविद्यालय के परम्परागत वरिष्ठता के नियमों में ढील चाही, लेकिन भिक्षुओं ने उसकी इस असंगत माँग को अस्वीकार कर दिया। राजा की आज्ञा न मानने पर भी संस्था के लिए राजकीय संरक्षण का कोई खतरा नहीं था। राज्य अनुशासन के बारे में बीच में पड़ सकता था,[१७] लेकिन वह सदैव उदारता के पक्ष में ही रहता था और अनुचित कठोरता को घटाने की कोशिश में होता था। यह कभी-कभी गुरु व उनके शिष्य के बीच में स्वीकार-पत्र की शर्तें तय करने में सहायक होता था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि लोग विद्वानों को दी जाने वाली सहायता को सर्वश्रेष्ठ उपहार के रूप में देखते थे। ज्ञानी पुरुष को दिया जाने वाला दान शाश्वत है। उत्तराधिकारी न होने की स्थिति में; मृत्यु होने पर मरने वाले की सम्पत्ति ज्ञानी पुरुष ले लेते थे। उन लोगों को नमक व अन्य खाने की सामग्री पर कर नहीं देना पड़ता था और पूजा के लिए फल, फूल, चावल व जौ बिना कीमत के प्राप्त होते थे। इस प्रकार, शिक्षा को समाज का सहयोग मिलता था। धनी लोग जितना अधिक दे सकते थे, देते थे और निर्धन भी शिक्षा के लिए अपनी आय का शक्तिशाली अल्पांश दान कर देते थे। नि:शंक सामन्त, अर्थकामी महाजन और लुटेरे भी कभी-कभी अपनी अन्तरात्मा से समझौता करने हेतु छोटे महाजन की स्पर्धा में, विद्यालय स्थापित करते व विद्वानों को पारितोषिक देते थे।[१८] इस प्रकार, सब लोग यथाशक्ति शिक्षा की सहायता करते थे। यह सहयोग निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है–

१. अपने बच्चों के लिए शिक्षण नियत करना व समाज के दूसरे बच्चों को उनके साथ पढ़ने देना।
२. गरीबों के लिए और खासकर विद्यार्थियों के लिए सदाव्रत स्थापित करना।
३. पुस्तकों की प्रतिलिपि के खर्चे को उठाना।
४. स्वर्गवासी सम्बन्धियों की स्मृति में इमारत बनाना।
५. आवर्तक व्यय के लिए भूमि दान करना।
६. शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना और उनके लिए धर्मस्वदान।

भिक्षुओं के लिए अपने भरण-पोषणार्थ भिक्षा माँगने की रीति थी। वह घर-घर जाकर भिक्षा एकत्रित करते थे। सभी भिक्षु भिक्षा एकत्रित करने में भाग लेते थे, लेकिन नये भिक्षु विहार में

शारीरिक कार्य करते थे और प्रौढ़ सदस्य समाधि में समय व्यतीत करते थे। भिक्षा माँगने व दान लेने का तरीका, घरों की सूची– जिनमें भिक्षा ली जा सकती थी व दान से ग्राह्य वस्तुओं की नामावली– सभी पूर्व निश्चित था। संघ और उसके सदस्य वस्तु रूप में दान ले सकते थे, उनके मूल्य के रूप में नहीं। धन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध भिक्षु नहीं रख सकते थे। यदि वह ऐसा करते थे, तो धम्मपद में लिखा है कि– ''अपराधी या उपासक को दे देगा और इसके बदले में शहद, घी व तेल मिल जायेगा तथा यह पूरे संघ की सम्पत्ति होगी। अपराधी भिक्षु को छोड़कर सभी इसका उपभोग कर सकेंगे।''[१९] आरम्भिक व्यवस्था में निर्मित वर्षावासों ने स्थिर विहारों का रूप धारण कर लिया था। भिक्षुओं के निमित्त बनवाए गये विहारों एवं उन्हें समर्पित विहारों, आरामों आदि के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं।[२०]

बौद्ध साहित्य में भिक्षुओं के प्रति भोजन के समर्पण के लिए 'महादान' शब्द मिलता है।[२१] साथ ही; उनके वस्त्रादि की व्यवस्था के लिए चीवर परिष्कार देय का उल्लेख भी मिलता है।[२२] इस प्रकार प्राप्त भोजन, भेषज्य, वस्त्र, शयनासन आदि से बौद्ध भिक्षुओं की दैनिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाया करती थीं। इत्सिंग ने भी मठ प्रमुख द्वारा नौकर लगाकर कर प्राप्त भूमि की व्यवस्था करवाने का उल्लेख किया है। इत्सिंग का मत है कि महायान प्रमुख भूमि की उपज का १/३ भाग प्राप्त करता था, जिससे वह बौद्ध मठ की व्यवस्था का संचालन करता था।[२३] मथुरा के सिंह-शीर्ष स्तम्भ (१२० ईसा पूर्व) जो शिलालेख है, उसके अनुसार एक बुधिल नामक आचार्य को कुछ अनुदान दिया गया था, जिससे कि वह साधकों को शिक्षा दे। महाराष्ट्र में कार्ले की गुफाओं में जो एक अभिलेख है, उसके अनुसार महासांघिक पंथ को एक गाँव में नौ कमरों का प्रकोष्ठ अनुदान में दिया गया।[२४] दु:ख, दारिद्र से मुक्त होकर गुरु अध्यापन कर सके और भिक्षा की लालसा से शिष्य के भटकाव को रोका जा सके, इसी कारण अक्षय निधि के रूप में भूमि अथवा ग्राम जैसी अचल सम्पत्ति के दान ने शिक्षण के लिए संतोषजनक वातावरण तैयार किया।[२५] सामान्यजन के द्वारा शिष्यों को भिक्षा व दक्षिणा इसी भाव से दी जाती थी।[२६]

बौद्ध संघ में श्रद्धा रखने वाले उपासक भिक्षु संघ को भोजनार्थ आमन्त्रित करते थे और निमन्त्रण स्वीकृति को 'अधिवासना' कहते थे।[२७] भोजन परोसने वाले को 'परिवेषण' और परोसा लेने वाले को 'परिवेषक' कहते थे।[२८] वार्षिक उत्सवों में भोजन के लिए अधिक-से-अधिक विद्यार्थी और अध्यापक आमन्त्रित किये जाते थे।[२९] फाहियान ने भी बौद्ध विहारों को दिये जाने वाले दान का उल्लेख किया है। फाहियान के अनुसार, आर्यावर्त के सब राजा सद्धर्म में श्रद्धालु थे, जबकि वस्तुत: गुप्त नरेश 'परम भागवत' थे। विहारों के सम्बन्ध में वह लिखता है कि परिनिर्वाण के समय से विभिन्न राजा एवं धनी गृहपति भिक्षुओं के लिए विहारों को बनवा उनके लिए क्षेत्र, गृह, उद्यान एवं आराम आदि का दान करते रहे हैं। इस प्रकार दी हुई भूमि में रहने वाले लोग और पशु आदि भी इन विहारों के अधीन माने जाते थे। ये दानपत्र धातुमयी पट्टिका पर उत्कीर्ण होते थे और इनका पीढ़ी-दर-पीढ़ी राजाओं के द्वारा आदर किया जाता था।[३०] चुल्लवग्ग मंज संघ की सम्पत्ति का विस्तार से उल्लेख किया गया है। उनमें पाँच वस्तुएँ अदेय बतायी गयी हैं,[३१] जिन्हें संघ, गण या व्यक्ति (किसी को देने का हक नहीं है) को दे डालने पर भी ये बिना दिये जैसे होते हैं। अर्थात् संघ को प्राप्त इन वस्तुओं को व्यक्तिगत सम्पत्ति मान किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता था– १. आराम और आराम के मकान, २. विहार और

विहार के मकान, ३. चौपाई, चौकी, गद्दा, तकिया, ४. लोह-कुंमक, लोह भाणक, लोह वारक, लोक कटाह, बँसूला, फरसा, कुदाल, खनती तथा ५. वल्ली, वेणु, मूँज, तृण, मिट्टी, लकड़ी के बर्तन– ये पाँच अदेय हैं।

कपड़ों का दान आवश्यकतानुसार लिया जा सकता था, अनावश्यक रूप से रखने के लिए नहीं।[३२] आय का दूसरा साधन संघ के पास सेवाओं द्वारा एकत्रित शुल्क था। विद्यार्थी या तो अग्रिम शुल्क देते थे या शिक्षा समाप्त होने पर देते थे। उनके संस्था में रहने के समय में या तो वस्तु रूप में अथवा सेवाओं के रूप में ली जाती थीं। जातक ऐसे शिष्यों का उल्लेख करते हैं, जो शिक्षक के लिए ईंधन लाते थे। यदि विद्यार्थी अपना पूरा समय पढ़ने में लगाता था और सेवा कार्यों के लिए समय नहीं निकालता था, तो शिक्षा पूर्ण हो जाने पर वह अपने उपार्जित धन में से शुल्क देता था। विद्यार्थियों के लिए आवास आवश्यक नहीं था और अनावासिक छात्र भी भर्ती किये जाते थे। अनावासिक छात्र साधारणतया अपना शिक्षण-शुल्क देते थे। राज्य द्वारा भेजे गये छात्रों का शिक्षण-शुल्क या तो राज्य देता था या वे स्वयं राजकीय छात्रवृत्तियों से, जो उन्हें राज्य की ओर से मिलती थी, देते थे। तकनीकी शिक्षण के लिए शुल्क शिक्षार्थी अपने शिक्षक को देता था। जातक में लिखा है कि व्यापारी के दो पुत्रों में से प्रत्येक ने, जो व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने आये थे, दो-दो हजार मुद्राएँ शिक्षण-शुल्क के रूप में दी थीं।[३३]

ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विशेषज्ञ संस्था में शिक्षण देने के बाद, अपने छुट्टी के घण्टों में जन सामान्य की सेवाएँ करते थे। वैद्य, ज्योतिषी व शिक्षक और दूसरे विशेषज्ञ जनता को चिकित्सा सहायता, भवन बनाने व इसी प्रकार की अन्य सेवाओं के लिए दिये जाते थे और उनकी सेवाओं की निष्कृति स्वीकार की जाती थी। बहुत-सी किताबों में दो प्रसिद्ध वैद्य– जीवक और कुमारभृत्य– का उल्लेख मिलता है, जिनको साकेत, काशी और उज्जयनी आदि दूर-दूर की जगहों से बुलाया जाता था। 'नव कम्मिक' भी इसी प्रकार भवन निर्माण कार्यों का अंकेक्षण करता था। बीमारों की सेवा को भी पुरस्कारों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता था। मगध में महामारी के समय लोग संघ में बड़ी संख्या में भर्ती हो जाते थे और अच्छे होने पर वापस अपने घर चले जाते थे। इन विशिष्ट सेवाओं की निष्कृति स्वरूप जनसाधारण से प्राप्त शुल्क (धन) संस्था की आय का एक अतिरिक्त साधन था।[३४] शिक्षा के लिए राजकीय सहायता के अन्तर्गत धर्मस्व दान का उल्लेख है, किन्तु संस्थाओं के रक्षण हेतु भू-सम्पत्ति तथा परिष्कृत आवास योग्य भवनों के धर्मस्व दान से बुद्ध युग की शिक्षा-प्रणाली को पर्याप्त स्थायित्व मिल गया था। पहले भिक्षु ऐसे आवासों में नहीं रहते थे, जिन्हें घर कहा जा सकता था। किन्तु राजगृह के श्रेष्ठी द्वारा भवन निर्माण की इच्छा व्यक्त करने पर भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए पाँच प्रकार के भवन निर्माण की आज्ञा दे दी, जो इस प्रकार थे– (१) पंचालन विहार, (२) अद्धयोग, (३) प्रासाद, (४) हर्म्य तथा (५) गुहा।[३५] धनी व्यापारियों द्वारा असंख्य विहार बनवाये गए थे, जैसे– राजगृह के यष्टिवन, वेणुवन, शीतवन, श्रावस्ती का पूर्वाराम, वैशाली का कुटगमत, कपिलवस्तु का निग्रोधाराम और कौशाम्बी का घोषिताराम है। इनमें सभी सम्बन्धित सामग्री व अधिकारी रहते थे। राजगृह श्रेष्ठी ने संघ को साठ विहार बनवाकर दान में दिये। इन भवनों के रक्षण व मरम्मत का अधिकार दाता पर रहता था। इस उद्देश्य के लिए वह गाँव व जमीन दान कर देता था, जिसके राजस्व से न केवल इन भवनों की ठीक मरम्मत होती थी, बल्कि व्यवस्था का व्यय भी पूरा कर दिया जाता था। इत्सिंग ने इन धर्मस्वों के प्रबन्ध के विषय में लिखा है– "क्योंकि महान ज्ञानी बुद्ध द्वारा

पुजारियों हेतु कृषि-कर्म वर्जित है, इसलिए वे अपनी कृषि योग्य भूमि दूसरों को जोतने के लिए दे देते हैं तथा उपज का थोड़ा सा अंश ले लेते हैं। खेतों व बगीचों की उपज और पेड़ों व फलों से मिलने वाला लाभ प्रति वर्ष हिस्सों में विभाजित कर दिया जाता था और इसी से जमीन जोतने वाले के वस्त्रों का खर्च दिया जाता है। इस प्रकार, धार्मिक संस्था दान की वस्तुओं का तब तक यथेष्ट उपयोग कर सकती है, जब तक वह दाता के मूल अभिप्राय की पूर्ति करती है।''[३६]

इस प्रकार, भवन और भू-सम्पत्ति बहुत बड़े रूप में बौद्ध संस्थाओं को धर्म स्वरूप दिये जाते थे और उनके आवर्त्तक व्यय भी दाता को ही उठाने पड़ते थे। प्राचीन काल के लोगों की धार्मिक विचारधारा कितनी स्वस्थ और आधुनिक थी कि वे न केवल भगवान् के मन्दिर ही बनवाते थे, बल्कि शिक्षा के मन्दिर भी बनवाते थे और ये शिक्षा मन्दिर पूर्वोक्त से किसी भी अंश में कम पवित्र नहीं होते थे।[३७] साधारण दान के सन्दर्भ में, धर्म के पालन में रत भिक्षुओं को दान का पात्र बताया गया है।[३८] धर्म में निहित धारणा एवं शील का पालन करने वाले भिक्षुओं के प्रति समर्पित अन्न, वस्त्र, शयनासन, आवास आदि से महाफल की प्राप्ति की पर्याप्त चर्चा मिलती है।[३९] समाज के धनिक वर्ग के साथ-साथ राजकीय पृष्ठभूमि व उनके आकर्षक व्यक्तित्व का भी बहुत योगदान था।[४०] अमरावती के बाद नागार्जुन कोंडा दक्षिण भारत में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुन कोंडा के स्मारक बौद्ध धर्मानुयायी इक्ष्वाकु कुल की कुछ रानियों और राजपुत्रियों के दान से बने हैं।[४१] परिव्राजकों के ठहरने के लिए राजे-महाराजे तथा धनी पुरुप बस्ती से बाहर अच्छे आश्रम बनवा देते थे। बहुत से स्थानों में उन आश्रमों का प्रबन्ध पंचायती चन्दे से भी होता था।[४२]

भगवान् बुद्ध के समय में ही भारतीय संस्कृति सर्वप्रथम 'द्रव्य के युग' (मुद्रा) में अवत्तीर्ण हो रही थी। ऐसा लगने लगा था कि यह श्रमणों का नहीं, श्रेष्ठियों (व्यापारियों) का युग है। अंग के मोण्डक, कोशल के अनाथ, पिण्डक और कौशाम्बी के घोषक इन धनाढ्य श्रेष्ठियों के कुछ ज्वलन्त उदाहरण हैं।[४३] बड़े-बड़े श्रेष्ठी प्राय: उस युग में संयात परायण श्रमण सम्प्रदायों के पोषक थे। मोण्डक श्रेष्ठी की पुत्री व मगांर श्रेष्ठी की पुत्रवधु विशाखा ने चार महीने तक बुद्ध-प्रभृति भिक्षु संघ को विहार में ही भिक्षा दान किया। उसने अन्तिम दिन संघ को चीवर शाटक दिये। सबसे नये भिक्षु को दिये गये चीवर का मूल्य एक सहस्त्र था। सभी भिक्षुओं को पात्र भरकर भेषज्य (घी, गुड़ आदि) दिया गया। दान देने में नौ करोड़ व्यय हुआ। इस प्रकार, भूमि खरीदने में, विहार-निर्माण में और विहार उत्सव में विशाखा ने सत्ताईस करोड़ की राशि व्यय की।[४४] उसने न केवल यह कार्य किया, वरन् यावज्जीवन संघ की सेवा करने का निर्णय लिया और संघ से आठ वर भी प्राप्त किये, जो इस प्रकार थे– वार्षिक साटिका की, नवागंतुक की, भोजन की, गमिक भोजन की, रोगी परिचारक भोजन की, रोगी भेषज्य की, सदा के (लिए) यवागू की और भिक्षुणी संघ को उदक साटी देने के वर प्राप्त किये।[४५] इस प्रकार राजाश्रय, समाज तथा जन सामान्य द्वारा मुक्त हस्त से दिये गये दान से बौद्ध काल में शिक्षा का वित्त प्रबन्धन स्थायी हो गया था। व्यक्ति शिक्षा के पवित्र कार्य के लिए दान करने में एक-दूसरे से स्पर्धा करते थे। शिक्षा संस्थागत हो जाने के कारण अपने वित्त प्रबन्धन के लिए वृहत्तर और अधिक स्थायी साधनों की माँग करती थी। ये विहारों के लिए निर्मित विशाल धर्म-निधियों से प्राप्त हुए। इन धर्म-निधियों ने संस्था की सभी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी की थीं, ताकि भौतिक साधनों की कमी या चिन्ताओं के कारण उत्पन्न अवरोध या विघ्न के अभाव में इनका कार्य सुचारु रूप से चलता रहे। ज्ञान के उपासकों के त्याग और सेवा-भाव ने जनसामान्य की धर्म-भावना तथा कर्त्तव्य-बुद्धि से मिलकर बौद्धकालीन शिक्षा की अर्थ-व्यवस्था को स्थायी आधार प्रदान किया।

सन्दर्भ-सूची–

१. आत्मानन्द मिश्र- प्राचीन भारत में वित्तीय व्यवस्था, पृ. १००-१०१
२. पी. वी. बापट– बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, पृ. ४१
३. सैम्युल बील– लाइफ ऑफ ह्वेनसांग बाई शामन ह्यूइली, (लन्दन १९११)
४. ए लिट्रेरी डी. गौंराग– जनरल एशियाटिक लॉवी एण्ड च्वांस-१८८५, वाल्यूम ६, पृ. ३४१
५. रीज डेविड– मिलिन्द पन्हो, भाग-६, पृ. ९-१०   ६. डॉ. हीरानन्द– नालन्दा, पृ. ४
७. गंगा प्रसाद मेहता– चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, पृ. ४   ८. वेटर्स– पृ. १६४-१६५
९. युवान-चुवांग– द ट्रवेल्स इन इण्डिया (लन्दन रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९०४
१०. डॉ. अच्युतानन्द घिल्डियाल- प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म, पृ. ४२६
११. आर. सी. मजूमदार– प्राचीन भारत, पृ. २३८
१२. आत्मानन्द मिश्र– भारतीय शिक्षा की वित्तीय व्यवस्था, पृ. १०१-१०२
१३. जातक- ३स– २३८, १२७, २४७, २६३
१४. पी. वी. बापट– बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, पृ. १५४, १९३
१५. सैम्युल बिल– ११०-११
१६. ताकाकुसु– रेकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रेलीजन बाई इत्सिंग (ऑक्सफोर्ड-१८९६), पृ. ६५
१७. कौटिल्य– अर्थशास्त्र, पृ. २२४
१८. अ. स. अल्तेकर– प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, पृ. ७५-७६
१९. धम्मपद– २३५   २०. चुल्लवग, शयन आसन- स्कंधक, ६.१.१, ६.३.१.६
२१. महावग्ग– भेषज्य स्कंधक, ६.३.११, ६.४.३, ६.४.४, ६.४.५
२२. वही– चीवर स्कंधक, ८.१.१
२३. राधा कुमुद मुखर्जी– एशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ. ५३४
२४. पी. वी. बापट– बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, पृ. ८८
२५. राधा कुमुद मुखर्जी– एशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ. ६४   २६. वही– पृ. ६८
२७. नगरावम्बिकावदान– पृ. ५१, सुप्रियावदान– पृ. ६१
२८. नगरावलम्बिकावदान– पृ. ५४, दिव्यवदान के संस्कृति का स्वरूप, पृ. ५४
२९. अ. स. अल्तेकर– प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति, पृ. ७१
३०. जी. सी. पाण्डेय– बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. २२३
३१. चुल्लवग्ग– ६.५.२   ३२. वही– ५.७.४
३३. जातक खण्ड– ४, २२४-२२५ और २३८-२३९
३४. आत्मानन्द मिश्र– भारतीय शिक्षा की वित्तीय व्यवस्था, पृ. १०५
३५. चुल्लवग्ग– शयन आसन स्कंधक, ६.१.१, ६.१.२
३६. ताकाकु सु.– बौद्ध धर्म का अभिलेख द्वारा इत्सिंग अनुवाद (ऑक्सफोर्ड १८९६),पृ.१९३-९४
३७. एस. के. दास– प्राचीन हिन्दुओं की शैक्षणिक पद्धति, पृ. ४२७
३८. मज्झिम निकाय– आड़खेत सुत्त, १.१०६   ३९. जातक जिल्द– पृ. ११४
४०. मज्झिम निकाय– अससलायन सुत्त, २.५.३
४१. पी. वी. वापट– बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, पृ. ८९
४२. जनार्दन भट्ट– बौद्धकालीन भारत, पृ. २१
४३. गोविन्द चन्द पाण्डेय– बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. २१
४४. मुनि नागराज जी– आगम और त्रिपिटक अनुशीलन, खण्ड-१, पृ. २९२
४५. महावग्ग, ८.४.७

●

महात्मा गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी विचार

डॉ. लाला बाबू*

सार : महात्मा गाँधी एक राजनीतिक नेता एवं महान् शिक्षा-विचारक थे। उनकी शिक्षा सम्बन्धी विचारधारा उनकी नैतिकता तथा स्वावलम्बन सम्बन्धी सिद्धान्तों पर आधारित थी। 'हरिजन' पत्रिका, वर्धा शिक्षा योजना, सत्य के साथ मेरे प्रयोग (आत्मकथा), बालपोथी इत्यादि में निहित उनके विचारों के माध्यम से इसे देखा जा सकता है। इस शोध-पत्र में हम गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी फीनिक्स, टॉलस्टॉय आश्रमों में किए गए प्रयोगों और भारत में प्रस्तुत वर्धा शिक्षा योजना आदि की चर्चा करेंगे। साथ ही; बुनियादी शिक्षा एवं इसके प्रमुख सिद्धान्त इत्यादि के विषय में भी, संक्षेप में; चर्चा करेंगे। गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों के प्रमुख उद्देश्यों पर भी संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

बीज शब्द : उद्देश्य, बालपोथी, हरिजन, स्वावलम्बन, बुनियादी शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी, पाठ्यक्रम, आश्रम, आत्मानुशासन, नैतिकता, नागरिकता, आत्मा, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक इत्यादि।

प्रस्तावना : गाँधी जी के शिक्षा-दर्शन को वास्तविक रूप में समझने हेतु यह आवश्यक है कि उनकी शिक्षा सम्बन्धी गतिविधियों एवं उनके द्वारा किए गए प्रयोगों के बारे में जानकारी कर ली जाए। जैसा कि हम जानते हैं कि गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी जीवन की शुरुआत दक्षिण अफ्रीका से हुई। गाँधी जी के शिक्षा दर्शन सम्बन्धी विचारों पर टॉलस्टॉय और रस्किन के विचारों का प्रभाव भी दिखाई देता है। गाँधी जी टॉलस्टॉय को अपने गुरु के रूप में मानते थे।[१]

गाँधी जी शिक्षा को भारत की आजादी का साधन मानते थे। वह सत्याग्रह पर आधारित अहिंसक क्रान्ति में विश्वास करते थे और शिक्षा के अभाव में अहिंसक क्रान्ति हेतु मानस परिवर्तन भी सम्भव नहीं था। गाँधी जी ने 'हरिजन' पत्र में लिखा है कि– ''कताई-बुनाई और ग्रामीण हस्त-शिल्पों और हथकरघा उद्योगों के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा देने की मेरी योजना एक मौन सामाजिक क्रान्ति का प्रतिनिधित्व करती है। इससे शहर एवं गाँवों के मध्य एक स्वस्थ और नैतिक सम्बन्ध कायम होगा। वर्तमान सामाजिक कटुता और बुराइयों को समाप्त किया जा सकेगा।''[२]

१९२०-२१ ई. में, असहयोग आन्दोलन के दौरान, गाँधी जी ने १६ वर्ष से अधिक आयु के छात्रों को आमन्त्रित किया।[३] गाँधी जी ने कहा था कि बिना छात्रों की सहायता के स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की जा सकती है। जनता और शासकों पर जितना प्रभाव छात्र-छात्राओं के एक दिन में स्कूल एवं महाविद्यालय छोड़ देने का होता है, उतना अन्य किसी चीज का नहीं होता।[४]

शोध-पत्र का उद्देश्य– प्रस्तुत शोध-पत्र के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

१. गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों के विकास की पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।

२. गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का गम्भीर विश्लेषण करना।

३. गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की वर्तमान में क्या प्रासंगिकता है, उस पर संक्षेप

* सहायक आचार्य– इतिहास विभाग, कृषक (पी.जी.) कॉलेज, मवाना, मेरठ (उ.प्र.)

में चर्चा करना।

शोध-सामग्री– प्रस्तुत शोध-पत्र में विषयवस्तु की गहन जानकारी प्राप्त करने एवं इस शोध-पत्र के लेखन हेतु प्राथमिक एवं द्वितीयक– दोनों प्रकार की स्रोत-सामग्री का उपयोग किया जाएगा। प्राथमिक स्रोत के तौर पर 'द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी' के विभिन्न खण्डों का, गाँधी जी के द्वारा समय-समय पर लिखित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, यथा– नवजीवन, हरिजन पत्रिका इत्यादि के साथ-साथ गाँधी जी की आत्मकथा– सत्य के साथ मेरे प्रयोग, बालपोथी इत्यादि का उपयोग किया जाएगा, वहीं द्वितीयक स्रोत के रूप में विभिन्न विद्वानों के कथनों के साथ-साथ लिखित पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और शोध-पत्रों एवं वर्तमान में प्रिंट एवं इलक्ट्रॉनिक स्रोतों का उपयोग किया जाएगा।

शोध-विधि– इस शोध-पत्र में व्याख्यात्मक एवं ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग किया जाएगा।

गाँधी जी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य–

१. चरित्र-निर्माण या बालक का नैतिक विकास करना

२. जीवनोपयोगी शिक्षा

३. आत्मनिर्भरता

४. श्रेष्ठ नागरिक के गुणों का विकास करना।

गाँधी जी के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण करना है। इसके अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास शामिल है। दूसरे शब्दों में; शिक्षा का उद्देश्य सभी पक्षों का सर्वांगीण और सर्वोत्तम विकास करना है। महात्मा गाँधी ने जीवनोपयोगी शिक्षा पर ही बल दिया। उनके दृष्टिकोण से सेवा की भावना उत्पन्न करके समाज को उन्नत बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।[५] गाँधी जी के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य मात्र नौकरी पाना नहीं था, बल्कि बच्चों को स्वावलम्बी या आत्मनिर्भर बनाना था। १९१२ ई. में गाँधी जी के द्वारा श्री रतन जे. टाटा को लिखे पत्र से भी यह स्पष्ट होता है।[६] उक्त पत्र में गाँधी जी ने शिक्षा को नौकरी प्राप्त करने के लक्ष्य से मुक्त करने के सम्बन्ध में लिखा कि– ''यह गलत धारणा दूर होनी चाहिए कि शिक्षा का लक्ष्य मात्र नौकरी प्राप्त करना है।'' उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि राष्ट्रीय स्कूल से निकल कर विद्यार्थियों में इतना आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाएगा कि वह स्वावलम्बी बन सकेंगे। वह किसी कारखाने या अन्य किसी उद्योग-धन्धे में लग सकते हैं। गाँधी जी के अनुसार, बुनियादी शिक्षा का एक उद्देश्य बालकों में श्रेष्ठ नागरिकता के गुणों का विकास करना है। लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति शासन के प्रति उत्तरदायी होता है और राज्य के प्रति उसके कुछ कर्तव्य होते हैं। किन्तु, इसके साथ-साथ; उसे अनेक अधिकार भी प्राप्त होते हैं। बालक इन कर्तव्यों का पालन तथा अधिकारों का उपयोग तभी कर सकता है, जब वह उनके प्रति सजग हो और इसके लिए ऐसी शिक्षा-व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है, जो उसमें नागरिकता के गुणों को विकसित करने में योगदान दे सके। गाँधी जी के अनुसार, ''शिक्षा का सही उद्देश्य बच्चों की सम्भावनाओं का सम्पूर्ण विकास करना ही है।'' गाँधी जी के अनुसार, शिक्षा के दो उद्देश्य हैं–

प्रथम- तात्कालिक, अर्थात् जिससे विद्यार्थी को त्वरित लाभ मिल सके।

द्वितीय– इसके अन्तर्गत गाँधी जी वास्तविकता का अनुभव, ईश्वर एवं आत्मज्ञान को

सम्मिलित करते थे तथा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु चरित्र-निर्माण को आवश्यक मानते थे। गाँधी जी के अनुसार, शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो बालक को आगामी जीवन में आत्मनिर्भर बना सके। वे उद्योगों की जानकारी प्रदान करके छात्रों में जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता उत्पन्न करना चाहते थे।[७]

महात्मा गाँधी के अनुसार, शिक्षा के मूल्य को अनुभव में ही खोजना चाहिए। उनका कहना था कि– "जो शिक्षा चित्त की शुद्धि न करे, आजीविका का साधन न बनाये और स्वतन्त्र रहने का हौसला और सामर्थ्य न उत्पन्न करे, उस शिक्षा में चाहे जितनी जानकारी का खजाना, तार्किक कुशलता और भाषा-पाण्डित्य मौजूद हो, वह सच्ची शिक्षा नहीं।"[८] गाँधी जी के अनुसार, ज्ञान दो प्रकार का होता है– अच्छा और बुरा। बच्चों को अच्छे ज्ञान की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। इसी क्रम में; गाँधी जी ने शारीरिक श्रम को प्रारम्भ से महत्त्व दिया। उनके अनुसार, शारीरिक शिक्षा उद्देश्यपूर्ण और समाजोपयोगी होनी चाहिए। शारीरिक शिक्षा में वे शारीरिक व्यवसाय को भी शामिल करते थे।[९]

महात्मा गाँधी के अनुसार, वास्तव में; शिक्षा उच्च वास्तविकताओं तथा अस्तित्व के अर्थों के प्रति जीवन का जागरण है। महात्मा गाँधी ने मानव चरित्र-निर्माण को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार, समस्त ज्ञान-शिक्षा का उद्देश्य चरित्र का निर्माण होना चाहिए।"[१०] शिक्षा के पाठ्यक्रम में गाँधी जी आत्मा को शिक्षित करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते थे।[११] उनका विचार था कि आत्म-शिक्षण शिक्षा का एक स्वतन्त्र विषय है। उनकी दृष्टि में, आत्मा का विकास करने से आशय था– चरित्र का निर्माण, आत्मज्ञान एवं ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना। गाँधी जी के अनुसार, समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्दर निहित होता है। वह स्वभावत: आत्मबोध कराने में सक्षम होता है। किन्तु शिक्षा इसी का अनावरण है। उसमें बाहर से कुछ नहीं आता। इस प्रकार, जो हमारे अन्दर अव्यक्त है, वही व्यक्त होता है। यही वजह है कि गाँधी जी पुस्तकों के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के विरोधी थे। अत: मनुष्य जो कुछ सीखता है, वह सब उसके अन्दर प्रकट होता है। मनुष्य की आत्मा अनन्त ज्ञान स्वरूप है, जिसके उद्घाटन में शिक्षक का कार्य संकेत देना है। इस संकेत से बच्चों के अन्दर अव्यक्त ज्ञान की शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है। शिक्षक का कर्तव्य बच्चों हेतु एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है, जिससे उसके अन्दर के सुप्त ज्ञान को अभिव्यक्त होने का पूर्ण अवसर मिल सके। वास्तव में; प्रत्येक व्यक्ति में स्वभाव से ही कुछ विशिष्ट शक्तियाँ सुप्तावस्था में विद्यमान होती हैं। शिक्षा के द्वारा इन शक्तियों का विकास और अभिव्यक्ति सम्भव है।[१२]

१५ नवम्बर, १९२० को उन्होंने अहमदाबाद के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि सच्ची शिक्षा वही है, जो मोक्ष की ओर ले जाए।[१३] यहाँ उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने मुक्ति के दो प्रकार बताए हैं– प्रथम, देश की गुलामी से मुक्ति, जिसका अर्थ है– देश को ब्रिटिश साम्राज्य की राजनीतिक और आर्थिक गुलामी से आजाद कराना है। द्वितीय, आन्तरिक मुक्ति। गाँधी जी आन्तरिक मुक्ति को सर्वोच्य मुक्ति मानते थे, जिसका अर्थ है– अपनी वासनाओं, भय, अहंकार, लालच, मानसिक दासता पर विजय प्राप्त करना। गाँधी जी के अनुसार, प्रथम प्रकार की मुक्ति अस्थायी है। स्थायी मुक्ति से उनका आशय है– जिसमें मनुष्य प्रत्येक प्रकार के भय से मुक्त हो। और भय से वही व्यक्ति मुक्त हो सकता है, जो सत्यनिष्ठ हो, स्वावलम्बी अर्थात् आत्मनिर्भर हो। गाँधी जी ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों में शिक्षण-विधि के बारे में भी विस्तार

से लिखा है। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि सच्ची शिक्षा माँ-बाप के माध्यम से ही मिल सकती है।[१४] गाँधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि शिक्षण-विधि का मूल आधार आत्मनिर्भरता ही होना चाहिए। टॉलस्टॉय आश्रम के सन्दर्भ में गाँधी जी ने शिक्षण-विधि का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निर्धारित किया है कि शिक्षक स्वयं जो कार्य नहीं करें, उस काम को छात्रों से भी नहीं कराएँ। अर्थात् विद्यार्थियों के साथ-साथ शिक्षकों को भी शारीरिक श्रम करना चाहिए।[१५] गाँधी जी ने 'लर्निंग टू लर्न' सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। उन्होंने लिखा था कि बच्चों को सिखाना कम और अनुशासित रखना तथा अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति सजग रखना ज्यादा आवश्यक है।[१६] गाँधी जी का मानना था कि बच्चों को पाठ्य-पुस्तकें कम-से-कम दी जानी चाहिए, क्योंकि पाठ्य-पुस्तकों से शिक्षण और शिक्षक की मौलिकता नष्ट होती है।[१७] इस प्रकार, गाँधी जी शिक्षण-विधि में पाठ्य-पुस्तकों के प्रयोग के घोर विरोधी थे। उनका मानना था कि शिक्षक स्वयं ही छात्रों की पाठ्य-पुस्तक होता है। यही वजह है कि गाँधी जी मौलिक शिक्षा पर अधिक बल देते थे।[१८]

शिक्षा से गाँधी जी का आशय बच्चे और मनुष्य में निहित शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति से है। साक्षरता शिक्षा का साध्य नहीं है और न ही उसका प्रारम्भ है। यह शिक्षा के अनेक साधनों में से एक साधन है। शिक्षा, वास्तव में; बच्चे के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया है।[१९] शिक्षा दो रूपों में होती है– संकुचित एवं व्यापक। संकुचित रूप में; यह कक्षा के अन्दर सीखी जाने वाली प्रक्रिया है, तो व्यापक रूप में; यह यात्रा, भ्रमण, बारात, कक्षा, विद्यालय, क्रीड़ांगन आदि सभी से प्राप्त होने वाला अनुभव है। व्यापक अर्थ में शिक्षा जीवन के साथ और जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।[२०] इस प्रकार, शिक्षा एक स्वाभाविक, विस्तृत एवं जटिल प्रक्रिया है, जो जीवनपर्यन्त चलती रहती है। पृथ्वी पर जब से मानव का जन्म हुआ, उसी समय से शिक्षा का प्रारम्भ हुआ होगा। मनुष्य को मनुष्यता व समाज में समायोजन के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिवर्तित करने का कार्य शिक्षा करती है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, जिससे वह अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं, योग्यताओं के विकास तथा पूर्ण जीवनयापन हेतु समर्थ होगा। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व समाज का है। अत: भोजन, वस्त्र तथा आवास (रोटी, कपड़ा और मकान) आदि की भौतिक शिक्षा मानव की मूलभूत आवश्यकता है।[२१]

वाइल्ड जॉन के मतानुसार– ''शिक्षा मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता एवं मूलभूत अधिकार– दोनों है।''[२२]

इस प्रकार, शिक्षा एक त्रिभुजी प्रक्रिया है। इसके तीन ध्रुव हैं– १. शिक्षक २. शिक्षार्थी और ३. पाठ्यक्रम। शिक्षा-प्रक्रिया में शिक्षक का होना अति आवश्यक है। उसके अभाव में शिक्षा-प्रक्रिया सम्भव नहीं है। शिक्षा-प्रक्रिया का एक ध्रुव शिक्षक है, तो दूसरा ध्रुव शिक्षार्थी है। जिस प्रकार से शिक्षक के अभाव में शिक्षा सम्भव नहीं है, उसी प्रकार शिक्षार्थी के बिना भी शिक्षा-प्रक्रिया सम्भव नहीं है। अत: प्रसिद्ध विद्वान् एडम्स तथा रॉस शिक्षा को द्विध्रुवी प्रक्रिया मानते हैं, जबकि प्रसिद्ध अमेरिकी शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूबी शिक्षक, शिक्षार्थी के अलावा पाठ्यक्रम को भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण ध्रुव मानते हैं। उनके अनुसार, शिक्षा-व्यवस्था त्रिध्रुवी प्रक्रिया है। गुरु-शिष्य के मध्य सम्पन्न होने वाली अन्त:क्रिया शिक्षा है।[२३] तात्कालिक शिक्षा के दोषों को दूर करने हेतु गाँधी जी ने शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। गाँधी जी के शिक्षा

सम्बन्धी विचार उनके द्वारा किए गए शिक्षा सम्बन्धी प्रयोगों पर आधारित हैं। उनका उद्देश्य शिक्षा का माध्यम मातृभाषा के साथ पुस्तकों का सहारा कम-से-कम लेना था। उन्होंने १९३६ ई. से 'हरिजन पत्र' के माध्यम से अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। सन् १९३७ ई. में देश के नौ प्रान्तों में कांग्रेसी सरकार स्थापित हुई, तो गाँधी जी ने अपनी शिक्षा-योजना को लागू करने पर विचार किया। २२-२३ अक्टूबर, १९३७ ई. में, नवीन शिक्षा पर विचार करने हेतु, वर्धा में एक 'अखिल भारतीय सम्मेलन' आयोजित किया गया, जिसमें अनेक शिक्षाशास्त्रियों, राष्ट्रीय नेताओं तथा समाज-सुधारकों ने भाग लिया। इसके सभापति गाँधी जी थे। इस सम्मेलन में गाँधी जी ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार व्यक्त किये। यही प्रस्ताव बेसिक शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्त हैं। यथा–

१. बुनियादी शिक्षा की अवधि ७ से १४ वर्ष हो तथा ७ वर्ष तक नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था हो।
२. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।
३. शिक्षा उद्योग-केन्द्रित हो, अर्थात् सर्वांगीण विकास के उद्देश्य से समस्त शिक्षा, जहाँ तक सम्भव हो, किसी उद्योग के माध्यम से दी जाए, जिससे पढ़ाई का खर्च पूरा हो सके।
४. शिक्षा स्वावलम्बन या आत्मनिर्भरता की ओर ले जानी वाली हो। इस शिक्षा को गाँधी जी 'बुनियादी शिक्षा' या 'नई तालीम' कहते थे। इस शिक्षा को कई अन्य नामों से भी पुकारा जाता है, जैसे– वर्धा योजना, आधारभूत शिक्षा, नेशनल एजुकेशन, मौलिक शिक्षा, बेसिक शिक्षा आदि सबका लक्ष्य एक ही है।[२४]

गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा मुख्यत: गाँवों के लिए थी। शहरों के लिए भी इसी प्रकार की शिक्षा होनी चाहिए– यह संकेत उन्होंने दिया था, किन्तु उनका प्रमुख ध्यान गाँवों की ओर था। गाँधी जी ने बुनियादी शिक्षा का नाम 'देहाती दस्तकारियों द्वारा दी जाने वाली ग्रामीण राष्ट्रीय शिक्षा' सुझाया था, किन्तु उतना आकर्षक न होने की वजह से उसे रखना ठीक नहीं समझा गया।[२५] गाँधी जी का कहना था कि– "मैं भारत के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त में दृढ़तापर्वूक विश्वास करता हूँ। मेरा यह भी विश्वास है कि इस लक्ष्य को पाने का सिर्फ एक ही रास्ता है कि हम बच्चों को कई उपयोगी उद्योग सिखाएँ और उसके द्वारा उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर सकें। इससे ऐसी न्यायपूर्ण व्यवस्था की नींव पड़ेगी, जिससे अमीरों और गरीबों के अस्वाभाविक विभेद की गुंजाइश नहीं होगी और प्रत्येक को जीवन, मजदूरी और स्वतन्त्रता के अधिकारों का आश्वासन दिया जा सकेगा।"[२६]

गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित थी–

१. समस्त शिक्षा विद्यार्थियों को प्रान्तीय भाषा में दी जानी चाहिए।
२. समस्त शिक्षा आत्मनिर्भर या स्वावलम्बी होनी चाहिए, अर्थात् अन्त में पूँजी को छोड़कर अपना सारा खर्च उसे स्वयं देना चाहिए।
३. विद्यार्थी अपने हाथों से कोई-न-कोई उद्योग-धन्धा आखिरी दर्जे तक करें।
४. यह तालीम बच्चे लें या बड़े, औरतें लें या मर्द– विद्यार्थी के घर पहुँचेगी।
५. सम्पूर्ण देश की भाषा देवनागरी या उर्दू में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी ही हो सकती

है, इसलिए विद्यार्थियों को दोनों लिपियाँ अच्छी तरह सीखनी होगी।

६. साम्प्रदायिक-धार्मिक शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं होगा।[२७]

गाँधी जी के अनुसार, सच्चा प्रजातन्त्र 'बुनियादी शिक्षा' की बुनियाद पर ही स्थापित हो सकता है। अत: पूर्ण निष्ठा के साथ इसे जितनी जल्दी लागू कर दिया जाए, उतना ही अच्छा है।

गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समीक्षा : गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचार वर्तमान भारत की समस्याओं के सन्दर्भ में आज भी प्रासंगिक हैं, जैसे– गाँधी जी शिक्षा को जनकल्याण और उद्धार का सबसे शक्तिशाली अस्त्र मानते थे। वस्तुत: गाँधी जी ने शिक्षा के सभी स्तरों एवं सभी के लिए शिक्षा के प्रावधानों पर बल दिया। गाँधी जी ने वर्धा योजना के अन्तर्गत बुनियादी शिक्षा की जो व्यवस्था प्रस्तुत की थी, उसे 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२०, में कमोवेश अंगीकृत किया गया है।

गाँधी जी का मानना था कि शिक्षा भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हानी चाहिए, जिसमें छात्र-छात्राओं का स्वाभाविक रूप से विकास हो सके। इसकी प्रासंगिकता आज भी देखी जा सकती है। गाँधी जी के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य सभी पक्षों का सर्वांगीण और सर्वोत्तम विकास करना है, जो वर्तमान में भी शिक्षा के मूल उद्देश्य के रूप में स्वीकृत है।

गाँधी जी का मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य मात्र नौकरी पाना नहीं है, बल्कि छात्र-छात्राओं को आत्मनिर्भर बनाना है। वर्तमान भारत की प्रमुख समस्या– बेरोजगारी– के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता सर्वविदित है। गाँधी जी ने शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य बच्चों में नैतिक, चारित्रिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का विकास करना माना था। वर्तमान में युवाओं में जिस प्रकार नैतिक मूल्यों का पतन, चारित्रिक गिरावट, भ्रष्टाचार इत्यादि देखने को मिल रहा हैं, उसके सन्दर्भ में गाँधी जी के विचार प्रासंगिक हो जाते हैं। उनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों में सर्वोदयी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्वोदय से तात्पर्य है– सभी का सभी प्रकार से विकास। वर्तमान में जिस प्रकार से शिक्षा का व्यावसायीकरण हो रहा है, गाँधी जी के सर्वोदयी शिक्षा के विचार की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। गाँधी जी पाठ्य-पुस्तकों के विरोधी थे और वह 'कर' एवं 'कराके' सीखने के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। यही कारण है कि वह उद्योगों के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने के हिमायती थे। वर्तमान में बच्चों के बस्तों के बढ़ते बोझ के सन्दर्भ में इसे समझा जा सकता है। गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों में प्रकृति-प्रेम एवं पर्यावरणीय शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वर्तमान विश्व में उपस्थित पर्यावरणीय समस्याओं के सम्बन्ध में गाँधी जी के पर्यावरणीय शिक्षाओं का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।[२८]

निष्कर्ष– उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२०' के माध्यम से और भिन्न-भिन्न सरकारों के द्वारा समय-समय पर चलायी जा रही अनेक योजनाओं, जैसे– कौशल विकास योजना, उस्ताद योजना, स्टैण्ड अप, स्टार्टअप योजना आदि के माध्यम से अपनाया जा रहा है, जो गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की वर्तमान में प्रासंगिकता को सिद्ध करता है।[२९]

सन्दर्भ-सूची

१. द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी– पब्लिकेशंस डिवीजन, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, वाल्यूम १०, पृ. ३१

२. एम. के. गाँधी– फ्रॉम यरवदा मंदिर– नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद, १९३५, पृ. ५५
३. द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी– वाल्यूम १८, पृ. २९९, पूर्वोक्त
४. पूर्वोक्त– वाल्यूम १८, पृ. २९७-३००
५. श्रीकृष्ण कुमार त्रिवेदी– गाँधी जी का गाँवों पर प्रभाव, पाण्डुलिपि प्रकाशन, ई. ११/५, कृष्ण नगर, दिल्ली, पृ. ८०
६. द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी– वाल्यूम ११, पृ. २५१, पूर्वोक्त
७. इन्द्रा ग्रोवर– संसार के महान शिक्षाशास्त्री, पृ. २२१
८. डॉ. रामशक्ल पाण्डेय– शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पृ. २६४
९. मोहनदास करमचन्द गाँधी– सत्य के साथ मेरे प्रयोग (आत्मकथा), सस्ता इतिहास मण्डल, नई दिल्ली, १९७०, पृ. ३१५
१०. एम. के गाँधी– टू द स्टूडेण्ट, नवजीवन प्रकाशन, पृ. १०७
११. मो. क. गाँधी– 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग', पृ. ३१८-२०, पूर्वोक्त
१२. रामनाथ शर्मा– सायंकालीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिक, विनीत पब्लिकेशन, मेरठ, पृ. ५६
१३. द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी– वाल्यूम १८, पृ. ४७
१४. मो. क. गाँधी– सत्य के साथ मेरे प्रयोग, पृ. ३१४
१५. पूर्वोक्त– पृ. ३१५.
१६. पूर्वोक्त– पृ. ३१७
१७. मो. क. गाँधी– 'बालपोथी' (गाँधी जी ने 'बालपोथी' पुस्तक बच्चों को हिन्दी सिखाने के लिए लिखी थी), नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद
१८. मो. क. गाँधी– सत्य के साथ मेरे प्रयोग, पूर्वोक्त, पृ. ३१७
१९. पूर्वोक्त– पृ. ४८७
२०. डॉ. रामशक्ल पाण्डेय– शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. १३, पूर्वोक्त
२१. ए. के. आजाद– दी फ्यूचर ऑफ एजुकेशन इन इण्डिया, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, १९५६, पृ. ५
२२. जॉन वाइल्ड– एजूकेशन एण्ड ह्यूमन सोसाइटी : ए रियलिस्टिक व्यू, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, १९५५, पृ. ३१-४४
२३. डॉ. रामशक्ल पाण्डेय– शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. १३, पूर्वोक्त
२४. डॉ. रामशक्ल पाण्डेय– शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. २७, पूर्वोक्त
२५. बुनियादी शिक्षा– नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, पृ. ८७
२६. एम. के. गाँधी– 'हरिजन पत्रिका', ९ अक्टूबर १९३७
२७. एम. के. गाँधी– 'हरिजन पत्रिका', २ अक्टूबर १९४७
२८. गूगल– यूट्यूब पत्र-पत्रिकाएँ
२९. गूगल– यूट्यूब पत्र-पत्रिकाएँ

●

पर्यावरणीय वर्तमान समस्या-निवारण में
भारतीय पारम्परिक ज्ञान सम्पदा की भूमिका

सुरभि मिश्रा*

'प्रकृति के साथ यह कैसा अनवरत संग्राम है?
विजय का यह दंभ, वास्तव में; पराजय का नाम है।
हम भूल बैठे 'ईशावास्यम्' के उस अमर सत्य को,
यहाँ त्याग में ही निहित, भोग का अक्षय धाम है।'

प्रकृति हमारे जीवन का आधार है। भारतीय परम्परागत जीवन-दृष्टीकोण में भी पर्यावरण को 'सभ्यता का आधार' कहा गया है। मनुष्य जिन जैविक और अजैविक कारकों से निर्मित हुआ है, वे सभी प्रकृति की ही देन हैं। हमारे शास्त्रों में प्रकृति को जीवनदायिनी माँ कहा गया है, किन्तु हम प्रकृति-सन्तानों ने अपनी माँ के साथ उचित व्यवहार नहीं किया। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् मनुष्य ने प्रकृति के दोहन की शुरुआत की, जिसके आज भयावह परिणाम हमारे समक्ष खड़े हैं। छठीं आकलन रिपोर्ट के तहत जलवायु परिवर्तन पर अन्तर सरकारी पैनल (आईपीसीसी) की चौथी रिपोर्ट के अनुसार, मानव गतिविधियों के कारण ग्लोबल वार्मिंग में १.१ डिग्री सेल्सियस की बढ़ोत्तरी ने जलवायु परिवर्तन को और गम्भीर बना दिया है, जो अब तक के मानव-इतिहास में कभी नहीं हुआ। इसी रिपोर्ट में, वर्ष २०४० तक, वैश्विक तापमान वृद्धि १.५ डिग्री सेल्सियस तक पहुँचने का अनुमान भी व्यक्त किया गया है। इसी वैश्विक तापमान वृद्धि ने कई पर्यावरणीय संकटों को जन्म दिया है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखा, पिघलते ग्लेशियर और इससे जनित जनजीवन के ख़तरों ने आज जलवायु संकट से निपटने के लिए विकसित देशों को भी मजबूर किया है। हालाँकि इस संकट से सबसे अधिक प्रभावित विकासशील और निम्न आय वाले छोटे देश हैं। आज भारत भी इस संकट से अछूता नहीं है।

भारत जैसे तेज़ी से विकसित होने वाले देश के लिए यह आवश्यक है कि विकास को प्रकृति अनुरूप और समावेशी बनाए। बढ़ते प्रदूषण ने भारतीय शहरों की हवा को दूषित कर दिया है। बड़ी नदियों की पवित्रता ज़हरीले रसायन और अपशिष्ट के कारण खण्डित हुई है। जलवायु-परिवर्तन के कारण मानसून वर्षा की भी प्रकृति बदली है। खेती की उत्पादकता पर भी इसका विपरीत प्रभाव पड़ा है। पर्यावरणीय असन्तुलन और प्रकृति के प्रति हमारे नकार के भाव का प्रभाव आज हमें भीषण प्राकृतिक आपदाओं के रूप में दिख रहा है। २०१३ की उत्तराखण्ड की त्रासदी हो या २०१८ में आयी केरल में भीषण बाढ़! साथ ही; इसी वर्ष उत्तराखण्ड के धराली का दृश्य हमें याद दिलाते हैं कि हमने 'माँ' प्रकृति से पुत्रवत धर्म नहीं निभाया है। पर्यावरण में व्याप्त इन मानव-निर्मित समस्याओं के विशद् निरीक्षण के पश्चात् यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि आज विकास और धन-लिप्सा का यह अभिमानी कुंजर हमारे पुरातन संस्कारों को रौंदता हुआ आगे क्यों बढ़ रहा है? उत्तर हमारे समक्ष ही उपलब्ध है। भारतीय संस्कृति के सनातन संस्कारों, पारम्परिक ज्ञान सम्पदा में आज की पर्यावरणीय समस्याओं के हल खोजे जा सकते हैं।

प्रकृति और मनुष्य : भारतीय दृष्टि– भारतीय पारम्परिक दृष्टिकोण में प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध कभी भी उपयोगितावादी नहीं रहा है। जब से सभ्यता का विकास हुआ, प्रकृति मनुष्य की सहचरी होकर, उसे सभ्यता के नये-नये आयामों पर पहुँचने में सहायक रही है। कृषि-उद्योग,

* शोधार्थी– हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

व्यापार इत्यादि प्रकृति से ही सम्भव हो सके। इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण के होते हुए भी प्राचीन मनुष्य ने प्रकृति के भीषण रूपों को देखा था। झंझावातों, भूकम्पों, बाढ़, सूखे इत्यादि से वह भयभीत हुआ, तो वहीं नाना प्रकार के पुष्पों, अनाजों और भूजल को देखकर वह जननी पृथ्वी के प्रति स्नेह से भी भर उठा था। इन रूपों के कारण उसने प्राकृतिक अव्ययों को अपने पूजा-विधान में शामिल कर लिया।

प्राचीन भारत में उन्नत 'सिंधु सरस्वती नगर सभ्यता' में हमें प्रकृति-पूजा के सैकड़ों प्रमाण मिलते हैं। पीपल वृक्ष का महत्त्व, पशुपति रुद्र की आकृति और मातृपृथ्वी की देवी रूप में मूर्ति सिंधु सभ्यता के प्रकृति-पूजक सभ्यता होने का प्रमाण देता है। बाद में; वैदिक धर्म ने तो प्रकृति के तत्त्वों को देवताओं के रूप में अधिष्ठित कर भारतीय संस्कृति को महान प्रकृति-पूजक संस्कृति होने का गौरव प्रदान किया। 'अथर्ववेद' में वैदिक ऋषि स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि पृथ्वी मेरी माता हैं और मैं उनका पुत्र– **'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथ्वीयाः'**[१]

कालान्तर में, उपनिषद्काल में हमें प्रकृति और मानव के सम्बन्ध को दर्शाने वाले अनेक उदाहरण मिलते हैं। 'तैत्तरीय उपनिषद्' में अपने आस-पास के वातावरण को स्वच्छ रखने की बात कही गयी है। अत: यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ज्ञान ने मनुष्य को पृथ्वी का स्वामी घोषित नहीं किया, अपितु प्रकृति के साथ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सम्बन्ध स्थापित किया।

सन्तों की वाणियों में भी पर्यावरण के विषय में पर्याप्त चिन्तन देखने को मिलता है। 'सन्त जंभा जी' ने अपने दर्शन में प्रकृति को ही ब्रह्म माना है और वृक्षों को माता-पिता। उनसे ही हमारा अस्तित्व है और वही हमारा पालन-पोषण करते हैं। वे कहते हैं–

'रूँख हमारे मात पित, तुम्हरै काहा जुवैर।
इमृत पिया जो सरै, तो काहे पियो झैर।।'

दर्शन और नीति के उपदेश देने हेतु सन्तों की वाणियों में प्रकृति की महिमा बारम्बार वर्णित हुई है। अध्यात्म और प्रकृति का मेल कराने वाली ऐसी अनेक उक्तियाँ हमें भारतीय समाज के सामान्य कण्ठों में सुशोभित मिलेंगी। कबीरदास जी कहते हैं–

'वृक्ष कबहुं नहीं फल भखे, नदी न संचे नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर।।'

आदिवासियों की तो जीवन-शैली में ही प्रकृति निवासरत है। प्रकृति उनके समस्त जीवन का प्राण है। वे प्रकृति के निकटस्थ हैं, उसी से जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी को पूजते हैं और उसको ही सहेजते हैं। आदिवासी देवी-देवता प्रकृति के ही रक्षक हैं। वे उन्हीं वृक्षों, जीव-जन्तुओं में निवास करते हैं, जो शायद शहरी लोगों या उनकी जीवन-शैली के लिए महत्त्वहीन हों।

'बैगा जनजाति' साल वृक्ष को देवता के समक्ष स्वीकारती है। 'गोंड जनजाति' मधुमक्खियों की पूजा करती है, तो 'भील' घोड़े को शुभता का प्रतीक मानते हैं। अधिकांश आदिवासी समाज में धरती पर हल चलाना वर्जित है। मान्यता है कि इससे माता पृथ्वी को पीड़ा पहुँचती है। विष्णोई समाज का जीव-जन्तु प्रेम तो जग-ज़ाहिर ही है। संक्षेप में कहा जाए; तो भारतीय प्रकृति-दर्शन आज के आधुनिक अथवा पश्चिम के समान नफ़ा-नुक़सान और भौतिकतावादी न होते हुए पारस्परिक निर्भरता और आध्यात्मिक आधार पर आश्रित है।

वर्तमान पर्यावरणीय संकट में भारतीय ज्ञान सम्पदा की भूमिका– भारत भूमि की ज्ञान-मनीषा ने प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए वर्षों से ज्ञान और परम्पराओं की अनूठी सम्पदा एकत्रित की है। ध्यातव्य हो कि वैश्विक परिदृश्य में आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय क्षेत्रों में जिस सतत् विकास की परिकल्पना 'ब्रुटलैण्ड' रिपोर्ट ने १९८७ में दी, भारतीय ज्ञान

विचारधारा में इसके बीज सदैव से विद्यमान रहे हैं। बल्कि यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि भारतीय जीवन-शैली ही 'धारणीय प्रकृति' की रही है। विश्व जिन प्राकृतिक चुनौतियों का सामना कर रहा है, उसमें हमारी जीवन-शैली का प्रकृति के प्रति उदासीन होना प्रमुख है। उसमें प्रकृति के प्रति धारणीयता का अभाव है, जिसके परिणाम प्राकृतिक हैं। यह असन्तुलन कई क्षेत्रों में देखने को मिल रहा है। कृषि-क्षेत्र भी इससे प्रभावित हुआ है। 'रासायनिक उर्वरकों' के अत्यधिक प्रयोग से मृदा और जल-प्रदूषण के ख़तरे बढ़ रहे हैं। उत्पादकता को बढ़ाने के तीव्र ज़ोर से एवं बिना अनुसंधान के आनुवांशिक रूप से संशोधित फसलों (GM फसल) के बढ़ते प्रयोग से पारिस्थितिक तन्त्र को भी नुक़सान पहुँच रहा है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्राचीन ग्रन्थ, जैसे– 'वृक्षायुर्वेद' एवं 'कृषिसूत्र' इत्यादि ग्रन्थों में पारम्परिक कृषि उत्पादक तकनीकों का वर्णन मिलता है। न्यूनतम मानवीय हस्तक्षेप आधारित कृषि प्रणाली का विकास सतत् विकास लक्ष्यों में भी वर्णित है। भारतीय पारम्परिक ज्ञान इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। भारत सरकार द्वारा पारम्परिक कृषि विकास योजना इसी दिशा में एक महती प्रयास है। इसी प्रकार, आदिवासी ज्ञान परम्परा में बीज उत्पादन एवं सम्वर्धन की एक विशिष्ट परम्परा कई जनजातियों में देखने को मिलती है। आधुनिक विज्ञान के सामंजस्य से इसे आज के युगानुरूप बनाया जा सकता है। कृषि की इस स्वदेशी प्रणाली को अपनाकर हम पशुपालन एवं क्षेत्र से होने वाले ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को भी कम कर सकते हैं। बढ़ते माँस-भक्षण ने भी पर्यावरण को नुक़सान पहुँचाया है। पशुपालन उद्योगों ने पशु-क्रूरता के साथ ही; जल-अपव्यव और पर्यावरणीय असंतुलन निर्मित किया है। भारतीय ज्ञान दर्शन, जैसे– वैष्णव, जैन और बौद्धमत अहिंसा आधारित रहे हैं। पर्यावरण और धार्मिक आधार पर शाकाहार को बढ़ावा देना हमारे लिए हितकर है। प्राकृतिक आपदाएँ मानवीय प्रभावों के चलते और भी अधिक भीषण हुई हैं। शहरी क्षेत्रों में बाढ़, बादल फटने की घटनाएँ, अत्यधिक ताप और कोविड जैसी महामारियों के प्रभावों को आज देश झेल रहा है। प्राकृतिक आपदाओं को अत्यधिक भीषण बनाने का एक कारक 'दोषपूर्ण नगर, नियोजन' है।

प्राचीन काल में हड़प्पा सभ्यता के नगरों की संरचनाएँ हमारी वर्तमान शहरी विकास की योजनाओं पर भली-भाँति लागू हो सकती हैं। प्राचीन ग्रन्थ, जैसे– 'नारद शिल्प शास्त्र' और 'कश्यप शिल्प शास्त्र' हमें नगर-निर्माण, नगरों की संरचना, जल-प्रबंधन जैसे जटिल विषयों का ज्ञान कराते हैं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में, तो वहीं राजा भोज कृत 'समरांगण सूत्रधार' में भी नगर-नियोजन और शिल्प सम्बन्धी विस्तृत वर्णन मिलता है। बढ़ते नगरीकरण और इसके प्रभावी प्रबंधन में हमारी प्राचीन विद्या कार्य में आ सकती है। इससे प्राकृतिक आपदाओं की भीषणता को रोका जा सकता है।

वर्तमान पर्यावरणीय संकटों में प्रमुख रूप से जो संकट उभरा है, वह 'जल संकट' है। जल का न्यायपूर्ण उपयोग, शुद्ध जल की पहुँच और संरक्षण जलवायु परिवर्तन और बढ़ते प्रदूषण के मध्य और भी आवश्यक हो गया है। जलसंरक्षण की प्राचीन विधाएँ लगभग भारत के प्रत्येक क्षेत्र में, क्षेत्र के भूगोल अनुसार, बनायी जाती रही हैं। महाराष्ट्र और विदर्भ में 'टांका', केरल में 'सुरंगा बावड़ी', तो वहीं नागालैण्ड में 'ज़ाबो' इत्यादि के रूप में जल-संरक्षण और सिंचाई के लिए उपयोग में लायी जाती रही हैं। भारत के अनेक शहरों में राजा-महाराजाओं और नवाबों ने तालाबों का निर्माण कराया। सिंधु-सरस्वती सभ्यता के 'लोथल' में हमें सबसे प्राचीन छोटे-छोटे बाँधों की संरचना प्राप्त होती है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जल के उचित प्रबंधन पर विस्तृत चर्चा की गयी है।

वर्तमान समय में जल के उचित संरक्षण और भूजल प्रबंधन में ये प्राचीन सिंचाई प्रणालियाँ आधुनिकता के साथ प्रयोग में लायी जा सकती हैं। अपशिष्ट का उचित प्रबंधन न होने से प्रदूषण

का प्रकोप बढ़ रहा है। वर्तमान अपशिष्ट प्रबंधन की अवधारणा 3R (Reduce, Reuse, Recycle) अर्थात् 'अपशिष्ट की मात्रा कम करें, पुन: उपयोग करें और पुन: चक्रित करें' की है। ये सभी अवधारणाएँ भारतीय परम्परा में सदियों से अभिहित रही हैं। 'पुनर्चक्रण' (Recycling) की अवधारणा संयम से गहरी जुड़ी हुई है। भारतीय ज्ञान परम्परा में 'जैन दर्शन' संयम और त्याग का समर्थन करता है। जैन दर्शन श्रमणों एवं गृहस्थों को संयमित जीवन-शैली अपनाने का उपदेश देता है। यह 3R की आधुनिक अवधारणा से मेल खाता है। अथर्ववेद में भी इसी अवधारणा का परिपालन हुआ है–

'यत्तेभूमेविखनामिक्षिप्र तदपि रोहतु।
मातेमर्मविमृग्वरिमातेहृदयमर्पिपम।।'

अर्थात् मनुष्य पृथ्वी और पर्यावरण का जितना दोहन करता है, उतनी क्षतिपूर्ति भी तुरन्त कर देनी चाहिए। हम जितने भी संसाधनों के लिए पृथ्वी का दोहन करते हैं, तत्काल एक वृक्ष को रोपकर उसकी क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए। वर्तमान जलवायु परिवर्तन के मध्य यह वेद-सूक्ति पथ-प्रदर्शक है। यह सृष्टि जीव और अजीव के परस्पर सम्बन्ध से निर्मित हुई है। मनुष्य के साथ ही अन्य जीवों, यथा– पशु-पक्षियों, कीटों, पादपों का इस सृष्टि पर उतना ही अधिकार है, जितना मनुष्य का। किन्तु, मनुष्य ने स्वार्थसिद्धि और धन की अंधी दौड़ में जीवों की हत्या प्रारम्भ की। वृक्षों की कटाई कर जंगलों को नष्ट कर दिया, जिससे पारिस्थितिक तन्त्र को क्षति और जलवायु परिवर्तन जैसे संकट हमारे समक्ष उपस्थित हो गये हैं। भारतीय ज्ञान परम्परा में केवल मनुष्य को ही सृष्टि का स्वामी स्वीकार नहीं किया गया है। जैन दर्शन के 'तत्त्वार्थ सूत्र' में 'परस्परो ग्रहो जीवानाम्' (जीवों के परस्पर में उपकार है) का उपदेश मिलता है, अर्थात् प्रत्येक जीव एक दूसरे पर आश्रित है। जैव विविधता के संरक्षण में यही सिद्धान्त पूरे विश्व का दिग्दर्शन कर सकता है।

निष्कर्षत: वर्तमान जलवायु परिवर्तन और अन्य समस्याओं के मध्य भारत एक निर्णायक भूमिका में विश्व के सम्मुख खड़ा है। भारत सरकार ने 'ग्लासगो' में आयोजित संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन फ्रेमवर्क कन्वेन्शन के पक्षकारों के सम्मेलन (COP 26) में पाँच अमृत तत्त्व (पंचामृत) प्रस्तुत किए, जो नवीकरणीय ऊर्जा को बढ़ावा देने एवं भारत को शून्य उत्सर्जन के लक्ष्य को प्राप्त करने का महती उद्देश्य रखा है। भारत सरकार ने ही प्रधानमन्त्री की पहल के अनुसार, 'मिशन लाइफ' (पर्यावरण के लिए जीवन-शैली) की शुरुआत की है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य दैनन्दिन जीवन में प्राकृतिक संसाधनों के न्यायपूर्ण उपयोग को सुनिश्चित करने, संयमित जीवन-शैली और चक्रीय अर्थव्यवस्था के विकास की बात की है। इन सभी कार्यक्रमों के पीछे भारतीय प्रकृति-दर्शन कार्य कर रहा है, जो मनुष्य, प्रकृति, जल, पशु-पक्षी में ब्रह्म की छाया देखता है। वैदिक ऋषियों ने इसी प्रकृति की आराधना में ऋचाएँ कहीं और आदिवासी संस्कृति ने प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की अपनी अनूठी ज्ञान-सम्पदा विकसित की। भारत की यही पारम्परिक ज्ञान-सम्पदा वर्तमान पर्यावरण के संकटों को बेहतर ढंग से समझने और निदानात्मक उपायों में प्रमुख भूमिका निभा सकती है, जिससे– 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चितदु:ख भागभवेत' का औपनिषदीय मन्त्र साकार हो सके।

'प्रकृति नहीं डरकर रुकती है, कभी किसी के भय से।
वह तो सदा चलती है अपने ही, नियमों के जय से।।'

–रामधारी सिंह दिनकर

●

उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण एवं सम्वर्धन में 'पंच-परिवर्तन' की भूमिका

डॉ. नागेन्द्र कुमार सिंह*

सारांश (Abstract) : उत्तर प्रदेश भारतीय सभ्यता और संस्कृति का एक प्राचीन एवं प्रमुख केन्द्र रहा है, जहाँ विविध धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक परम्पराओं का अद्वितीय समन्वय देखने को मिलता है। यह प्रदेश न केवल आध्यात्मिक चेतना का सम्वाहक है, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक निरन्तरता का जीवन्त उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। काशी, अयोध्या, मथुरा, प्रयागराज एवं चित्रकूट जैसे धार्मिक स्थल जहाँ इसकी आध्यात्मिक गरिमा को स्थापित करते हैं, वहीं लोककला, संगीत, नृत्य एवं शिल्प-परम्पराएँ इसकी सांस्कृतिक समृद्धि को अभिव्यक्त करती हैं।

'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा, जिसमें सांस्कृतिक पुनरुत्थान, सामाजिक समरसता, आर्थिक सशक्तीकरण, बौद्धिक विकास तथा राष्ट्रीय चेतना के आयाम सम्मिलित हैं, उत्तर प्रदेश की इस बहुआयामी विरासत को समझने एवं सुदृढ़ करने के लिए एक प्रभावी वैचारिक ढाँचा प्रदान करती है। प्रस्तुत शोध-पत्र में इन पाँचों आयामों के सन्दर्भ में प्रदेश की विरासत का सम्यक् विश्लेषण किया गया है, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार ऐतिहासिक चेतना, भाषाई विविधता, पारम्परिक उद्योग तथा शैक्षिक संस्थान इस प्रक्रिया को गतिशील बनाते हैं। अध्ययन यह भी इंगित करता है कि वर्तमान वैश्वीकरण एवं तकनीकी युग में सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण हेतु नवाचार अत्यन्त आवश्यक है। विशेषत: कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल अभिलेखीकरण तथा सांस्कृतिक पर्यटन के आधुनिकीकरण के माध्यम से इस धरोहर को वैश्विक मंच पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। अत: यह शोध निष्कर्षत: प्रतिपादित करता है कि 'पंच-परिवर्तन' के समन्वित दृष्टिकोण के माध्यम से उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण, सम्वर्धन एवं सतत् विकास सुनिश्चित किया जा सकता है।

मुख्य शब्द (Key Words) : सांस्कृतिक विरासत, पंच-परिवर्तन, सामाजिक समरसता, आर्थिक सशक्तीकरण, सांस्कृतिक संरक्षण, भाषाई विविधता, कृत्रिम बुद्धिमत्ता।

१. प्रस्तावना (Preamble) : उत्तर प्रदेश न केवल भारत का जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा राज्य है, बल्कि यह सांस्कृतिक विविधता, धार्मिक आस्था और ऐतिहासिक विरासत का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र भी है। काशी के रूप में विख्यात् वाराणसी (काशी), अयोध्या तथा मथुरा जैसे नगर भारतीय आध्यात्मिकता, भक्ति और दार्शनिक परम्पराओं के शाश्वत प्रतीक हैं। इसी प्रकार प्रयागराज, चित्रकूट तथा नैमिषारण्य जैसे तीर्थस्थल धार्मिक चेतना, तप और साधना की परम्परा को निरन्तर जीवित रखते हैं। यह प्रदेश केवल आस्था का केन्द्र ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विकास की एक सशक्त धुरी भी है।

उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत बहुआयामी स्वरूप लिए हुए है, जिसमें ललित कला, लोककला, संगीत, नृत्य तथा पारम्परिक शिल्प की समृद्ध परम्पराएँ सम्मिलित हैं। बनारसी वस्त्र,

* निदेशक– महामना मदन मोहन मालवीय हिन्दी पत्रकारिता संस्थान तथा विभागाध्यक्ष– पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, जनसम्पर्क अधिकारी, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

भदोही की कालीन, मुरादाबाद का पीतल शिल्प तथा लखनऊ की चिकनकारी जैसी कलाएँ– न केवल आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, बल्कि सांस्कृतिक पहचान को भी सुदृढ़ करती हैं। काशी घराने की संगीत परम्परा, ठुमरी, दादरा तथा कजरी जैसी शैलियाँ इस प्रदेश की सांगीतिक गरिमा को अभिव्यक्त करती हैं। राजनीतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भी उत्तर प्रदेश का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। मेरठ तथा कानपुर जैसे नगर सन् १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रमुख केन्द्र रहे, जहाँ से स्वतन्त्रता-संग्राम की चेतना का व्यापक प्रसार हुआ। सामाजिक संरचना की दृष्टि से यहाँ की भाषाई विविधता– अवधी, ब्रज, भोजपुरी, बुन्देली तथा खड़ी बोली– समाज में समरसता और सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ करती है। आर्थिक परिप्रेक्ष्य में उत्तर प्रदेश पारम्परिक उद्योगों और व्यापारिक गतिविधियों का एक सशक्त केन्द्र रहा है। वाराणसी, लखनऊ, भदोही, मुरादाबाद तथा फिरोजाबाद जैसे नगर कुटीर एवं लघु उद्योगों के माध्यम से, स्थानीय से वैश्विक स्तर तक, अपनी विशिष्ट पहचान बनाए हुए हैं। साथ ही; शैक्षिक दृष्टि से वाराणसी और प्रयागराज जैसे केन्द्र भारतीय बौद्धिक परम्परा के प्रमुख सम्वाहक रहे हैं।

इन समस्त आयामों को समेकित रूप में समझने के लिए 'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा अत्यन्त प्रासंगिक सिद्ध होती है। यह अवधारणा सांस्कृतिक पुनरुत्थान, सामाजिक समरसता, आर्थिक सशक्तीकरण, बौद्धिक विकास तथा राष्ट्रीय चेतना के समन्वित विकास पर आधारित है। आधुनिक युग में, विशेषकर कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल अभिलेखीकरण तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रभावी उपयोग के माध्यम से, उत्तर प्रदेश की इस समृद्ध विरासत का संरक्षण एवं सम्वर्धन सम्भव है। अत: स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि भविष्य के सतत् एवं समावेशी विकास की आधारशिला भी है।

२. धार्मिक विरासत (Religious Heritage) और 'पंच-परिवर्तन' : उत्तर प्रदेश का धार्मिक स्वरूप अत्यन्त समृद्ध, प्राचीन एवं बहुआयामी है, जो भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक आत्मा का सजीव प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। यह प्रदेश न केवल विविध आस्थाओं का संगम है, बल्कि धार्मिक सहअस्तित्व, परम्परा और सांस्कृतिक निरन्तरता का भी सशक्त उदाहरण है। काशी के रूप में विख्यात् वाराणसी, अयोध्या, मथुरा, नैमिषारण्य, प्रयागराज, चित्रकूट तथा गढ़मुक्तेश्वर जैसे तीर्थस्थल इस धार्मिक विरासत के प्रमुख स्तम्भ हैं।

काशी को विश्व की प्राचीनतम जीवित नगरी माना जाता है, जहाँ शिव-भक्ति और गंगा-आराधना का अद्वितीय संगम देखने को मिलता है। यह नगर केवल धार्मिक अनुष्ठानों का केन्द्र नहीं, बल्कि आध्यात्मिक ज्ञान, तन्त्र-मन्त्र, दर्शन और मोक्ष की अवधारणा का भी मूल आधार है। इसी प्रकार, अयोध्या भगवान् श्रीराम की जन्मभूमि होने के कारण वैष्णव परम्परा का केन्द्र है, जहाँ रामभक्ति के माध्यम से मर्यादा, धर्म और आदर्श जीवन-मूल्यों का सम्प्रेषण होता है। मथुरा तथा उसका ब्रज क्षेत्र श्रीकृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध है, जिसने भक्ति आन्दोलन को व्यापक जनाधार प्रदान किया।

नैमिषारण्य वैदिक ऋषियों की तपस्थली के रूप में प्रसिद्ध है, जहाँ पुराणों की रचना एवं श्रवण की परम्परा विकसित हुई। प्रयागराज गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम के कारण अत्यन्त पवित्र माना जाता है तथा यहाँ आयोजित कुम्भ और अर्धकुम्भ विश्व के सबसे बड़े धार्मिक समागमों में गिने जाते हैं। चित्रकूट रामायणकालीन घटनाओं से जुड़ा हुआ है, जहाँ

भगवान् राम ने अपने वनवास का महत्त्वपूर्ण समय व्यतीत किया। इसी प्रकार, गढ़मुक्तेश्वर गंगा तट पर स्थित एक प्रमुख तीर्थस्थल है, जहाँ धार्मिक आस्था और लोक-परम्पराओं का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

इन समस्त धार्मिक स्थलों का महत्त्व केवल आध्यात्मिक या आस्थात्मक ही नहीं है, बल्कि ये सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन को भी गहराई से प्रभावित करते हैं। यही वह बिन्दु है, जहाँ 'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा इन स्थलों से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ती है।

प्रथम, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के सन्दर्भ में ये तीर्थस्थल प्राचीन परम्पराओं, अनुष्ठानों और धार्मिक मान्यताओं को संरक्षित करते हुए उन्हें नयी पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। काशी की गंगा आरती, अयोध्या के रामोत्सव, मथुरा की रासलीला और प्रयागराज का कुम्भ– ये सभी सांस्कृतिक पुनर्जागरण के जीवन्त उदाहरण हैं।

द्वितीय, सामाजिक समरसता की दृष्टि से ये धार्मिक स्थल विविध जातियों, वर्गों और समुदायों के लोगों को एक मंच पर लाते हैं। कुम्भ मेले में करोड़ों लोगों का एकत्र होना सामाजिक एकता और सामूहिक चेतना का प्रतीक है, जहाँ भेद-भाव का लोप होकर समरसता का भाव प्रबल होता है।

तृतीय, आर्थिक सशक्तीकरण के आयाम में धार्मिक पर्यटन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इन स्थलों पर आने वाले लाखों-करोड़ों श्रद्धालु स्थानीय व्यापार, हस्तशिल्प, परिवहन और सेवा-क्षेत्रों को सुदृढ़ करते हैं, जिससे स्थानीय अर्थव्यवस्था को गति मिलती है। वाराणसी के वस्त्र उद्योग, मथुरा के प्रसाद तथा प्रयागराज के मेला-आधारित व्यापार इसका उदाहरण हैं।

चतुर्थ, बौद्धिक विकास के सन्दर्भ में ये स्थल ज्ञान, दर्शन और अध्यात्म के केन्द्र रहे हैं। काशी में वेद, उपनिषद और दर्शन का अध्ययन, नैमिषारण्य में पुराणों की परम्परा तथा प्रयागराज में विद्वानों की संगोष्ठियाँ– ये सभी बौद्धिक चेतना को समृद्ध करते हैं।

पंचम, राष्ट्रीय चेतना के स्तर पर ये धार्मिक स्थल भारतीयता की एकता को सुदृढ़ करते हैं। देश के विभिन्न भागों से लोग इन तीर्थों पर एकत्र होकर एक साझा सांस्कृतिक पहचान का अनुभव करते हैं, जिससे राष्ट्र के प्रति समर्पण और एकता की भावना प्रबल होती है।

आधुनिक सन्दर्भ में, इन धार्मिक स्थलों के संरक्षण और सम्वर्धन हेतु नवीन तकनीकों, विशेषतः कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल अभिलेखीकरण और आभासी पर्यटन का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। इससे न केवल इन स्थलों की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित रहेगी, बल्कि वैश्विक स्तर पर इनके प्रचार-प्रसार में भी वृद्धि होगी।

अतः स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश की धार्मिक विरासत केवल आस्था का विषय नहीं, बल्कि 'पंच-परिवर्तन' के समग्र विकासात्मक दृष्टिकोण का एक सशक्त आधार है, जो सांस्कृतिक संरक्षण, सामाजिक समरसता, आर्थिक उन्नति, बौद्धिक विस्तार तथा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करता है।

३. सांस्कृतिक विरासत (Cultural Heritage) और 'पंच-परिवर्तन' : उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक पहचान उसकी बहुआयामी कला, संगीत तथा लोक-परम्पराओं में निहित है, जो इस प्रदेश की ऐतिहासिक निरन्तरता और सामाजिक जीवन का सशक्त आधार प्रस्तुत करती है। यहाँ की सांस्कृतिक विरासत न केवल सौन्दर्य-बोध और रचनात्मकता का प्रतीक है, बल्कि यह

लोकजीवन, आस्था और सामाजिक संरचना के साथ गहराई से जुड़ी हुई है। ललित कला एवं शिल्प के क्षेत्र में काशी की बनारसी साड़ी, भदोही की कालीन तथा मुरादाबाद का पीतल शिल्प विश्व स्तर पर प्रसिद्ध है। ये परम्पराएँ केवल हस्तकला का उदाहरण नहीं हैं, बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित सांस्कृतिक ज्ञान और कौशल का प्रतीक हैं।

संगीत की दृष्टि से उत्तर प्रदेश अत्यन्त समृद्ध रहा है। काशी घराना भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक महत्त्वपूर्ण परम्परा है, जिसने ठुमरी, दादरा और कजरी जैसी शैलियों को विकसित और संरक्षित किया है। विशेष रूप से; मिर्जापुर क्षेत्र की कजरी, लोकसंगीत की भावात्मक अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमें वर्षा ऋतु, विरह और लोकजीवन की सम्वेदनाएँ प्रकट होती हैं। इसी प्रकार, लोककला के अन्तर्गत नौटंकी, रासलीला तथा कथक नृत्य शैली इस प्रदेश की सांस्कृतिक चेतना को जीवन्त बनाए रखती हैं। कथक, जो मूलत: मन्दिरों की कथा-वाचन परम्परा से विकसित हुआ, आज एक वैश्विक स्तर पर मान्यता प्राप्त शास्त्रीय नृत्यशैली है।

इन समस्त सांस्कृतिक तत्त्वों का महत्त्व केवल कलात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि ये 'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा के विभिन्न आयामों से भी गहराई से जुड़े हुए हैं। सर्वप्रथम, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के सन्दर्भ में ये परम्पराएँ अतीत की सांस्कृतिक धरोहर को वर्तमान में जीवित रखते हुए उसे नयी पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य करती हैं। बनारसी बुनाई, कालीन-निर्माण और पीतल शिल्प जैसे उद्योग पारम्परिक तकनीकों के संरक्षण के साथ-साथ नवाचार को भी प्रोत्साहित करते हैं।

द्वितीय, सामाजिक समरसता की दृष्टि से सांस्कृतिक गतिविधियाँ विभिन्न वर्गों और समुदायों को एक मंच पर लाने का कार्य करती हैं। लोकनाट्य और लोकसंगीत के आयोजन सामाजिक सम्वाद और सहभागिता को बढ़ाते हैं, जिससे समाज में एकता और सौहार्द्र की भावना सुदृढ़ होती है।

तृतीय, आर्थिक सशक्तीकरण के आयाम में ये सांस्कृतिक उद्योग स्थानीय रोजगार-सृजन और आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भदोही का कालीन उद्योग, मुरादाबाद का पीतल उद्योग तथा काशी का वस्त्र उद्योग अन्तरराष्ट्रीय बाजार में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं, जिससे विदेशी मुद्रा-अर्जन और स्थानीय अर्थव्यवस्था को मजबूती मिलती है।

चतुर्थ, बौद्धिक विकास के सन्दर्भ में कला और संगीत रचनात्मकता, सौन्दर्य-बोध और सांस्कृतिक चेतना को विकसित करते हैं। ये न केवल मनोरंजन के साधन हैं, बल्कि मानवीय सम्वेदनाओं और सामाजिक मूल्यों के सम्वाहक भी हैं।

पंचम, राष्ट्रीय चेतना के स्तर पर ये सांस्कृतिक परम्पराएँ भारतीयता की पहचान को सुदृढ़ करती हैं। कथक, रासलीला और लोकसंगीत जैसी विधाएँ भारत की सांस्कृतिक एकता को वैश्विक मंच पर प्रस्तुत करती हैं, जिससे राष्ट्रीय गौरव की भावना का विकास होता है।

आधुनिक युग में, इन सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण और सम्वर्धन के लिए नवीन तकनीकों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। डिजिटल अभिलेखीकरण, ऑनलाइन मंचों के माध्यम से प्रस्तुति तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित संरक्षण-प्रणाली इन कलाओं को वैश्विक स्तर पर प्रसारित करने में सहायक हो सकती हैं।

अत: स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत 'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा के

अन्तर्गत सांस्कृतिक पुनर्जागरण, सामाजिक समरसता, आर्थिक सशक्तीकरण, बौद्धिक विकास और राष्ट्रीय चेतना को सुदृढ़ करने में एक केन्द्रीय भूमिका निभाती है।

४. राजनीतिक आन्दोलन एवं ऐतिहासिक चेतना (Political Movements & Historical Consciousness) और 'पंच-परिवर्तन' : उत्तर प्रदेश भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का एक प्रमुख केन्द्र रहा है, जहाँ राजनीतिक आन्दोलनों और ऐतिहासिक चेतना ने राष्ट्रीय जीवन को गहराई से प्रभावित किया। वाराणसी (Varanasi) राष्ट्रवादी गतिविधियों का एक सशक्त केन्द्र रहा, जहाँ से स्वतन्त्रता, स्वराज और सांस्कृतिक जागरण के विचार व्यापक रूप से प्रसारित हुए। इसी प्रकार, प्रयागराज में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अनेक ऐतिहासिक अधिवेशन आयोजित हुए, जिन्होंने स्वतन्त्रता-आन्दोलन को वैचारिक और संगठनात्मक दिशा प्रदान की। कानपुर सन् १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा, जहाँ जनसामान्य और सैनिकों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह किया। इस संग्राम में मंगल पाण्डेय जैसे वीर क्रान्तिकारियों ने निर्णायक भूमिका निभायी, जिसने राष्ट्रीय चेतना को प्रज्ज्वलित किया।

'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा के सन्दर्भ में उत्तर प्रदेश की यह राजनीतिक विरासत बहुआयामी महत्त्व रखती है। प्रथम, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के दृष्टिकोण से स्वतन्त्रता-संग्राम ने भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता को पुनर्जीवित किया। औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय परम्पराओं और मूल्यों को जो चुनौती मिली, उसका उत्तर स्वतन्त्रता-आन्दोलन ने स्वदेशी, स्वभाषा और स्वसंस्कृति के पुनरुत्थान के माध्यम से दिया। काशी और प्रयागराज जैसे केन्द्र इस सांस्कृतिक जागरण के प्रमुख स्थल रहे।

द्वितीय, सामाजिक समरसता के आयाम में स्वतन्त्रता-संग्राम ने जाति, वर्ग और धर्म से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकता का सन्देश दिया। १८५७ के विद्रोह में विभिन्न समुदायों की संयुक्त भागीदारी इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रीय चेतना ने सामाजिक विभाजनों को कम करने का कार्य किया। इस प्रकार, उत्तर प्रदेश की भूमि सामाजिक समरसता के ऐतिहासिक प्रयोग का केन्द्र बनी।

तृतीय, आर्थिक सशक्तीकरण के सन्दर्भ में, स्वतन्त्रता-आन्दोलन के दौरान, स्वदेशी आन्दोलन ने स्थानीय उद्योगों, कुटीर उत्पादन और आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहित किया। कानपुर जैसे औद्योगिक नगरों में यह प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा गया, जहाँ विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और स्वदेशी उत्पादन को बढ़ावा दिया गया।

चतुर्थ, बौद्धिक विकास के परिप्रेक्ष्य में प्रयागराज और काशी जैसे नगरों ने विचार-विमर्श, लेखन और राजनीतिक विमर्श के माध्यम से स्वतन्त्रता-संग्राम को वैचारिक आधार प्रदान किया। यहाँ के शिक्षण संस्थानों, साहित्यकारों और पत्रकारों ने राष्ट्रीय चेतना को सुदृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

पंचम, राष्ट्रीय चेतना के स्तर पर उत्तर प्रदेश की यह ऐतिहासिक विरासत भारतीय राष्ट्रवाद की आधारशिला सिद्ध होती है। सन् १८५७ का संग्राम, काँग्रेस अधिवेशन और क्रान्तिकारी गतिविधियाँ– ये सभी घटनाएँ राष्ट्र के प्रति समर्पण, स्वाभिमान और एकता की भावना को सुदृढ़ करती हैं।

अत: स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश का राजनीतिक-आन्दोलन और ऐतिहासिक चेतना 'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा के अन्तर्गत सांस्कृतिक पुनर्जागरण, सामाजिक समरसता, आर्थिक आत्मनिर्भरता, बौद्धिक प्रगति और राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने में केन्द्रीय भूमिका निभाती है।

५. सामाजिक संरचना एवं भाषाई विविधता (Social Structure and Linguistic Diversity) और 'पंच-परिवर्तन' : उत्तर प्रदेश की सामाजिक संरचना उसकी समृद्ध भाषाई विविधता में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। यह प्रदेश अनेक बोलियों और भाषिक रूपों का संगम है, जो न केवल सम्प्रेषण का माध्यम है, बल्कि सांस्कृतिक पहचान, लोकजीवन और सामाजिक सम्बन्धों का भी वाहक है। मेरठ क्षेत्र की लट्ठमार अथवा खड़ी बोली शैली, पूर्वांचल के बलिया क्षेत्र की मधुर भोजपुरी तथा अवधी, ब्रज और बुन्देली जैसी बोलियाँ इस विविधता को सजीव रूप में अभिव्यक्त करती हैं। ये सभी भाषिक रूप अपने-अपने क्षेत्र की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विशेषताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं, जिससे उत्तर प्रदेश की सामाजिक संरचना बहुरंगी और समन्वित स्वरूप ग्रहण करती है।

'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा के सन्दर्भ में यह भाषाई विविधता बहुआयामी महत्त्व रखती है। प्रथम, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आयाम में ये बोलियाँ लोकसाहित्य, लोकगीत, कहावतों और परम्पराओं को संरक्षित करती हैं। अवधी में रचित रामकथा, ब्रज भाषा की कृष्णभक्ति-परम्परा तथा भोजपुरी लोकगीत सांस्कृतिक धरोहर के महत्त्वपूर्ण अंग हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानान्तरित होकर सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाए रखते हैं।

द्वितीय, सामाजिक समरसता के सन्दर्भ में भाषाई विविधता विभिन्न समुदायों के बीच सम्वाद और सह-अस्तित्व को सुदृढ़ करती है। भिन्न-भिन्न बोलियों के बावजूद; एक साझा सांस्कृतिक भावना का विकास होता है, जो सामाजिक एकता को प्रोत्साहित करता है। विभिन्न क्षेत्रों के लोग अपनी-अपनी भाषाई पहचान को बनाए रखते हुए भी व्यापक सामाजिक ढाँचे में समाहित रहते हैं, जिससे समरसता का वातावरण निर्मित होता है।

तृतीय, आर्थिक सशक्तीकरण के दृष्टिकोण से भाषाई विविधता लोककला, साहित्य, लोकमीडिया और सांस्कृतिक पर्यटन को प्रोत्साहित करती है। भोजपुरी सिनेमा, अवधी और ब्रज के सांस्कृतिक उत्सव तथा लोकनाट्य स्थानीय अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करते हैं और रोजगार के अवसर उत्पन्न करते हैं।

चतुर्थ, बौद्धिक विकास के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न भाषाएँ और बोलियाँ विचारों की विविधता को बढ़ावा देती हैं। ये भाषिक रूप न केवल ज्ञान के सम्प्रेषण का माध्यम हैं, बल्कि साहित्य, इतिहास और समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए भी महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान करते हैं। विभिन्न बोलियों में उपलब्ध साहित्यिक कृतियाँ समाज के विविध पक्षों को समझने में सहायक होती हैं।

पंचम, राष्ट्रीय चेतना के स्तर पर भाषाई विविधता 'विविधता में एकता' (Unity in Diversity) की भारतीय अवधारणा को साकार करती है। उत्तर प्रदेश की विभिन्न बोलियाँ मिलकर एक व्यापक भारतीय पहचान का निर्माण करती हैं, जो राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ करती है।

अत: स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश की सामाजिक संरचना और भाषाई विविधता 'पंच-परिवर्तन' के अन्तर्गत सांस्कृतिक पुनर्जागरण, सामाजिक समरसता, आर्थिक सशक्तीकरण, बौद्धिक विकास और राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

६. ऐतिहासिक विरासत (Historical Heritage) और 'पंच-परिवर्तन' : उत्तर प्रदेश का इतिहास प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक कालों में विभाजित एक अत्यन्त समृद्ध एवं बहुआयामी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रदेश भारतीय सभ्यता के विकास का

प्रमुख केन्द्र रहा है, जहाँ सांस्कृतिक निरन्तरता, धार्मिक आस्था और राजनीतिक चेतना का अद्वितीय समन्वय दृष्टिगत होता है। मेरठ, मथुरा तथा काशी (वाराणसी) जैसे स्थल इस ऐतिहासिक विरासत के महत्त्वपूर्ण प्रतीक हैं।

मेरठ को सन् १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का प्रारम्भिक केन्द्र माना जाता है, जहाँ से औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध व्यापक विद्रोह की शुरुआत हुई। यह घटना न केवल राजनीतिक संघर्ष का प्रतीक है, बल्कि राष्ट्रीय चेतना के उदय का भी द्योतक है। मथुरा प्राचीन काल से ही धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा है, जहाँ कला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य की उत्कृष्ट परम्पराएँ विकसित हुईं। काशी (वाराणसी) को निरन्तर सांस्कृतिक विकास का उदाहरण माना जाता है, जहाँ प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक ज्ञान, धर्म और संस्कृति का प्रवाह अविरल बना रहा है।

'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा के सन्दर्भ में उत्तर प्रदेश की ऐतिहासिक विरासत बहुआयामी महत्त्व रखती है। प्रथम, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अन्तर्गत यह विरासत प्राचीन परम्पराओं, स्थापत्य, साहित्य और धार्मिक मान्यताओं को पुनर्जीवित करती है। द्वितीय, सामाजिक समरसता के स्तर पर इतिहास विभिन्न समुदायों के साझा अनुभवों को जोड़ता है, जिससे सामाजिक एकता का विकास होता है। तृतीय, आर्थिक सशक्तीकरण में ऐतिहासिक स्थलों से जुड़े पर्यटन उद्योग स्थानीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करते हैं। चतुर्थ, बौद्धिक विकास के सन्दर्भ में यह विरासत अध्ययन, शोध और ज्ञान-विस्तार के लिए आधार प्रदान करती है। पंचम, राष्ट्रीय चेतना के स्तर पर ऐतिहासिक घटनाएँ और स्मृतियाँ नागरिकों में देशभक्ति और एकता की भावना को प्रबल करती हैं।

अत: स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश की ऐतिहासिक विरासत केवल अतीत का अभिलेख नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास की आधारशिला है, जो 'पंच-परिवर्तन' के समग्र दृष्टिकोण को सुदृढ़ करती है।

७. आर्थिक विरासत (Economic Heritage) और 'पंच-परिवर्तन' : उत्तर प्रदेश की अर्थव्यवस्था परम्परागत उद्योगों, कुटीर शिल्प तथा व्यापारिक गतिविधियों पर आधारित रही है, जिसने इस प्रदेश को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। वाराणसी का रेशमी वस्त्र उद्योग, लखनऊ की चिकनकारी, भदोही का कालीन उद्योग, कानपुर का चमड़ा उद्योग, मुरादाबाद का पीतल शिल्प तथा फिरोजाबाद का काँच उद्योग इस आर्थिक विरासत के प्रमुख उदाहरण हैं।

वाराणसी के रेशमी वस्त्र, विशेषत: बनारसी साड़ियाँ, अपनी उत्कृष्ट बुनाई और कलात्मकता के कारण विश्वभर में प्रसिद्ध हैं। लखनऊ की चिकनकारी सूक्ष्म कढ़ाई कला का अद्‌भुत उदाहरण है, जो पारम्परिक हस्तकला की पहचान को बनाए रखती है। भदोही का कालीन उद्योग अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर निर्यात के लिए प्रसिद्ध है, जबकि कानपुर का चमड़ा उद्योग औद्योगिक विकास का प्रमुख आधार रहा है। मुरादाबाद का पीतल शिल्प और फिरोजाबाद का काँच उद्योग भी स्थानीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

'पंच-परिवर्तन' के सन्दर्भ में यह आर्थिक विरासत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अन्तर्गत पारम्परिक शिल्प और उद्योग सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित करते हैं। द्वितीय, सामाजिक समरसता के स्तर पर ये उद्योग विभिन्न समुदायों को रोजगार प्रदान

कर सामाजिक संतुलन बनाए रखते हैं। तृतीय, आर्थिक सशक्तीकरण के दृष्टिकोण से ये उद्योग आत्मनिर्भरता और 'स्थानीय से वैश्विक' (Local to Global) की अवधारणा को सुदृढ़ करते हैं। चतुर्थ, बौद्धिक विकास के अन्तर्गत नवाचार, तकनीकी उन्नयन और कौशल विकास को बढ़ावा मिलता है। पंचम, राष्ट्रीय चेतना के स्तर पर स्वदेशी उत्पादों का प्रोत्साहन राष्ट्रीय गौरव और आत्मनिर्भरता की भावना को सुदृढ़ करता है।

अत: स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश की आर्थिक विरासत न केवल पारम्परिक उद्योगों का प्रतिनिधित्व करती है, बल्कि 'पंच-परिवर्तन' के माध्यम से समग्र आर्थिक और सामाजिक विकास की दिशा भी प्रदान करती है।

८. शैक्षिक विरासत (Educational Heritage) और 'पंच-परिवर्तन': उत्तर प्रदेश की शैक्षिक विरासत भारतीय बौद्धिक परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण आधार रही है, जिसने ज्ञान, दर्शन और अनुसंधान के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया है। काशी (वाराणसी) स्थित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा प्रयागराज स्थित इलाहाबाद विश्वविद्यालय इस विरासत के प्रमुख स्तम्भ हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का उद्देश्य भारतीय परम्परा और आधुनिक शिक्षा का समन्वय स्थापित करना था। यह विश्वविद्यालय आज भी विभिन्न विषयों में उच्च शिक्षा और शोध का एक प्रमुख केन्द्र है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय को 'पूर्व का ऑक्सफोर्ड' कहा जाता है, जिसने अनेक विद्वानों, प्रशासकों और नेताओं को तैयार किया है।

'पंच-परिवर्तन' के सन्दर्भ में शैक्षिक विरासत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रथम, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अन्तर्गत शिक्षा भारतीय परम्पराओं और मूल्यों को संरक्षित एवं प्रसारित करती है। द्वितीय, सामाजिक समरसता के स्तर पर शिक्षा समान अवसर प्रदान कर सामाजिक विषमताओं को कम करती है। तृतीय, आर्थिक सशक्तीकरण के सन्दर्भ में शिक्षा कौशल विकास और रोजगार-सृजन का आधार बनती है। चतुर्थ, बौद्धिक विकास के अन्तर्गत ज्ञान, अनुसंधान और नवाचार को बढ़ावा मिलता है। पंचम, राष्ट्रीय चेतना के स्तर पर शिक्षा नागरिकों में जिम्मेदारी, कर्तव्य और राष्ट्रभक्ति की भावना विकसित करती है।

अत: स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश की शैक्षिक विरासत 'पंच-परिवर्तन' के सभी आयामों को सुदृढ़ करते हुए समाज के समग्र विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

९. 'पंच-परिवर्तन' के माध्यम से सम्वर्धन के उपाय (Strategies for Enrichment) : उत्तर प्रदेश की समृद्ध सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक विरासत के संरक्षण और सम्वर्धन के लिए 'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा एक समग्र एवं दूरदर्शी रूपरेखा प्रस्तुत करती है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत सर्वप्रथम सांस्कृतिक पुनर्जागरण को सुदृढ़ करना आवश्यक है, जिसके लिए डिजिटल अभिलेखागारों का निर्माण, आभासी संग्रहालयों की स्थापना तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित सांस्कृतिक दस्तावेजीकरण को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इससे लुप्तप्राय परम्पराओं, लोककलाओं और ऐतिहासिक धरोहरों का संरक्षण सुनिश्चित होगा तथा नयी पीढ़ी को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ने में सहायता मिलेगी।

द्वितीय, धार्मिक पर्यटन का आधुनिकीकरण अत्यन्त आवश्यक है, जिसके अन्तर्गत स्मार्ट तीर्थ योजनाओं का विकास, ई-मार्गदर्शक (डिजिटल गाइड) प्रणाली का क्रियान्वयन तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापक प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए। इससे न केवल श्रद्धालुओं को

सुविधाजनक अनुभव प्राप्त होगा, बल्कि प्रदेश की वैश्विक पहचान भी सुदृढ़ होगी।

तृतीय, आर्थिक सशक्तीकरण के लिए भौगोलिक संकेतक (जीआई टैग) प्राप्त उत्पादों के अन्तरराष्ट्रीय विपणन को बढ़ावा देना तथा ई-वाणिज्य मंचों के माध्यम से स्थानीय उद्योगों को वैश्विक बाजार से जोड़ना आवश्यक है। इससे कुटीर एवं लघु उद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा और आत्मनिर्भरता की भावना सुदृढ़ होगी।

चतुर्थ, सामाजिक समरसता के सम्वर्धन हेतु भाषाई एवं सांस्कृतिक सम्वाद कार्यक्रमों का आयोजन तथा लोक-उत्सवों का संरक्षण और सम्वर्धन किया जाना चाहिए। इससे विभिन्न समुदायों के मध्य परस्पर समझ और सहयोग की भावना विकसित होगी, जो सामाजिक एकता को सुदृढ़ करेगी।

पंचम, शैक्षिक नवाचार के अन्तर्गत डिजिटल मानविकी, कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित अनुसंधान तथा पारम्परिक ज्ञान-प्रणालियों के एकीकरण को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इससे शिक्षा-प्रणाली अधिक समकालीन, व्यावहारिक और समावेशी बनेगी।

अत: स्पष्ट है कि 'पंच-परिवर्तन' के इन उपायों के माध्यम से उत्तर प्रदेश की बहुआयामी विरासत का संरक्षण, सम्वर्धन और सतत् विकास सुनिश्चित किया जा सकता है, जो भविष्य में इसे वैश्विक, सांस्कृतिक एवं बौद्धिक मानचित्र पर और अधिक सुदृढ़ स्थान प्रदान करेगा।

निष्कर्ष (Conclusion) : उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत बहुआयामी, समृद्ध तथा सतत् विकासशील परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है, जो भारतीय सभ्यता की आत्मा को मूर्त्त रूप प्रदान करती है। धार्मिक आस्था के केन्द्रों, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों, ऐतिहासिक चेतना, भाषाई विविधता, पारम्परिक आर्थिक संरचनाओं तथा शैक्षिक संस्थानों के समन्वित स्वरूप में यह प्रदेश न केवल अतीत के गौरवशाली धरोहर को सँजोए हुए है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के विकास के लिए भी एक सशक्त आधार प्रस्तुत करता है।

'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा इस समग्र विरासत को समझने और सुदृढ़ करने के लिए एक प्रभावी वैचारिक ढाँचा प्रदान करती है, जिसमें सांस्कृतिक पुनरुत्थान, सामाजिक समरसता, आर्थिक सशक्तीकरण, बौद्धिक विकास तथा राष्ट्रीय चेतना के पाँचों आयाम परस्पर सम्बद्ध एवं पूरक रूप में कार्य करते हैं। यह अवधारणा न केवल विरासत के संरक्षण का मार्ग प्रशस्त करती है, बल्कि उसे समकालीन सन्दर्भों में प्रासंगिक एवं गतिशील बनाए रखने का भी साधन बनती है।

वर्तमान वैश्वीकरण और तकनीकी युग में, विशेषत: कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल अभिलेखीकरण तथा आभासी माध्यमों के समुचित उपयोग से उत्तर प्रदेश की इस समृद्ध विरासत को वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। साथ ही; स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी, पारम्परिक ज्ञान के संरक्षण और नवाचार के समन्वय से यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि यह धरोहर आने वाली पीढ़ियों के लिए भी समान रूप से प्रेरणादायक बनी रहे।

अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि उत्तर प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत और 'पंच-परिवर्तन' की अवधारणा परस्पर पूरक हैं, जो मिलकर न केवल प्रदेश के समग्र विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक एकता, सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय गौरव को भी सुदृढ़ करते हैं।

सन्दर्भ-सूची (Reference) :

१. पी. अग्रवाल– भारत में उच्च शिक्षा का विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, (२०२०)

२. एस. कुमार– भोजपुरी और अवधी का सांस्कृतिक अध्ययनस, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, (२०२१)

३. बिपिन चंद्र– भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली, (२०१६)

४. जी. पाण्डेय– १८५७ का विद्रोह और भारतीय राष्ट्रवाद, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, नई दिल्ली, (२०१७)

५. जी. पाण्डेय– उत्तर प्रदेश का आर्थिक इतिहास, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, नई दिल्ली, (२०१७)

६. पी. मिश्र– उत्तर प्रदेश की लोक संस्कृति और परम्पराएँ. भारतीय लोक अनुसंधान पत्रिका, ८(२), ११२, (२०१९)

७. पी. मिश्र– उत्तर प्रदेश का राजनीतिक इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, (२०२०)

८. के. शर्मा– वाराणसी में धार्मिक पर्यटन का अध्ययन, विरासत अध्ययन पत्रिका, १२(३), ४५, (२०२०)

९. के. शर्मा– भारतीय इतिहास और संस्कृति, मैकमिलन, नई दिल्ली, (२०२०)

१०. के. शर्मा– भारतीय शिक्षा प्रणाली, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, (२०२१)

११. ए. शुक्ल– भारतीय समाज और भाषाई विविधता, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, (२०२०)

१२. आर. सिंह– भारत का सांस्कृतिक भूगोल, पियरसन प्रकाशन, नई दिल्ली, (२०१८)

१३. सुमित सरकार– आधुनिक भारत, मैकमिलन, नई दिल्ली, (२०१९)

१४. बी. तिवारी– हिन्दी भाषा और उसकी बोलियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, (२०१७)

१५. एस. त्रिपाठी– कृत्रिम बुद्धिमत्ता द्वारा सांस्कृतिक संरक्षण. अन्तरराष्ट्रीय डिजिटल मानविकी पत्रिका, ५(१), ४०, (२०२३)

१६. यूनेस्को– भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत, यूनेस्को प्रकाशन, पेरिस, (२०२१)

●

माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण का प्रभाव

डॉ. साधना त्रिपाठी*

सारांश– प्रस्तुत अध्ययन में माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण के प्रभाव को देखा गया है। प्रस्तुत शैक्षिक शोध में वर्णनात्मक अनुसंधान के अन्तर्गत सहसम्बन्धात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है। प्रयागराज जनपद में स्थित यू.पी. बोर्ड से सम्बद्ध माध्यमिक विद्यालयों के सभी छात्र-छात्राओं को प्रस्तुत अध्ययन के परिणामों के सामान्यीकरण हेतु जनसंख्या माना गया है। प्रयागराज जनपद में स्थित यू.पी. बोर्ड से सम्बद्ध माध्यमिक स्तर के १० विद्यालयों का स्तरीकृत न्यादर्श विधि द्वारा चयन किया गया है। पुन: प्रत्येक विद्यालय से ६०० विद्यार्थियों का चयन किया गया है, जिसमें इस प्रकार कुल ३०० छात्र एवं ३०० छात्राओं का चयन साधारण यादृच्छिक न्यादर्श विधि से किया गया है। डॉ. टी.आर. शर्मा द्वारा निर्मित 'एकेडमिक अचीवमेण्ट मोटीवेशन टेस्ट' एवं डॉ. करुणा शंकर मिश्रा द्वारा निर्मित 'पारिवारिक वातावरण अनुसूची' का प्रयोग इस शोध-पत्र हेतु किया गया है। प्रदत्तों के संकलन व मूल्यांकन के पश्चात् अगला पद उपयुक्त सांख्यिकीय विधियों, जिसमें एफ-अनुपात (प्रसरण विधि) एवं टी-अनुपात सांख्यिकी विधियों का प्रयोग कर प्रदत्तों का विश्लेषण एवं व्याख्या प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन के निष्कर्ष में पाया गया कि– माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा में अन्तर है, अर्थात् माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण का प्रभाव है। माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण के छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा में अन्तर है, अर्थात् माध्यमिक स्तर के छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण का प्रभाव है।

मुख्य शब्द– माध्यमिक स्तर, छात्र-छात्राएँ, अभिप्रेरणा, पारिवारिक वातावरण, एफ-अनुपात, टी-अनुपात।

प्रस्तावना– बिना किसी प्रेरणा से अभिप्रेरित हुआ व्यक्ति किसी कार्य को नहीं कर सकता है। अभिप्रेरणा एक ध्यानाकर्षण एवं प्रलोभन की कला है, जिसके परिणामस्वरूप; व्यक्ति के अन्दर किसी कार्य को सम्पन्न करने की इच्छा एवं जिज्ञासा निरन्तर उत्पन्न होती है, अर्थात् मानव-व्यवहार कुछ प्रेरकों द्वारा ही नियमित, प्रदर्शित एवं रूपान्तरित होता है। अभिप्रेरणा अधिगम का आवश्यक अंग है। इसके द्वारा किसी क्रिया को सीखने के लिए बालक में उत्साह उत्पन्न किया जा सकता है। अभिप्रेरणा आन्तरिक उत्तेजना एवं बाह्य उत्तेजना– दोनों प्रकार की हो सकती है। अभिप्रेरणा के सन्दर्भ में ड्रेवर ने लिखा है– ''अभिप्रेरणा एक भावात्मक क्रियात्मक कारक है, जो चेतन अथवा अवचेतन ढंग से निर्धारित परिणाम अथवा लक्ष्य की ओर व्यक्ति के व्यवहार की दिशा को निर्धारित करने के लिए क्रियाशील होता है।''

अभिप्रेरण व्यक्ति के अन्दर होने वाला शक्ति-परिवर्तन है, जो भावात्मक जागृति तथा

* असिस्टेंट प्रोफेसर– शिक्षक-शिक्षा विभाग, नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय), प्रयागराज (उ.प्र.)

पूर्वानुमान उद्देश्य द्वारा वर्णित होता है। डी. ए. यादव के अनुसार, ''मनोवैज्ञानिक अर्थ में अभिप्रेरणा से अभिप्राय केवल आन्तरिक उत्तेजनाओं से होता है, जिन पर हमारा व्यवहार आधारित होता है। मनोवैज्ञानिक अर्थ में बाह्य उत्तेजनाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है।''

अभिप्रेरणा पर सबसे अधिक प्रभाव पारिवारिक वातावरण का पड़ता है। बच्चों की प्रथम शिक्षा परिवार से ही शुरू होती है तथा परिवार के सदस्यों एवं माता-पिता के द्वारा जो अभिप्रेरणा उनको दिया जाता है, वे जीवनपर्यन्त उनको सकारात्मकता प्रदान करते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति को विकास के लिए जीवन के विभिन्न अवयवों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार छात्र की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अभिभावकों के स्नेह की भी आवश्यकता होती है। छात्र भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक– दोनों ही प्रकार की स्नेहपूर्ण प्रतिक्रियाएँ एवं सुरक्षा चाहता है। इनके अभाव में छात्र में असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो जाती है। स्नेह, माता-पिता के परस्पर सम्बन्ध एवं सन्तुलित व्यवहार से बालक की सम्वेगात्मक स्वीकार्यता आदि कारक छात्र को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मजबूत व दृढ़ निश्चयी बनाते हैं। इस प्रकार, अच्छी भावनाओं का परिणाम उच्च शैक्षिक उपलब्धि के रूप में बालकों के अन्दर प्रकट होता है। पूर्व अध्ययनों का अवलोकन करने से अध्ययन में पाया कि पारिवारिक वातावरण का छात्र-छात्राओं की अभिप्रेरणा पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है, जिसका समर्थन पूर्व अध्ययनों से होता है। इसमें प्राप्त परिणाम के समान अध्ययन के परिणाम में कुमार, अश्विनी एवं सोनी, आर. (२०१३) के अनुसार, घर का वातावरण शैक्षिक उपलब्धि अभिप्रेरणा के निर्धारकों में से एक है। सिंह, अमित (२०२०) के परिणाम, लिंग, क्षेत्र एवं वर्ग के आधार पर माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर पारिवारिक वातावरण का सकारात्मक प्रभाव है। निष्कर्ष के रूप में पाया गया कि माता-पिता को अपने बच्चों की स्कूल और घर पर शिक्षा में सहायता करने में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए, क्योंकि वे अपने बच्चों के पहले शिक्षक हैं।

अध्ययन का उद्देश्य–

१. माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करना।

२. माध्यमिक स्तर के छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ–

१. माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

२. माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण की छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

शोध-विधि– प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक अनुसंधान के अन्तर्गत सहसम्बन्धात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है।

जनसंख्या– प्रयागराज जनपद में स्थित यू.पी. बोर्ड से सम्बद्ध माध्यमिक विद्यालयों के सभी छात्र-छात्राओं को प्रस्तुत अध्ययन के परिणामों के सामान्यीकरण के लिए जनसंख्या माना गया है।

न्यादर्श– प्रयागराज जनपद में स्थित यू.पी. बोर्ड से सम्बद्ध माध्यमिक स्तर के १०

विद्यालयों का स्तरीकृत न्यादर्श विधि द्वारा चयन किया गया है। पुन: प्रत्येक विद्यालय से ६०० विद्यार्थियों का चयन किया गया है, जिनमें ३०० छात्र एवं ३०० छात्राओं का चयन साधारण यादृच्छिक न्यादर्श विधि से किया गया है।

अध्ययन हेतु प्रयुक्त उपकरण– डॉ. टी. आर. शर्मा द्वारा निर्मित 'एकेडमिक अचीवमेण्ट मोटीवेशन टेस्ट' तथा डॉ. करुणा शंकर मिश्रा द्वारा निर्मित 'पारिवारिक वातावरण अनुसूची' का प्रयोग इस अध्ययन हेतु किया गया है।

सांख्यिकी विधियाँ– प्रदत्तों के संकलन व मूल्यांकन के पश्चात् अगला पद उपयुक्त सांख्यिकीय विधियों, जिसमें एफ-अनुपात (प्रसरण विधि) एवं टी-अनुपात (सांख्यिकी विधि) का प्रयोग कर प्रदत्तों का विश्लेषण एवं व्याख्या प्रस्तुत किया गया है।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या–

उद्देश्य-१ : माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन–

तालिका संख्या १ : माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा के मध्य एफ-मान

स्रोत	स्वतन्त्रांश (df)	वर्ग योग (SS)	माध्य वर्ग योग (MS)	प्रसरण-मान (F-Value)
समूहों के मध्य	२	१८२.००	९१.००	५.००*
समूहों के अन्दर	२९७	५४०९.७५	१८.२१	
कुल	**२९९**	**५५९१.७५**	**१०९.२१**	

०.०=४७१-सार्थक

S.No.	Group	N	M	oD	D	t-value
१.	उच्च	७८	२६.६३	०.६०	०.४०	०.६६
	मध्यम	१४२	२६.२३			
२.	उच्च	७८	२६.६३	०.६८	१.९८	२.९१*
	निम्न	८०	२४.६५			
३.	मध्यम	१४२	२६.२३	०.६०	१.५८	२.६५*
	निम्न	८०	२४.६५			

*०.०१ -सार्थक

माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा के मध्य एफ-मान (प्रसरण) ५.०० है, जो कि .०१ सार्थकता स्तर पर सार्थक है, अर्थात् पारिवारिक वातावरण के तीनों स्तर पर शैक्षिक अभिप्रेरणा में अन्तर सार्थक है, अर्थात् उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा में अन्तर है। उच्च पारिवारिक वातावरण वाले छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा उच्च, मध्यम का औसत तथा निम्न पारिवारिक वातावरण वाले छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा निम्न है।

उद्देश्य-२ : माध्यमिक स्तर की छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन-

तालिका संख्या– २ : माध्यमिक स्तर की उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण की छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा के मध्य एफ-मान

स्रोत	स्वतन्त्रांश (df)	वर्ग योग (SS)	माध्य वर्ग योग (MS)	प्रसरण-मान (F-Value)
समूहों के मध्य	२	८८५.७०	४४२.८५	२२.४८*
समूहों के अन्दर	२९७	५८५१.२२	१९.७०	
कुल	**२९९**	**६७३६.९२**	**४६२.५५**	

*०.०१=४.७१-सार्थक

S.No.	Group	N	M	oD	D	t-value
१.	उच्च	७८	२७.५६	०.६२	२.९८	४.७९*
	मध्यम	१४५	२४.५८			
२.	उच्च	७८	२७.५६	०.७१	४.६९	६.५८*
	निम्न	७७	२२.८७			
३.	मध्यम	१४५	२४.५८	०.६३	१.७१	२.७३*
	निम्न	७७	२२.८७			

*०.०१ -सार्थक

माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण के छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा के मध्य एफ-मान (प्रसरण) २२.४८ है, जो कि .०१ सार्थकता स्तर पर सार्थक है, अर्थात् पारिवारिक वातावरण के तीनों स्तर पर शैक्षिक अभिप्रेरणा में अन्तर सार्थक है, अर्थात् उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण की छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा में अन्तर है। उच्च पारिवारिक वातावरण वाली छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा उच्च, मध्यम का औसत तथा निम्न पारिवारिक वातावरण वाली छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा निम्न है।

निष्कर्ष

अध्ययनोपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए–

- माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा में अन्तर है, अर्थात् माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण का प्रभाव है।
- माध्यमिक स्तर के उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण की छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा में अन्तर है, अर्थात् माध्यमिक स्तर की छात्राओं की शैक्षिक अभिप्रेरणा पर उनके पारिवारिक वातावरण का प्रभाव है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

- एच. के. कपिल (२०००)– सांख्यिकी के मूल तत्त्व, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
- अश्विनी कुमार एवं आर. सोनी (२०११)– ए स्टडी ऑफ द रिलेशनशिप बिटविन एकेडेमिक एचिवमेण्ट मोटिवेशन एण्ड होम इनवार्यमेण्ट एमंग स्टैण्डर्ड १० पीपुल्स, इण्टरनेशनल जर्नल फॉर रिसर्च इन एजूकेशन, वॉल्यूम-२, इश्यू-४, पृ. ४८-५१
- लोकेश कौल (२००६)– शैक्षिक अनुसंधान की कार्य-प्रणाली, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., नई दिल्ली

- एस. पी. गुप्ता एवं अलका गुप्ता (२०११)– उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृ. १६१
- विजया लक्ष्मी चौहान एवं गुंजन गंगोत्रा अरोड़ा– द पैरेण्टल इन्वाल्वमेण्ट स्केल, मानसवी, यू. जी.-१, निर्मल हाईट, मथुरा रोड, आगरा
- के. पी. पाण्डेय (२००५)– नवीन शिक्षा मनोविज्ञान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
- बी. बी. पाण्डेय (१९९५)– शैक्षिक और सामाजिक अनुसंधान एवं सर्वेक्षण, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर।
- डी. एस. यादव (२००९)– शिक्षा मनोविज्ञान, प्रेरणा प्रकाशन, दिल्ली, पृ. १९२
- अमित सिंह (२०२०)– माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य, वंचन एवं पारिवारिक वातावरण का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन, शोध प्रबन्ध (शिक्षाशास्त्र), नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय), प्रयागराज
- रमन बिहारी लाल एवं सुरेश चन्द्र जोशी (२०१३)– शिक्षा मनोविज्ञान एवं प्रारम्भिक सांख्यिकी, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ
- मालती सारस्वत (२०१३)– शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा, आलोक प्रकाशन, लखनऊ

●

कबीर के राम

वासुदेव सिंह*

हिन्दी के सन्त कवियों, विशेष रूप से सन्त कबीर के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस शाखा के कवियों को 'ज्ञानाश्रयी' कह दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के अधिकांश विद्वानों ने कबीर साहब को ज्ञानमार्गी मान लिया, जबकि वास्तविकता यह है कि सन्त कबीर मूलत: भक्त हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं से भक्ति का बड़ी निष्ठा से प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि में भक्ति के बिना समस्त साधनाएँ निष्फल हैं। वे बार-बार घोषणा करते हैं–

'कहै कबीर कछु आन न कीजे। राम नाम जपि लाहा लीजै।।'

× × × ×

'कहै कबीर सुनो रे भाई। राम नाम बिन किन सिधि पाई।।'

× × × ×

'कहैं कबीर एक राम जपहु रे। हिन्दू तुरुक न कोई।।'

कबीर साहब को राम-नाम का मन्त्र रामानन्द से प्राप्त हुआ था। किन्तु उनके राम दशरथ-पुत्र अयोध्यावासी रघुनन्दन राम नहीं हैं। सन्त कबीर अवतारवाद के समर्थक नहीं हैं। उनके मत से जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जो मरणधर्मा हैं, वह ईश्वर नहीं हो सकता। यद्यपि उन्होंने सगुणवाची शब्दों– चतुर्भुज, जगदीश, दामोदर, नरहरि, मुरारी, श्रीरंग, केशव, गोपाल, गोविन्द, बनमाली, माधव, रघुनाथ, रघुपति, राजाराम, सारंगधर, सारंगपाणि आदि का प्रयोग किया है, तथापि उनका तात्पर्य किसी अवतार को ईश्वर मानना नहीं है। इस सन्दर्भ में वह पौरीाणिक कथाओं का भी उल्लेख करते हैं। शबरी, गीध, जटायु आदि के उद्धार की चर्चा करते हैं तथा राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की गाथाओं का भी संकेत करते हैं। किन्तु उनके ईश्वरत्व में कबीर साहब का विश्वास नहीं है। वे स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि उत्पन्न होना और नष्ट होना माया का कार्य है। ईश्वर न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। वह कहीं न आता है, न जाता है। वह अनादि और अनन्त है। भत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि अवतारों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी तथ्य को उन्होंने एक रमैनी में व्यक्त किया है–

'तेहि साहब के लागहु साथा, दुइ दुख मेटि कै रहहु सनाथा।
दसरथ कुल अवतरि नहीं आया, नहिं लंका के राव सताया।
नहिं देवकी के गर्भहि आया, नहिं जसोदै गोद खेलाया।
प्रिथिमी रवन दवन नहिं करिया, पैठि पताल नहीं बलि छलिया।
नहिं बलि राजा सो माँडी रारी, नहिं हरिनाकुस बधल पछारी।
हीय बराह धरनि नहिं दरिया, छत्री मारि निछत्र न करिया।।'

कबीर साहब का परमतत्त्व निर्गुण-निराकार है, अज-अद्वैत है और सर्वव्यापी है। गीता में

* स्मृति शेष प्राक्तन आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

उसके इसी स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है–

'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणोभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।' (१४-१९)

कबीर साहब के निर्गुण राम का तात्पर्य क्या है? इसे भी जान लेना चाहिए। वस्तुत: 'निर्गुण' से सन्त कबीर का मन्तव्य ठीक वही नहीं है, जो वेदान्त का है। वेदान्त का निर्गुण उपास्य नहीं हो सकता। वह सम्पर्क में आता ही नहीं। वह सृष्टि का आधार है, किन्तु स्वयं सृष्टि नहीं करता। उसका विस्तार नहीं होता। 'निर्गुण' का तात्पर्य ही है– जिसका गुणा न हो, विस्तार न हो। माया उसी की शक्ति है। उसी के माध्यम से वह सृष्टि करता है। तब वह 'सगुण' हो जाता है। कहा भी गया है– 'मायोपहितं चैतन्यं च ब्रह्म।' इस प्रकार जब उसने सृष्टि की, तो आत्मा के रूप में सभी में व्याप्त हो गया। सृष्टि करके वह उसी में प्रविष्ट हो गया। सन्त कबीर ने ऐसे ही परमतत्त्व को अपना उपास्य माना है। इस प्रकार, कबीर साहब का 'निर्गुण राम' वास्तव में; वेदान्त का सगुण ब्रह्म है। शंकराचार्य यह मानते थे कि ब्रह्म सृष्टि नहीं करता, क्योंकि उनको भय था कि ब्रह्म को सृष्टिकर्ता मानने से उसमें विकार आ जायेगा। इसीलिए उन्होंने सृष्टि को माया का व्यापार बताया और सृष्टि को भी भ्रम घोषित किया। उन्होंने स्पष्टत: माया का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं किया, क्योंकि माया का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने से अद्वैत की हानि थी, विरुद्धता की सम्भावना थी। अत: उन्होंने माया को 'अनिर्वचनीय' कह दिया और ब्रह्म को निष्क्रिय बना लिया।

कबीर साहब ने शंकराचार्य के मत को स्वीकार नहीं किया। कतिपय दार्शनिक मानते हैं कि ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, फिर भी; उसमें विकार नहीं जाता। वह अविकृत परिणामी है। कनक से कुण्डल बनते हैं, किन्तु कनक का अस्तित्व बना रहता है। ब्रह्म भी कनक के समान है। वह दूध के समान नहीं है, जिसके दही बनने पर विकार आ जाता है। यही पूर्ण या शुद्ध अद्वैतवाद है। यही कबीर साहब की मान्यता है।

विश्व और ब्रह्म के सम्बन्ध में तीन मान्यताएँ पायी जाती हैं–

१. ईश्वर विश्व से बिल्कुल अलग है। उसने विश्व की सृष्टि कर दी, किन्तु वह उसमें व्याप्त नहीं है। सृष्टि के उपरान्त वह संसार से कोई प्रयोजन नहीं रखता। इसे 'केवलीश्ववाद' कहते हैं।

२. विश्व की सृष्टि करके ईश्वर उसी में समा गया। जो विश्व है, वह ईश्वर है; जो ईश्वर है, वह विश्व है। इसके अतिरिक्त; ईश्वर और कुछ भी नहीं है। इसे 'विश्वेश्वरैक्यवाद' कहते हैं।

३. ईश्वर विश्वमय भी है और विश्वोत्तीर्ण भी है। विश्वमय के दो भाव हैं– (क) वह विश्व में है, (ख) विश्व उसके भीतर है, अर्थात् वह अन्तवर्ती भी है और अतिवर्ती भी है।

विश्वेश्वरैक्यवाद में एक दोष है। उससे यह ध्वनित होता है कि ईश्वर का विश्व में नि:शेषीकरण हो गया है। वह विश्व से परे कुछ भी नहीं। वह विश्व बनाकर उसी में समाविष्ट हो गया। कबीर साहब इस दोष से मुक्त थे। उनका कहना है कि सारा विश्व प्रभु में है, किन्तु उसका विश्व में नि:शेषीकरण नहीं हो गया है। वह इसके अतिरिक्त भी है। इसी तथ्य को वह इन शब्दों में व्यक्त करते हैं–

'रहे निराला माँड़ तै, सकल माँड़ तिहि माँहि।
कबीर सेवै तास को, दूजा कोई नाँहि।।'

कबीर साहब की ईश्वर सम्बन्धी धारणा उपनिषधों के बहुत निकट है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है कि ईश्वर विश्व को चारों ओर से आवृत्त करके, उसके अतिरिक्त भी दस अंगुल विद्यमान है, अर्थात् वह विश्व से परे भी है–

'स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।' (३।१४)

उस परमतत्त्व का कोई परिमाण नहीं है। उसे न तो भारी कहा जा सकता है, न लघु। वस्तुत: उसकी तुलना नहीं की जा सकती। वह संसार की सभी वस्तुओं का अधिष्ठान है। वह स्थूल और साकार नहीं है। वह इन्द्रियग्राह्य भी नहीं है। इसीलिए सन्त कबीर कहते हैं–

'भारी कहूँ तो बहु डरौं, हलका कहूँ तो झूठ।
मैं का जानौं राम को, नैना कबहूँ नु दीठ।।'

उपनिषद् के शब्दों में वह छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है– **'अणोरणीयानान् महतो सहीयान्।'**

वह सम्पूर्ण विश्व में परिव्यास है और घट-घट में भी विद्यमान है। उसे किसी एक स्थान पर खोजने की आवश्यकता नहीं। उसके लिए मन्दिर-मस्जिद जाने की आवश्यकता नहीं। इसीलिए कबीर साहब कहते हैं कि वह तो प्रत्यक्ष सर्वत्र है। उसे दूर क्यों बताते हो? सच्चा मौलवी वह है, जो मन से युद्ध करता है–

'है हजूर कत दूरि बतावहु। दुंदर बाँधहु सुंदर पावहु।।'

इस शरीर को ही मस्जिद मानकर आन्तरिक साधना का वह उपदेश देते हैं–

'कहु रे मुल्ला बाँग निवाजा। एक समीति दस दरवाजा।।
मनु करि मक्का किवला करि देही। बोलन हारु परम गुरु-एही।।'

परमतत्त्व बुद्धि से ग्राह्य नहीं है। धर्म-ग्रन्थ उसके मर्म को नहीं जानते। शरणागति के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है–

'निर्गुन राम जपहु रे भाई। अबिगत की गति लखी न जाई।।'

वह अद्‌भुत शक्ति-सम्पन्न है। उसके अधिकार में करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव, करोड़ों दुर्गा, करोड़ों ब्रह्मा, चन्द्रमा, नवग्रह, यमराज, वासुकि आदि उसकी सेवा करते हैं–

'जाके सुरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास।
दुर्गा कोटि जाकै मरदनु करें, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरैं।
कोटि चन्द्रमा करहि चिराग, सुर तैतीसौ जेवहिं पाक।।' १५५।।

सर्वशक्ति-सम्पन्न होते हुए भी वह नाम-रूप के भेद से परे है। उसका न वर्ण है, न आकार। वह सभी में समान रूप से व्याप्त है। धर्म-ग्रन्थों में उसे विविध नामों से सम्बोधित किया गया है। राम, खुदा, शिव, शक्ति आदि नाम-भेदों से उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता–

'पण्डित देखहु हृदय बिचारी, को पुरुषा को नारी।
सहज समाना घट घट बोलै, बाको चरित अनूपा।
वाको नाम काह कहि लीजै, वाके बरन न रूपा।।'

वस्तुत: कबीर साहब परब्रह्म के स्वरूप की चर्चा करते हुए उपनिषदों के बहुत निकट पहुँच जाते हैं। आत्मतत्त्वज्ञ ऋषियों ने जिस सत्य का साक्षात्कार किया था, कबीर साहब भी उसी परम पद की अनुभूति कर सके थे। उपनिषदों में बार-बार कहा गया है कि 'नैव स्त्री न पुमानेष

न चैवायं नपुंसक:' तथा 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' एक प्रसिद्ध सूफी ने भी कहा है कि उसका अपना कोई रंग नहीं है, किन्तु वह हजारों रंग धारण करता है। उसका कोई रूप नहीं है, फिर भी वह असंख्य शक्लों को धारण करता है–

'तुर्फ बेरंगी कि दारद रंग हाए सद हजार।
तुर्फ बेशक्ली कि दारद शक्ल हाए बेशुमार।।'

कबीर साहब का निर्गुण-निराकार चैतन्य परमतत्त्व पण्डित-मुल्लाओं की पहुँच के बाहर है। वह ऐसे परम पद में अधिष्ठित है, जहाँ न सृष्टि है, न सृष्टिकर्ता ब्रह्मा। वहाँ स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर भी नहीं है और न पवन, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल आदि तत्त्व। कबीर साहब के शब्दों में–

'पण्डित मिथ्या करहु विचार, न वहाँ सृष्टि न सिरजनहारा।
थूल अस्थूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरति न नीरा।।'

ऐसे तत्त्व को प्राप्त करने के लिए किसी बाह्याचार की आवश्यकता नहीं। जप, तप, पूजा, तीर्थाटन, बाँग, नमाज आदि साधनों से उसका साक्षात्कार असम्भव है। घट में ही उस चैतन्य ज्योति के साक्षात्कार के लिए चित्त की शुद्धि आवश्यक है। मन को उसी में लगा देने की अपेक्षा है। इसीलिए कबीर साहब ने सत्य और अहिंसा पर बल दिया है तथा धर्म के नाम पर की जाने वाली सभी प्रकार की हिंसा का कठोर शब्दों में विरोध किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित यह भक्तिमार्ग मानव-मानव का उपदेश देता है। इसीलिए कबीर साहब आज के सन्दर्भ में सर्वाधिक सार्थक कवि एवं भक्त के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

●

तुलसीदास के साहित्य में लोक-तत्त्व

डॉ. आलोक कुमार तिवारी*

तुलसी के साहित्य में लोक और शास्त्र का मणिकांचन योग हुआ है। उनके साहित्य का आद्योपान्त अध्ययन करने पर हमें लोक के विविध तत्त्व बहुत ही जीवन्त रूप में उपलब्ध होते हैं। यही लोक-तत्त्व उनके साहित्य को लोकजीवन से जोड़ते हैं। संस्कृत के मर्मज्ञ होने पर भी श्रीरामचरितमानस जैसे कालजयी ग्रन्थ का लोकभाषा अवधी में सृजन करना उनकी लोकधर्मिता को स्वत: प्रमाणित करता है। अपनी भाषा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए वे लिखते हैं–

'भाषा बद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।।'[१]

तुलसीदास के समग्र साहित्य में लोक और वेद का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। चित्रकूट में जब अनुज भरत प्रभु श्रीराम से अयोध्या वापस लौटने की प्रार्थना करते हैं, तब भी गुरु वशिष्ठ श्रीराम को लोकमत और वेदमत के आधार पर ही निर्णय लेने का आदेश देते हैं–

'करब साधुमत लोकमत, नृपमय निगम निचोरि।'[२]

तुलसीदास के साहित्य में लोक-तत्त्व को व्यवस्थित ढंग से समझने से पूर्व हमें 'लोक' को समझना होगा। लोक शब्द के लिए अंग्रेजी में 'फोक' शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका अभिप्राय बहुत कुछ शिष्ट संस्कृति से भिन्न; अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित जन समुदाय में प्रचलित मान्यताओं, विश्वासों और प्रतीकों से है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में– ''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।''[३]

तुलसीदास के साहित्य में लोक-तत्त्व का अध्ययन हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर कर सकते हैं–

१. लोक और वेद का समन्वय– तुलसीदास के समग्र साहित्य में लोक और वेद का बहुत ही सुन्दर समन्वय हुआ है। उनकी प्रतिनिधि रचनाओं में लोक और वेद समाज रूपी गाड़ी को संचालित करने हेतु दो पहियों की भाँति प्रस्तुत हुए हैं। लोक और वेद के समन्वय की पृष्ठभूमि में लोकमंगल की भावना निहित है। उनकी रचनाओं में कथा और शिल्प, विधेय और विधान– दोनों में शास्त्रीय परम्पराओं और लोकधाराओं का अद्‌भुत सामंजस्य मिलता है। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा उत्तर-दक्षिण की दूरी को एकता के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास किया है। 'बहुजन हिताय' की अपेक्षा 'सर्वजन हिताय' की कामना तुलसीदास के साहित्य का मूल रहा है। निवृत्ति-प्रवृत्ति की अतिशयता के स्थान पर उन्होंने दोनों के समन्वय पर बल दिया है–

'घर दीन्हें घर जात है, घर छोड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीच रहूँ, राम प्रेम पुर छाय।।'[४]

२. रीति-रिवाजों एवं लोक-विश्वासों का स्वाभाविक चित्रण– तुलसीदास के साहित्य में जन समुदाय की प्रवृत्तियों– रीति-रिवाजों, उत्सवों, त्योहारों, लोक-विश्वास, शकुन-अपशकुन इत्यादि का सम्यक् समावेश हुआ है। श्रीराम की माता कौशल्या द्वारा बुरी नजर से बचाने हेतु तृण तोड़ना इसका बेहतरीन उदाहरण है–

---

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर– हिन्दी, डी. पी. बी. एस. कॉलेज, अनूपशहर, बुलंदशहर, उ.प्र.

'स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी।।'[५]

३. संस्कारों में लोकजीवन– तुलसीदास के साहित्य में लोकजीवन के विविध संस्कारों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। रामचरितमानस का यह दोहा इस सन्दर्भ में बहुत ही प्रासंगिक है, जिसमें राजा दशरथ द्वारा श्राद्ध, जातकर्म-संस्कार आदि करके ब्राह्मणों को दान देने का वर्णन है–

'नन्दी मुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप विप्रन्ह कहँ दीन्ह।।'[६]

नामकरण-संस्कार का बहुत ही सुन्दर वर्णन गीतावली में भी मिलता है–

'नामकरण रघुबरनिन के, नृप सुदिन सोधाए।
पाय रजायसु रायको, ऋषिराज बोलाए।।'[७]

इसके अतिरिक्त; बारात की अगवानी, मिलनी, परिछन, जनवासे की व्यवस्था, पाणिग्रहण, दहेज-दानादि, ज्योनार, लावा विधान, सिंदूर दान, ग्रन्थि-बन्धन, ध्रुव नक्षत्र दर्शन, कोहबर आदि का विस्तृत विवरण तुलसीदास के साहित्य में मिलता है। नाऊ, बारी, भाट, नट आदि को न्योछावर देना, स्त्रियों द्वारा विवाह के समय वर पक्ष को गाली देना आदि का बहुत ही सुन्दर वर्णन तुलसी के काव्य में उपलब्ध है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

'जेवँत देहि मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी।।
समय सुहावनि गारि बिराजा।हँसत राउ सुनि सहित समाजा।।'[८]

४. लोक-विश्वास में गहन आस्था– तुलसीदास के पात्र लोक-विश्वास में गहन आस्था रखते हैं। ग्रहों का प्रभाव, स्वप्न के परिणाम, शकुन-अपशकुन इत्यादि के प्रभावों के प्रति वे आस्थावान हैं। माता पार्वती स्वप्न में गौर वर्ण ब्राह्मण का उपदेश मानकर भगवान् शिव को वर के रूप में प्राप्त करने हेतु तपस्या का संकल्प लेती हैं–

'करहि जाई तपु सैल कुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी।।'[९]

इसी क्रम में; त्रिजटा का स्वप्न भी अत्यन्त प्रासंगिक है, जिसमें वह अपने स्वप्न के माध्यम से माता-पिता को ढाँढ़स बँधाती है–

'सपने बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी।।
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुण्डित सिर खंडित भुज बीसा।।'[१०]

५. लोक-नीति की सशक्त अभिव्यक्ति– तुलसीदास के साहित्य में लोक-नीति आवश्यक अंग बन गयी है। जहाँ भी अवसर मिला, गोस्वामी जी ने पाठकों को लोक-नीति से अवगत किया। फिर, चाहे वह घमण्डी समुद्र को माध्यम बनाया हो अथवा मदान्ध रावण को–

'सचिव वैद गुर तीनि जौ, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर, होइ बेगही नास।।'[११]

इसी क्रम में; घमण्डी समुद्र को शिक्षा देते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं–

'काटेहिं पई कदरी फरइ, कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु, डाटेहिं पइ नव नीच।।'[१२]

६. लोक-मर्यादा का सहज चित्रण– तुलसीदास के नायक श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। अत: उनके पात्र लोक-मर्यादा के प्रति आस्थावान हैं। जब ग्रामवासी स्त्रियाँ सीता जी से उनके पति का नाम पूछती हैं, तो वह संकोचवश नाम न लेकर आँखों से ही उनकी ओर संकेत

करती हैं–

'सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखनु लघु देवर मोरे।।
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।।'[१३]

७. लोकोक्ति और मुहावरों का सहज प्रयोग– तुलसीदास साहित्य को लोकोक्ति और मुहावरों ने और भी अधिक जीवन्त बना दिया है, यथा– 'बाँझ कि जान प्रसव के पीरा', 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं', 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' इत्यादि।

निष्कर्षत: गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य में लोकजीवन के विविध तत्त्व बहुत ही सहज एवं अनगढ़ रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। उनका समग्र साहित्य लोक-विमर्श का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

सन्दर्भ-सूची

१. गोस्वामी तुलसीदास– श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, १३५वाँ संस्करण, पृष्ठ संख्या ३४
२. वही– पृष्ठ संख्या ५११
३. https://hi.wikibooks.org,04.05.2025,5:21 pm
४. सं. टेकचंद शास्त्री– पुष्प-पराग, भारती सदन, दिल्ली, संस्करण-१९५५, पृष्ठ संख्या ८४
५. गोस्वामी तुलसीदास– श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, १३५वाँ संस्करण, पृष्ठ संख्या १७०
६. वही– पृष्ठ संख्या १६७
७. गोस्वामी तुलसीदास– गीतावली, गीताप्रेस, गोरखपुर, ४९वाँ संस्करण, पृष्ठ संख्या ३१
८. गोस्वामी तुलसीदास– श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, १३५वाँ संस्करण, पृष्ठ संख्या २८१
९ वही– पृष्ठ संख्या ६८
१० वही– पृष्ठ संख्या ६६६
११. वही– पृष्ठ संख्या ६८८
१२. वही– पृष्ठ संख्या ७०४
१३. वही– पृष्ठ संख्या ३९९

●

गोदान उपन्यास की वैचारिकी का सबाल्टर्न दृष्टिकोण आधारित अध्ययन

ऋषिकेश कुमार*

शोध-सार– गोदान की वैचारिकी का सबाल्टर्न दृष्टिकोण से अध्ययन औपनिवेशिक भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में निहित शक्ति-सम्बन्धों और हाशिए के वर्गों की अंतर्निहित चेतना को पुनर्पाठित करने का प्रयास है। प्रस्तुत शोध-सार का उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि 'गोदान' केवल सामाजिक यथार्थ का चित्रण नहीं, बल्कि एक ऐसी वैचारिक संरचना का निर्माण करता है, जिसमें सत्ता, वर्चस्व और प्रतिरोध के बहुस्तरीय रूप अंतर्निहित हैं। इस अध्ययन में होरी, धनिया, गोबर और झुनिया जैसे पात्रों के माध्यम से यह विश्लेषित किया गया है कि किस प्रकार जमींदारी व्यवस्था, महाजनी शोषण, ब्राह्मणवादी नैतिकता और औपनिवेशिक प्रशासन मिलकर सबाल्टर्न वर्ग की 'एजेन्सी' को नियन्त्रित करते हैं। साथ ही; यह शोध यह भी दर्शाता है कि इन वर्गों के भीतर प्रतिरोध की सूक्ष्म और प्रत्यक्ष– दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, जो वैकल्पिक नैतिकता और सामाजिक पुनर्संरचना की सम्भावनाएँ निर्मित करती हैं।

बीज शब्द– सबाल्टर्न, अभिजात, निम्नवर्गीय चेतना, औपनिवेशिक इतिहास-लेखन, अंतर्विरोध, सांस्कृतिक चेतना, पुनर्जागरण, महाजनी सभ्यता, यथास्थितिवाद।

प्रस्तावना– भारतीय स्वतन्त्रता-संघर्ष के सन्दर्भ में 'सबाल्टर्न स्टडीज़' इतिहास-लेखन की वह धारा है, जिसने राष्ट्रवादी और औपनिवेशिक—दोनों प्रकार के अभिजात (Elite) आख्यानों को चुनौती देते हुए स्वतन्त्रता-आन्दोलन को निम्नवर्गीय समूहों की सक्रिय राजनीतिक चेतना और स्वायत्त पहल के परिप्रेक्ष्य में पुनर्परिभाषित किया। १९८० के दशक में रणजीत गुहा के नेतृत्व में आरम्भ हुई इस परियोजना ने यह प्रतिपादित किया कि औपनिवेशिक भारत का इतिहास केवल कांग्रेस नेतृत्व, औपनिवेशिक राज्य या उच्चवर्गीय सुधारकों की राजनीतिक गतिविधियों से निर्मित नहीं था, बल्कि किसान, आदिवासी, मजदूर, दलित और हाशिए के समुदाय भी स्वतन्त्रता-संघर्ष के स्वायत्तकर्ता (Autonomous Agents) थे। इस प्रकार, सबाल्टर्न स्टडीज़ के अंतर्निहित तत्त्व मूलतः उस वैचारिक परियोजना को व्यक्त करते हैं, जिसका उद्देश्य औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी—दोनों अभिजात इतिहास-लेखन की सीमाओं को तोड़कर इतिहास को निम्नवर्गीय, हाशिए पर स्थित और वर्चस्व-ग्रस्त समूहों के दृष्टिकोण से पुनर्लेखित करना था।

समग्रतः, सबाल्टर्न स्टडीज़ का अंतर्निहित तत्त्व इतिहास-लेखन का लोकतन्त्रीकरण है, जहाँ हाशिए के समूहों की आवाज़ को न केवल स्थान दिया जाता है, बल्कि उसे ऐतिहासिक प्रक्रिया का सक्रिय और निर्णायक घटक माना जाता है। यह परियोजना भारतीय स्वतन्त्रता-संघर्ष को बहुस्तरीय, बहुवर्गीय और सांस्कृतिक रूप से जटिल जनसंघर्ष के रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करती है। इस प्रकार, उपाश्रित अध्ययन-पद्धति संघर्ष के विकेन्द्रीकरण पर आधारित है। वह केन्द्रीय नेतृत्व की रूढ़िग्रस्त मानसिकता का प्रतिरोध करती है। इसलिए प्रेमचन्द उपाश्रित नेतृत्व की तरफ़ संकेत करते हुए कहते हैं कि– ''पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाए रखने

* शोधार्थी– हिन्दी विभाग, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा, उत्तराखण्ड

के लिए एक संगठन बना लिया है, उसी का नाम सरकार है।''

इस दृष्टिकोण के साहित्यिक उदाहरण की चर्चा करें, तो गोदान का गोबर और उसकी माँ धनिया इसका सबसे सटीक प्रतिनिधित्व करती हैं, जो बिना किसी विचारधारा या वाद के सम्पर्क में आए तत्कालीन दमन का सजीव प्रतिरोध करते हैं। कफ़न में घीसू और माधव का जीवन भी इसी विद्रोह का व्यंग्यात्मक प्रतीक है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' (१९३६) यद्यपि प्रत्यक्षत: वैदिक मिथक—मनु, श्रद्धा और इड़ा—के माध्यम से मानव-चेतना की दार्शनिक यात्रा का आख्यान है, फिर भी; सबाल्टर्न स्टडीज़ की दृष्टि से इसे पढ़ने पर यह आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद और स्वतन्त्रता-संग्राम के अन्तर्विरोधों का सांकेतिक पाठ बन जाता है। प्रेमचन्द इसी सबार्ल्टन नजरिये का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि– ''स्वराज्य गरीबों का आन्दोलन है।''[२] अर्थात् नेतृत्व की सफलता हाशिए की शक्तियों—स्त्रियों, श्रमिकों, किसानों और जनसमुदाय—की सक्रिय भागीदारी पर निर्भर है। यह अभिजात राष्ट्रवाद की सीमाओं की ओर संकेत करता है, जहाँ केवल उच्चवर्गीय नेतृत्व पर्याप्त नहीं, बल्कि जनाधारित शक्ति-संचय आवश्यक है। इसके अतिरिक्त; कविता में आत्मसंघर्ष, तप और समर्पण का जो भाव है, वह स्वतन्त्रता-आन्दोलन की नैतिक-राजनीतिक साधना का रूपक भी है। किन्तु, सबाल्टर्न परिप्रेक्ष्य यह रेखांकित करता है कि शक्ति का स्रोत ऊपर से प्रदत्त नहीं, बल्कि सांस्कृतिक लोक-चेतना में निहित है। निराला ने राम को शक्ति के समक्ष विनम्र बनाकर एक प्रकार से वर्चस्व (Hegemony) की उस संरचना को तोड़ा है, जिसमें नायक सर्वाधिकारसम्पन्न होता है। यहाँ नायक को भी 'अन्य' की शक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। यह वही बिन्दु है, जहाँ सबाल्टर्न चेतना इतिहास के केन्द्र में आती है।

अत: भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सबाल्टर्न चेतना का स्वरूप बहुवाचिक, बहुस्तरीय और अंतर्विरोधपूर्ण था। किसान और मज़दूर वर्गों ने औपनिवेशिक दमन के विरुद्ध संघर्ष करते हुए स्वतन्त्रता को सामाजिक-आर्थिक न्याय, गरिमा और सामुदायिक अधिकारों की पुनर्स्थापना के रूप में परिभाषित किया। इस दृष्टि से, स्वतन्त्रता-आन्दोलन केवल राजनीतिक सत्ता-हस्तान्तरण की प्रक्रिया नहीं, बल्कि निम्नवर्गीय चेतना के उभार का भी इतिहास था, जिसने भारतीय राष्ट्रवाद को सामाजिक आधार, गतिशीलता और वैचारिक गहराई प्रदान की। प्रेमचन्द का गोदान अपनी घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से इन्हीं उपागमों का नेतृत्व करता है। उपाश्रित दृष्टिकोण के सन्दर्भ में गोदान हिन्दी उपन्यास साहित्य में मील का पत्थर है। इसकी रचना १९३६ में हुई, जो मूलत: किसान जीवन पर केन्द्रित है, किन्तु इसमें समाज के हर वर्ग की कहानी शामिल हो जाती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं कि– ''गोदान का रचना-सन्तुलन ऐसा बेजोड़ है कि उसमें अनवरत संघर्ष, करुणा, सहानुभूति और ट्रैजिक अंत के बावजूद; कहीं किसी के प्रति कड़वाहट नहीं आती, गहरा असन्तोष उमड़ता-घुमड़ता है– तन्त्र के प्रति, मानो गाँधी और मार्क्स को जैसे प्रेमचन्द ने फेंट कर मिलाया हो। पुनर्जागरण से आरम्भ हुई सांस्कृतिक टकराहट की यह श्रेष्ठतम उपलब्धि है।''[३] इस तरह, इस उपन्यास में किसान, दलित, स्त्री और श्रमिक वर्ग जैसे उपेक्षित समुदायों के जीवनानुभवों को केन्द्र में रखकर उस 'निम्नवर्गीय चेतना' को स्वर दिया गया है, जिसे बाद में सबाल्टर्न अध्ययन के सिद्धान्तकारों ने सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया। होरी का चरित्र केवल एक किसान नहीं, बल्कि औपनिवेशिक आर्थिक संरचना, जमींदारी शोषण और सामाजिक विषमता के बीच पिसते उस वर्ग का प्रतिनिधि है, जिसकी सत्ता लगातार नियन्त्रित और विखण्डित की जाती है। इसी युगीन यथार्थ का विवरण देते हुए नामवर सिंह

गोदान के सन्दर्भ में लिखते हैं– ''सन् ३५-३६ के दौर में हमारी आजादी की लड़ाई कुछ थकी-सी थी। रात का अँधेरा गहरा होता जा रहा था और रोशनी का दूर-दूर तक कोई पता नहीं था। लेकिन यह उपन्यास साहित्यकार की पुकार के रूप में आता है कि अन्धकार दूर हो। १९०७ से १९३६ तक आजादी की लड़ाई में कितने रंग, कितने दौर आए और हर मौके पर प्रेमचन्द राजनीति से पीछे नहीं; आगे थे।''[४] अत: हिन्दी साहित्य के इतिहास को विकल्पों की दृष्टि से, जागृति की दृष्टि से और सदैव ताजगी भरने की दृष्टि से गोदान एक युगान्तरकारी रचना है, जिसके बाद कथा साहित्य में सजग यथार्थवाद की धारा प्रौढ़ हुई।

इस उपन्यास में सत्ता के विविध रूप—जमींदार, महाजन, पण्डित और औपनिवेशिक प्रशासन—मिलकर एक ऐसे वर्चस्व का निर्माण करते हैं, जो सबाल्टर्न वर्ग को केवल आर्थिक ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और वैचारिक स्तर पर भी अधीनस्थ बनाए रखता है। धनिया का प्रतिरोध, गोबर का विद्रोह और झुनिया का सामाजिक बहिष्कार इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सबाल्टर्न केवल पीड़ित नहीं, बल्कि अपने स्तर पर प्रतिरोध और पुनर्संरचना की चेतना भी रखते हैं। यहाँ स्त्री-चेतना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, जहाँ धनिया पारम्परिक नैतिकताओं को चुनौती देते हुए एक वैकल्पिक नैतिक दृष्टि प्रस्तुत करती है। राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में 'गोदान' राष्ट्रीय आन्दोलन के समय की उस विडम्बना को भी उजागर करता है, जहाँ स्वतन्त्रता का विमर्श ग्रामीण और निम्नवर्गीय जीवन की यथार्थ समस्याओं से कटा हुआ दिखाई देता है। शहर और गाँव के द्वैत के माध्यम से भी प्रेमचन्द यह दिखाते हैं कि राष्ट्रवाद का प्रभुत्वशाली आख्यान किस प्रकार सबाल्टर्न वर्ग की वास्तविकताओं को अनदेखा करता है।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' (प्रकाशन–१९३६) में भारतीय ग्रामीण जीवन का यथार्थवादी चित्रण होने के साथ-साथ औपनिवेशिक भारत की राजनीतिक संरचना की गहन आलोचना भी है। यह उपन्यास उस ऐतिहासिक दौर में लिखा गया, जब भारत सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३०–३४) के प्रभाव, गाँधी–इरविन समझौते (१९३१), गोलमेज सम्मेलन तथा १९३५ के भारत शासन अधिनियम जैसी राजनीतिक घटनाओं से गुजर रहा था। गोदान में वर्णित सबसे प्रमुख राजनीतिक समस्या औपनिवेशिक शासन की कर-नीति और प्रशासनिक दमन है। १९३० के दशक में ब्रिटिश सरकार द्वारा भूमि-राजस्व, लगान और अन्य करों का बोझ किसानों पर लगातार बढ़ाया जा रहा था। होरी जैसे किसान का आर्थिक शोषण केवल व्यक्तिगत दुर्भाग्य नहीं, बल्कि उस राजनीतिक व्यवस्था का परिणाम है, जिसमें राज्य का उद्देश्य जनता के कल्याण के बजाए राजस्व-संग्रह था। गोदान में राष्ट्रीय आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्या यह भी है कि स्वतन्त्रता की चेतना ग्रामीण समाज तक सीमित और अपूर्ण रूप में पहुँचती है। १९३०–३६ में जहाँ एक ओर कांग्रेस और गाँधी जी के नेतृत्व में जनआन्दोलन चल रहे थे, वहीं दूसरी ओर; ग्रामीण समाज आर्थिक विवशताओं में इतना जकड़ा हुआ था कि वह राजनीतिक चेतना को व्यवहार में परिणत नहीं कर पा रहा था। होरी की असमर्थता इसी राजनीतिक विडम्बना का प्रतीक है। गोदान में आकर प्रेमचन्द स्वयं की कई परम्परागत मान्यताओं को खुद तोड़ते हैं, जैसे– अब पंच का विशेषण परमेश्वर होने में नहीं है, अपितु वह सामाजिक शोषण का प्रतीक है। वहीं महाजनी सभ्यता और पूँजीवादी सभ्यता के शोषणमूलक गठबंधन ने इस व्यवस्था को कारुणिक बना दिया।

अत: बच्चन सिंह लिखते हैं कि– ''अब किसान पहले का किसान नहीं रह गया है, न

ही जमींदार पहले का जमींदार है। न किसान आन्दोलन करता है, न जमींदार सीधे अत्याचार। दोनों एक व्यवस्था में हैं। व्यवस्था का विरोध कोई नहीं करता। होरी भी 'धरम' और 'मरजाद' की रक्षा में अपनी आहुति देता है। लेकिन न धरम बचता है, न मरजाद।''[५] अत: तत्कालीन राष्ट्रीय पराधीनता के स्याह पन्नों को साहित्यिक रूप देकर गोदान न सिर्फ साहित्य की उत्कृष्ट कृति बनता है, अपितु स्वतन्त्रता-संग्राम का भी महाकाव्यात्मक दस्तावेज़ बनता है। अत: मानवीय सम्वेदना की तीखी अनुभूति को शामिल कर गोदान तत्कालीन नेतृत्व से सीधे प्रश्न करता है।

गोदान में दो तरह की वृत्तियों का प्रतिनिधित्व दृष्टिगत होता है। एक तरफ़ हैं– होरी और रायसाहब तो दूसरी तरफ़ हैं– गोबर और मेहता। तत्कालीन स्वतन्त्रता-संघर्ष और गोदान की पूरी समस्या इन्हीं दो वृत्तियों के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है। एक तरफ़ होरी और रायसाहब का चरित्र परम्परागत सामाजिक संरचना और पुरानी राजनीति का प्रतीक है। इसके विपरीत; गोबर और मेहता आधुनिक, परिवर्तनशील और प्रश्नाकुल चेतना के प्रतिनिधि हैं। रायसाहब सामन्ती वर्ग का प्रतिनिधि होते हुए भी राजनीतिक चेतना से युक्त दिखाई देते हैं, पर उनकी राजनीति जनकल्याण से अधिक व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, वर्ग-संरक्षण और औपनिवेशिक सत्ता से समझौते की राजनीति है। वे सुधार की बात करते हैं, पर उनके सुधार ऊपर से थोपे गए हैं और जनजीवन की वास्तविक पीड़ा से कटे हुए हैं। इस प्रकार, होरी और रायसाहब– दोनों ही परम्परागत समाज के ऐसे चरित्र हैं, जिनकी राजनीति यथास्थितिवादी है और सामाजिक परिवर्तन के प्रति अनिच्छुक या असमर्थ है। वहीं गोबर की राजनीति अनुभवजन्य है। वह अन्याय को नियति नहीं मानता, बल्कि व्यवस्था की देन समझता है। समाज के प्रति उसकी दृष्टि विद्रोही और परिवर्तनकामी है। मेहता बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधि है, जिसकी राजनीति वैचारिक और नैतिक धरातल पर विकसित होती है। वह राष्ट्रवाद, समाजवाद और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जैसे मुद्दों पर चिन्तन करता है तथा परम्परागत नैतिकता और संस्थागत धर्म का आलोचक है। समाज को वह स्थिर नहीं, बल्कि गतिशील मानता है और राजनीति को सामाजिक न्याय का माध्यम समझता है।

इसलिए शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि– ''रायसाहब और खन्ना के चरित्रों की योजना कर प्रेमचन्द ने प्रकारान्तर से स्वतन्त्रता-आन्दोलन की सीमाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। जब बड़े-बड़े जमींदार और उद्योगपति स्वतन्त्रता-आन्दोलन में अपने स्वार्थ साधने के लिए शामिल होंगे, तब स्वतन्त्रता के आन्दोलन का रूप जनोन्मुख कैसे हो सकता है?'' निश्चित ही; यह एक तरह का विचित्र गठजोड़ था, जहाँ शोषक शोषण के विरुद्ध युद्ध करता है और इस युद्ध से अपने शोषण की निरन्तरता का ईंधन पाता है। इसलिए गोदान के पात्र मेहता कहते हैं– ''आज संसार का शासन-सूत्र बैंकरों के हाथ में है। सरकारें उनके हाथ का खिलौना हैं।''[७] इस प्रकार, आम जानता का निरन्तर शोषित होना ही उसकी नियति बन चुकी थी। एक तरफ़ वह जमींदारों से व्यथित था, तो दूसरी तरफ़; अंग्रेज़ी हुकूमत से। आजदी के नेतृत्वकर्ता भी आम जन के दैनिक, सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को गम्भीरता से नहीं उठा रहे थे। उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण ने किसान, मज़दूर और स्त्री के जीवन को और भी दुष्कर बना दिया था। अत: बच्चन सिंह इसी सामयिक मोहभंग को दर्शाते हुए लिखते हैं कि– ''गोदान से पहले के उपन्यास गाँधीवाद के प्रभाव के कारण एक साँचे में ढले हुए हैं। गोदान में वे गाँधीवाद से मुक्त हैं।'' मार्क्सवाद से भी उनका सरोकार नहीं है। न तो उन्हें गाँधीवादी यूटोपिया में विश्वास रह गया है, न बैकगेरिया रूस से आने वाले पत्रों में छपी किसानों की ख़ुशहाल जिन्दगी की ख़बरों में। वे

अपने देश के किसान की दयनीय स्थिति का सीधा साक्षात्कार करते हैं।''[८] विकल्पों के मध्य भी किस तरह विकल्पहीनता की स्थिति बन सकती है? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना हो, तो गोदान से अधिक प्रामाणिक और यथार्थपूर्ण उत्तर नहीं मिलेगा।

इस तरह, किसानों और मजदूरों की जो उपेक्षा गोदान उपन्यास में वर्णित की गयी है, वह तत्कालीन वस्तुस्थिति की ही रचनात्मक अभिव्यक्ति है। जैसा कि रजनी पाम दत्त लिखते हैं– ''दिसंबर १९३६ में जब फैजपुर कांग्रेस हुई, तब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के एक तिहाई सदस्य गरमदल के लोग थे। जवाहरलाल नेहरू ने प्रस्ताव रखा कि मज़दूर और किसान के संगठन कांग्रेस में मिला लिया जाए। लेकिन उनका प्रस्ताव पास नहीं हुआ। कांग्रेस कमेटी में १५ वोट ख़िलाफ़ और १६ पक्ष में आए थे।''[९]

इस तथ्य से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि क्यों साहित्यकारों ने परिवर्तन और नवीन शक्ति की माँग एक स्वर में की? क्योंकि स्वतन्त्रता-संग्राम की बागडोर जिस संस्था के हाथ में थी, वही समाज के दो सबसे बड़े वर्ग के प्रति सम्वेदनशील नहीं थी। दूसरा यह कि उस समय कांग्रेस में गरमदल के नेताओं का प्रतिनिधित्व होने के बाद भी ऐसा युगान्तर प्रस्ताव नहीं पास हो सका। अत: कफ़न में प्रेमचन्द का घिसू और माधव के आवारापन का समर्थन करते हुए उसे सामाजिक विद्रोह का प्रतीक मानना– इसी अवमानना का प्रतिकार है, जो तत्कालीन राजनीति किसानों और मजदूरों के साथ कर रही थी।

सन्दर्भ-सूची

१. नामवर सिंह– प्रेमचन्द और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष २०२३, पृष्ठ १२०
२. वही– पृष्ठ २७
३. रामस्वरूप चतुर्वेदी– हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, २०२१, पृष्ठ १४२
४. नवलकिशोर– प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, वर्ष २०१९, पृष्ठ ९४
५. बच्चन सिंह– आधुनिक हिन्दी साहित्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, पटना, वर्ष २०१८, पृष्ठ २०१
६. शिवकुमार मिश्र– प्रेमचन्द की विरासत और गोदान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष २०१६, पृष्ठ ८१
७. वही– पृष्ठ ८१
८. बच्चन सिंह– हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, पटना, २०२०, पृष्ठ ३७७
९. रजनी पाम दत्त– आज का भारत, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, वर्ष २०१५, पृष्ठ ४५५

●

कुत्ते की कहानी : प्रेम और उत्सर्ग का आख्यान

डॉ. एम. फ़ीरोज़ खान*

हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं के लेखकों ने बच्चों के लिए साहित्य-सृजन कर अपनी सम्वेदनशीलता और नैतिकता का परिचय दिया है। मनोरंजन, चारित्रिक विकास, उदात्त मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा, भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रति रुझान, ज्ञान-विज्ञान, लोक-परम्पराओं की समझ आदि बहुमूल्य ज्ञान से देश के बच्चों और किशोरों को परिचित कराने और उन्हें संस्कारित मनुष्य बनाने की दृष्टि से बालसाहित्य का महत्त्व सार्वकालिक है। 'पंचतन्त्र' के रचयिता आचार्य विष्णु शर्मा का यह कथन प्रासंगिक है–

'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते।।'

अर्थात् जिस प्रकार कच्चे घड़े पर की गयी नक्कासी उसके टूट जाने तक नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार कथा-कहानियों के बहाने कही गयी नीति-विद्या बालकों के कोमल हदय में आजन्म स्थिर रहती है।[१] अथवा जिस प्रकार किसी नवीन पात्र के कोई संस्कार नहीं रहते, उसी प्रकार बच्चों की हालत होती है। इसलिए उन्हें तो कथा आदि के द्वारा ही नीति के संस्कार बताना चाहिए। इस महत् उद्देश्य से प्रेरित होकर रचनाकारों को बालसाहित्य का सृजन किया जाना चाहिए।

डॉ. हरिकृष्ण देवसर– ''बालसाहित्य ऐसा हो, जो बच्चों में सहज सात्विक उत्सुकता उत्पन्न करे, उनमें कौतूहल पोषण करे और प्रवर्धन करे, जिज्ञासा की तृप्ति करे। बालसाहित्य का विषय ऐसा होना चाहिए, जिससे बालक संकीर्णता से ऊपर उठकर सच्ची मानवता और विश्व-कल्याण की भावना से अपना जनजीवन व्यतीत करने का संकल्प ले।''[२]

राष्ट्रबंधु ने लिखा है कि– ''बालसाहित्य रोचक एवं प्रेरक होना चाहिए।''

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी– ''बालसाहित्य बाल पाठकों का मनोरंजन एवं आनन्द प्रदान करते हुए उनका सर्वांगीण विकास करने वाला होना चाहिए।''

सोहनलाल द्विवेदी का विचार है– ''सफल बालसाहित्य वही है, जिसे बच्चे सरलता से अपना सकें और भाव ऐसे हों, जो बच्चों के मन को भाएँ। यों तो अनेक साहित्यकार बालकों के लिए लिखते रहे हैं, किन्तु सचमुच जो बालकों के मन की बात बालकों की भाषा में लिख दे, वही सफल बालसाहित्य लेखक है।''[३]

निरंकार सेवक का विचार है– ''जिस साहित्य से बच्चों का मनोरंजन हो सके, जिसमें वे रस ले सकें और जिसके द्वारा वह अपनी भावनाओं और कल्पनाओं का विकास कर सकें, वह बालसाहित्य है।''[४]

पण्डित जवाहरलाल नेहरू का यह कथन स्मरण करना चाहिए, जो उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था कि– ''हम बच्चों को पढ़ने की आदत डालने के लिए प्रोत्साहित करें और उन्हें उचित मनोरंजक पुस्तकें दें।''

ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, पुराण, कला, लोकजीवन, प्राचीन और अर्वाचीन, लौकिक-

---

* सम्पादक– वाङ्मय पत्रिका, फेस-१, २०५-ओहद रेजीडेण्सी, दोदपुर रोड, अलीगढ़, उ.प्र.

पारलौकिक आदि विविध विषयों पर हमारे देश के लेखकों ने रोचक बालसाहित्य लिखकर प्रमाणित किया है। रहस्य, रोमांच, जादू भी बालसाहित्य के लिए अपेक्षित रहा है। गौरतलब है कि हमारे देश में बालसाहित्य का मूल स्वर लोक साहित्य में मिलता है। लोक साहित्य का क्षेत्र व्यापक है। लोरियाँ, कथाएँ, लोकगीत, कहानियाँ, पहेलियाँ आदि भारतीय लोकजीवन में प्रचलित हैं। विष्णु प्रभाकर ने कहा था कि– ''बीसवीं सदी को बालकों की सदी कहा जाए, तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि इस सदी में पहली बार यह स्वीकार किया गया कि बच्चों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। इससे पहले वे केवल बड़ों का छोटा रूप ही माने जाते थे। बीसवीं सदी ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में, विशेषकर मनोविज्ञान के क्षेत्र में, नयी खोजों के कारण, इसी भ्रम का निराकरण किया है।''[५] हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में प्राय: हिन्दी साहित्यकारों ने बच्चों के लिए थोड़ा-बहुत जो भी बालसाहित्य रचा है, वह बालसाहित्य लेखन-परम्परा में ऐतिहासिक महत्त्व का है।

बालसाहित्य लेखकों में लल्लू लाल, सदल मिश्र, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द आदि प्रमुख हैं। लल्लू लाल ने 'सिंहासन बत्तीसी' तथा 'बेताल पच्चीसी' के नाम से संस्कृत पुस्तिकाओं का अनुवाद किया। सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' का अनुवाद बालोपयोगी है। प्रताप नारायण मिश्र ने बाल पाठकों को भारतीय इतिहास के गौरव से परिचित कराया। पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने बालकों की दृष्टि से साहित्य की रचना की, जो युगसापेक्ष है। द्विवेदी युग में बालसाहित्य-लेखन के प्रति लोगों में पर्याप्त जगरूकता आयी। प्रेमचन्दयुग में बालसाहित्य लेखकों की एक लम्बी शृंखला है। स्वाधीनतापूर्व के आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों ने बालसाहित्य का सृजन कर, बालजगत् के प्रति अपनी सम्वेदना व्यक्त कर, लेखकीय दायित्व का निर्वहन किया है।

कुत्ते को नायक बनाकर हिन्दी कथा साहित्य, हिन्दी सिनेमा और विश्व साहित्य में अनेक उत्कृष्ट रचनाओं का सृजन हुआ है। इंसान और कुत्ते (कविता)- हरिवंशराय बच्चन, कुत्ते और कुत्ते– श्रीलाल शुक्ल, कुत्ते की पूँछ– यशपाल, आदमी और कुत्ता– वनमाली आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। फ्रैज काफ्का की कहानी 'कुत्ते की खोज', मिसाइल बुल्गाकोव की 'कुत्ते का दिल', निकोलाई गोगोल की 'एक पागल की डायरी', टोबियस वोल्फ का 'हर डॉग', जान बर्जर का 'किंग' आदि से यह प्रमाणित है कि विश्व साहित्य में भी कुत्ते पर केन्द्रित लोकप्रिय साहित्य रचा गया है।

प्रेमचन्द ने बाल कथा साहित्य-लेखन के क्षेत्र में अपनी महती भूमिका निभायी है। बड़ों के लिए लिखी गयी अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियों में भी सम्वेदनशीलता और भावनात्मकता के स्तर पर बाल्यजीवन का यथार्थ उद्घाटित हुआ है। सामाजिक कुरीतियों से जूझते हुए आगे बढ़ने का भाव बाल पात्रों के जीवन में दिखाई दिया है। प्रेमचन्द बाल-मनोविज्ञान के सच्चे पारखी थे। बच्चों का चुलबुलापन, निश्छलता, सहजता, जिज्ञासा-वृत्ति, उदासी और गरीबी के बीच संघर्ष उनकी बाल कहानियों में अंकित है। गुल्ली-डंडा, बच्चा, दो भाई जैसी कहानियाँ बाल मनोभावों की सच्ची अभिव्यक्ति हैं। 'ईदगाह' कहानी में बालपन की मासूमियत, भावनात्मक लगाव और समयपूर्व जिम्मेदार बनने की मनोदशा दर्शायी गयी है। सुभागी, लांछन, उन्माद जैसी कहानियाँ बाल विवाह के कारण बचपन छिन जाने या कम उम्र में विधवा होने की त्रासदी को रेखांकित करती हैं।

प्रेमचन्द की बाल कहानियों का एक संकलन १९४८ में, सरस्वती प्रेस से, प्रेमचन्द के पुत्र श्रीपतराय के सम्पादन में 'जंगल की कहानियाँ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ, जिसमें प्रेमचन्द की १२ बाल कहानियाँ संकलित हैं। इसके अतिरिक्त, प्रेमचन्द द्वारा बच्चों के लिए लिखित उपन्यास 'कुत्ते की कहानी', कलम, तलवार और त्यागी महापुरुषों की जीवन कथाएँ– महात्मा शेख शादी, राम-चर्चा, दुर्गादास (जीवन-चरित) बाल कथा-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। बच्चों में स्वाधीन-चेतना का भाव भरने और जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा प्रेमचन्द के बाल कथा-साहित्य का लक्ष्य रहा है। यहाँ हम प्रेमचन्द के बाल उपन्यास– 'कुत्ते की कहानी'– पर विचार करेंगे।

प्रेमचन्द की दृष्टि और सम्वेदना में मनुष्य का सबसे विश्वसनीय मित्र– कुत्ता– कथानायक बनकर उपस्थित हुआ है। मानवेतर जगत् का सबसे समझदार और सम्वेदनशील प्राणी कुत्ता ही माना गया है। उसके माध्यम से बच्चों की दुनिया को एक सकारात्मक और मानवीय सन्देश देना कथालेखक का उद्देश्य है। उसे एक मानवीय सोच से लैस किया गया है।

'कुत्ते की कहानी' प्रसिद्ध बाल उपन्यास है। कुछ आलोचकों ने इसे लम्बी कहानी भी कहा है और कुछ आलोचकों ने बालसाहित्य का प्रथम उपन्यास भी माना है। इसकी रचना प्रेमचन्द ने अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले ही की थी। आत्मकथात्मक शैली में रचित यह बाल उपन्यास अपने कथ्य और शिल्प में अनूठा है। इस पर चिल्ड्रन्स फ़िल्म सोसायटी द्वारा फ़िल्म भी बनायी गयी है। १४ जुलाई, १९३६ को 'कुत्ते की कहानी' की भूमिका में बच्चों से बात करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं– ''प्यारे बच्चों! तुम जिस संसार में रहते हो, वहाँ कुत्ते-बिल्ली ही नहीं, पेड़-पत्ते और ईंट-पत्थर तक बोलते हैं। बिल्कुल उसी तरह, जैसे तुम बोलते हो और तुम उन सबकी बातें सुनते हो और बड़े ध्यान से कान लगाकर सुनते हो। उन बातों में तुम्हें कितना आनन्द आता है! तुम्हारा संसार सजीवों का संसार है। उसमें सभी एक-जैसे जीव बसते हैं। उन सबों में प्रेम है, भाई-चारा है, दोस्ती है। जो सरलता साधु-सन्तों को बरसों के चिन्तन और साधना से नहीं प्राप्त होती, वह तुम परमपिता के घर से लेकर आते हो। ...मैं तुम्हारी उसी आत्म-सरलता को भेंट करता हूँ। तुम देखोगे कि यह कुत्ता बाहर से कुत्ता होकर भी भीतर से तुम्हारे ही जैसा बालक है, जिसमें वही प्रेम और सेवा तथा साहस और सच्चाई है, जो तुम्हें इतनी प्रिय है।''[६] उपन्यास को प्रेमचन्द ने दस उपभागों में विभक्त किया है। पहले भाग में लिखते हैं– ''बालकों! तुमने राजाओं और वीरों की कहानियाँ बहुत सुनी होंगी, लेकिन किसी कुत्ते की जीवन-कथा शायद ही सुनी हो। कुत्तों के जीवन में ऐसी बात ही कौन-सी होती है, जो सुनाई जा सके? न वह देवों से लड़ता है, न परियों के देश में जाता है, न बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीतता है; इसलिए भय है कि तुम मेरी कहानी को उठाकर फेंक न दो। किन्तु तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे जीवन में ऐसी कितनी ही बातें हुई हैं, जो बड़े-बड़े आदमियों के जीवन में भी नहीं हुई होंगी।''[७]

प्रेमचन्द कथा के मुख्य पात्र 'कल्लू कुत्ते' के मार्फत पाठकों से इस बात के लिए आश्वस्ति चाहते हैं कि– ''जिस तरह तुम कुत्तों को दुत्कार दिया करते हो, उसी भाँति मेरी इस कथा को ठुकरा न देना। इसमें तुम्हें कितनी ही बातें मिलेंगी और अच्छी बातें जहाँ मिलें, तुरन्त ले लेना चाहिए।''[८] बच्चों, किशोरों और वयस्कों ने कुत्ते की कहानी को रुचिपूर्वक पढ़ा और गुना है। मानवेतर प्राणी कुत्ते के चरित्र को नायकत्व देकर प्रेमचन्द ने अपनी व्यापक मानवीय सम्वेदना का भी परिचय दिया है।

यह बाल उपन्यास दस भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में कुत्ते के जीवन-संघर्ष को विभिन्न

रोचक एवं करुण घटनाओं तथा कथा-प्रसंगों के माध्यम से चित्रित किया गया है। कुत्ता एक बालक की तरह अपने साहस, विवेक, भय, कौतूहल और सांसारिक जीवन की वास्तविकता से परिचित कराता है। यह एक माँ की कोख से जन्मे दो पिल्लों– कल्लू और ज़किया– के बचपन तथा जीवन-संघर्ष की रोमांचक कथा है। कल्लू ही अपने परिवार की कथा पाठकों को सुनाता है। उपन्यास की शुरुआत में कल्लू अपने जन्म और माँ की संघर्ष-कथा सुनाता है– "जब मेरा जन्म हुआ, तो मेरी आँखें और कान बन्द थे। इसलिए नहीं कह सकता कि बाजे-गाजे बजे, गाना-बजाना हुआ या नहीं। मुझे तो कुछ सुनाई न दिया। हाँ, जिस बिछावन में मैं लेटा था, वह रुई की भाँति नर्म था। सर्दी ज़रा भी न लगती थी। मैं दिल में समझ रहा था, किसी बड़े घर में मेरा जन्म हुआ है। लेकिन जब आँखें खुलीं, तो मैंने देखा कि एक भाड़ की राख में अपनी माता की छाती से चिपटा हुआ पड़ा हूँ।"[९] कुत्ते की जीवन-कथा मुख्यत: भूख की समस्या से जुड़ी हुई है। एक बनिए के यहाँ आयोजित ब्राह्मण भोज में कुतिया के पहुँच जाने से आमन्त्रित ब्राह्मणों ने भोजन-भ्रष्ट मानकर भोज का बहिष्कार कर दिया। लोग भूखे चले गए। बनिए का नुकसान हुआ और उसने क्रोध में कल्लू की माता यानी कुतिया की निर्दयतापूर्वक पिटाई कर दी। कुछ लोगों के समझाने पर कि– "जाने दो भाई, भूख में आदमियों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, यह तो पशु है। इसे क्या मालूम किसका फायदा हो रहा है, किसका नुकसान? अब तो जो हो गया, सो हो गया। इसे मारकर क्या पाओगे?"[१०]

कुतिया को छोड़ दिया जाता है। दूसरा प्रसंग, एक बटोही द्वारा बनाई गयी दाल और गूँथे हुए आटा को कुतिया जूठा कर देती है। यहाँ भी कुतिया की पिटाई की नौबत आती है। एक फक़ीर की यह उक्ति– "शाह की मुहर आने-आने पर, खुदा की मोहर दाने-दाने पर...कोई किसी को न खिलाता है और न किसी का खाता है, सबको खिलाने वाला ईश्वर है।"[११] इस बात पर विचार कर वह राहगीर शान्त हो जाता है। कल्लू के छोटे भाई ज़किया की कथा भी समानान्तर चलती रहती है। ज़किया एक माँसाहारी व्यक्ति डफाली के घर पलता है और कल्लू एक पण्डित के यहाँ पहुँच जाता है। कल्लू रूखा-सूखा खाकर संतोष कर लेता है, जबकि ज़किया माँसाहारी हो गया है। वह ख़ूब तगड़ा है। अपने भाई कल्लू को देखकर वह गुर्राता है। माँस के एक टुकड़े के लिए ज़किया अपनी माँ को भी नहीं पहचानता है और लड़ाई कर लेता है। मनुष्य हो या पशु, उसके लिए भूख की विकट समस्या है। इस बात पर कल्लू खेद व्यक्त करता है– "पेट भी क्या चीज़ है? इसके लिए लोग अपने-पराये भूल जाते हैं। नहीं तो अपनी सगी माता और अपना सगा भाई क्यों दुश्मन हो जाते! यह तो हम जानवरों की बातें हैं। मनुष्यों की ईश्वर जाने।"[१२]

कल्लू और ज़किया बड़े होकर अपनी माँ और भाई से विलग हो जाते हैं। माँ से बिछुड़ना कल्लू को बहुत अखर जाता है। दोनों पिल्लों के साथ मुहल्ले के बच्चों के दुर्व्यवहार और सताये जाने की चर्चा करते हुए कल्लू ने अपनी व्यथा-कथा कही है। कल्लू की पीड़ा भरे शब्द हैं– "हम दोनों में से सुखी तो एक भी न था। पर ज़किया की दशा मेरी दशा से अच्छी थी। पण्डित के यहाँ रूखा-सूखा भोजन मिलता। ज़किया माँस का प्रेमी हो गया।"

पण्डित जी के घर में अनाज रखा हुआ था। अनाज के लालच में चूहों ने अपना अड्डा बना लिया था। गणेश का वाहन कहे जाने के नाम पर चूहे मरने से बचते रहे। चूहों का सर्वनाश कल्लू द्वारा किया गया। उसने ५०० चूहों को सदा के लिए सुला दिया था। चौथी घटना यह कि एक पानी भरे गड्ढे में डूब रहे पण्डित के बेटे की जान कल्लू ने बचायी थी। इस घटना से कल्लू के

प्रति पण्डित जी का प्यार और अधिक बढ़ गया था। उसकी तारीफ में गाँव वालों ने कहा– ''यह कुत्ता पूर्व-जन्म का कोई देवता है। किसी बात से चूका और कुत्ते का जन्म पा गया। कोई कहता– नहीं, इस पर भैरवनाथ का अवतार।''[१३]

कल्लू अपने करतब और व्यवहार से पण्डित जी के घर का सदस्य-सा बन गया था। वह उनके दु:ख और सुख का साथी था। पण्डित जी के मटर के खेत में भेंड़ें पड़ गयीं, ईख के खेत में आग लगा दी गयी, कल्लू ने अपनी जान खतरे में डालकर साहस का परिचय दिया था। पण्डित जी अपनी दयालुता प्रदर्शित करने का दिखावा करते हैं और उस गड़ेरिये को क्षमादान दे देते हैं, जिसने कल्लू को पीटकर अधमरा कर दिया था और कल्लू को अस्पताल में इलाज के लिए एडमिट करना पड़ा था।

ज़किया बदमाश और स्वार्थी हो गया है। उसे मालिक ने घर से निष्कासित कर दिया। वह ताकतवर था, किन्तु भले-बुरे की पहचान न थी उसे। वह कल्लू की जान का दुश्मन बन गया था। ज़किया बेसुरा राग छेड़ देता था। गुण उसमें यही था कि वह मज़बूत बहुत था। क्या मजाल कि कोई दूसरे गाँव का कुत्ता आ जाए। गीदड़ों की तो उसे देखते ही नानी मर जाती थी। उसने नील गाय, हिरण, बन्दरों के उत्पात को खत्म किया। कल्लू को अपनी माँ की चिन्ता बराबर बनी रहती है। माता की दशा बहुत ख़राब हो जाती है। भूख, चिन्ता, पिटाई आदि कारणों ने मिलकर उसे पागल बना दिया। माता के काटने से गड़ेरिया की मौत हो गयी और ज़किया की पुलिस की गोली से मौत हो गयी।

कल्लू के करतब बहुत निराले थे। बहादुरी के लिए उसकी हर कोई प्रशंसा करने लगा था। कल्लू चोरों से पण्डित जी का घर लुटने से बचाने का सफल प्रयास करता है। इस उपन्यास में श्रीरामचन्द्रजी और कुत्ते का रोचक प्रसंग भी वर्णित है। जंगली सुअर के उत्पात से खेत बर्बाद हो जाता है। कल्लू ने मालिक को सावधान करने की कोशिश की। सुअरों और कुत्तों के संघर्ष के दौरान एक सुअर गाँव में आए एक साहब पर आक्रमण कर देता है, तो कल्लू अपनी जान पर खेलकर साहब को बचा लेता है। प्रसन्न होकर साहब कल्लू को अपने बँगले पर ले जाता है और उस पर ख़ूब प्यार लुटाता है। कल्लू को साबुन से नहलाया जाता है, ताज़ा माँस खाने को दिया जाता है। मेम साहब कल्लू को गोद में लेकर वाहन पर घुमाती हैं। पण्डित जी कल्लू के बिना बहुत दु:खी होते हैं। पण्डित जी अपना कुत्ता माँगते हैं, पर साहब किसी भी स्थिति और क़ीमत पर कल्लू को वापस नहीं लौटाता है। पण्डित जी दाम देकर कल्लू को हासिल करना चाहते हैं, किन्तु साहब तैयार नहीं होते हैं। पण्डित जी के साथ कल्लू को नहीं जाने दिया जाता है। साहब का नौकर कल्लू के गले में ज़ंजीर बाँध देता है। साहब कल्लू को जहाज में बिठाकर अपने देश ले जाता है। जल मार्ग देखकर कल्लू के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। समुद्र में यकायक आये तूफ़ान से जहाज पानी में डूबने लगता है। साहब और उनकी मेम पानी में बहने लगते हैं। स्वामीभक्त कल्लू पानी में तैरता हुआ साहब व मेम– दोनों को डूबने से बचा लेता है। अपरिचित गाँव के लोग साहब और उनकी पत्नी को एक झोपड़ी में बन्दी बना लेते हैं। चोरी-चुपके कल्लू ने साहब की भूख के लिए माँस का टुकड़ा उपलब्ध कराया। कल्लू बड़ी हिकमत और हिम्मत से साहब दम्पति को कैद से छुड़ा लेता है। इस कार्य में अप्रत्याशित रूप से एक शेर की मदद मिलती है। जान बचाकर तीनों एक हवाई जहाज में बैठकर साहब के बँगले पर पहुँचते हैं। कल्लू का विधिवत सेवा-सत्कार होता है। मेमसाब अपने हाथों से उसे खाना खिलाती हैं। कल्लू गर्व से

फूला नहीं समाता है। वह अपनी बिरादरी वालों से कहना चाहता है कि– ''मुझमें कोई सुर्खाब के पर नहीं लग गये हैं। मैं आज भी वही कल्लू हूँ। वही कमजोर, मरियल कल्लू। मगर मैंने अपने कर्त्तव्य-पालन में चूक नहीं की, सच्चाई को कभी हाथ से नहीं जाने दिया, मैत्री को हमेशा निभाया और यह एहसान कभी नहीं भूला।... जो कुछ सत्य समझा, उसकी रक्षा में प्राण तक देने kâsle ewèj jne Dejw Gner kâr yejkâe nwefeâ ceQ Depe Fleve mes Dejw Deeoj hee jne nB'[१४]

अगले दिन शहर के कुछ सम्मानित लोग कल्लू का सार्वजनिक अभिनन्दन करते हैं। वह अपनी खुशी शेयर करने के लिए गाँव में जाता है। उसे डर है कि कहीं उसकी बिरादरी वाले उस पर आक्रमण न कर दें और खाने के लिए दी गयी हड्डियों को छीनने न लगें। उसी वक्त पण्डित जी आकर कल्लू को बचाते हैं और स्नेह व्यक्त करते हैं– ''तुम तो अब बहुत बड़े ऋषि हो गये कल्लू! तुम्हारी तो अख़बारों में तारीफ हो रही है। तुम इन गधों के बीच में कैसे आ फँसे!''[१५] पण्डित जी के यहाँ आकर– ''स्वानश्रेष्ठ कल्लू का सम्मान होता है। मनुष्यों के साथ रहकर कुत्ते में भी बुराई आ जाना स्वाभाविक है। सत्संग का प्रभाव हरेक पर पड़ता ही है।'' ''यह बुराई हमने आदमियों से ही सीखी है। आदमियों ही में यह दस्तूर है कि भाई-भाई लड़ता है, बाप-बेटे से, भाई-बहन से। भाई एक-दूसरे की गर्दन तक काट डालते हैं, बेटा बाप के ख़ून का प्यासा हो जाता है, दोस्त-दोस्त का गला काटता है, नौकर मालिक को धोखा देता है। हम तो आदमियों के ही सेवक हैं, उन्हीं के साथ रहते हैं। उनकी देखा-देखी अगर यह बुराई हममें आ गयी, तो आज अचरज की कौन-सी बात है?''[१६]

अपने करिश्माई कारनामों के कारण कल्लू को लोग देवता का दर्जा देने लगते हैं। प्रेमचन्द कुत्ते के मुँह से कहलवाते हैं– ''यह कोई देवता है और इस रूप में संसार का कल्याण करने आया है। जेण्टलमैन लोग देवता तो न समझते थे, पर कोई गैर-मामूली, चमत्कारी जीव अवश्य समझ रहे थे। कई देवियों ने तो मेरे पाँव भी छुए। मुझे उनकी मूर्खता पर हँसी आ रही थी। आदमियों में भी ऐसे-ऐसे अक्ल के अन्धे मौजूद हैं।''[१७] साहस, रोमांच और सूझ-बूझ की तरकीबों से भरी यह कहानी एक रूपक भी है, जो कुत्ते के बहाने बालमन में मानवीय मूल्यों को गहरे प्रतिष्ठापित करती है। निस्सन्देह बच्चों के लिए इस कहानी का आस्वाद बहुत रोचक और व्यापक सीख भरा है।

'कुत्ते की कहानी' प्रकारान्तर से व्यंग्य-कथा का भी प्रभाव छोड़ती है। अनेक स्थलों पर लेखक ने मानव-समाज की विसंगतियों पर सटीक व्यंग्य किया है। कल्लू की जीवन-कथा के माध्यम से समाज की विद्रूपताओं और भ्रष्ट व्यवस्था की पोल भी खोली गयी है। एक प्रसंग में पुलिस महकमे की असलियत बयाँ की गयी है– चौधरी बोले– ''अजी, पुलिस का ढकोसला बहुत बुरा होता है। वे भी आकर कुछ-न-कुछ चूसते ही हैं। मैंने तो इतनी उम्र में सैकड़ों बार इत्तिलाएँ की; मगर चोरी गई हुई चीज़ कभी वापस न मिली।''[१८]

उपन्यास के मार्फत प्रेमचन्द बच्चों में नैतिक मूल्यों, मानवीयता व सम्वेदनशीलता का स्रोत प्रवाहित करना चाहते हैं। क़ायदे से देखा जाए, तो यह उपन्यास मनोरंजन-कथा कम, बल्कि बच्चों के हृदय में जीव-जन्तुओं के प्रति सहृदयता, सम्वेदनशीलता, करुणा, सम्मान का भाव जाग्रत करने की कथा है। जीव-जन्तुओं का यह जगत् लेखक के ग्रामीण परिवेश का ही अटूट हिस्सा है।

प्रेमचन्द ने इस बाल उपन्यास के अन्त में स्वतन्त्रता और सेवा-भाव के सिद्धान्त को महत्त्व

दिया है– ''मगर अब यह मान-सम्मान मुझे बहुत अखरने लगा है। यह बड़प्पन मेरे लिए कैद से कम नहीं है। उस आज़ादी के लिए जी तड़पता रहता है, जब मैं चारों तरफ मस्त घूमा करता था। न जाने आदमी साधु बनकर मुफ्त का माल कैसे उड़ाता है? मुझे तो सेवा करने में जो आनन्द मिलता है, वह सेवा पाने में नहीं मिलता, शतांश भी नहीं।''[१९]

वस्तुत: प्रेमचन्द का बाल कथा-लेखन बच्चों की सम्वेदनशीलता, उदात्त भावनाओं और जीवन-मूल्यों के विकास की अद्वितीय कथा है।

सन्दर्भ-सूची

१. पण्डित श्री विश्वनाथ शर्मा– हितोपदेशे मित्र लोभ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९५ (पुनर्मुद्रण), पृ. ४

२. बालसाहित्य : एक अध्ययन– आत्माराम एण्ड संस, नई दिल्ली, १९६९, पृ. ९ से उद्धृत

३. वही– पृ. ७

४. वही

५. कादम्बिनी– जून १९६६, पृ. ११०, (हिन्दी बालसाहित्य : एक अध्ययन, पृ. ४ से उद्धृत)

६. प्रेमचन्द– कुत्ते की कहानी, संदर्भ प्रकाशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२, सं. २००७, भूमिका से

७. भूमिका एवं मार्गदर्शन– डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद रचनावली, खण्ड अठारह, जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली-३२, म. प्र.सं. १९९६, पृ. २१९

८. वही

९. वही

१०. वही– पृ. २२०

११. वही– पृ. २२१

१२. वही– पृ. २२३

१३. वही– पृ. २२५

१४. वही– पृ. २४५-४६

१५. वही– पृ. २४६

१६. वही– पृ. २३३

१७. वही– पृ. २४६

१८. वही– पृ. २२९

१९. वही– पृ. २४७

●

नवजागरणकालीन स्त्री गद्य-लेखन

डॉ. श्रद्धा सिंह*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक युग को 'गद्य काल' की संज्ञा दी, जहाँ से तरतीबवार गद्य की विविध विधाओं का आरम्भ होता है। गद्य केवल कथा-कहानी का ही माध्यम नहीं है, प्रत्युत वैचारिक लेखन का भी माध्यम है। स्त्रियों के द्वारा लिखित गद्य साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही मिलने लगता है, जो बहुवर्णी और बहुआयामी है, पर उसकी व्यवस्थित पहचान आलोचकों और इतिहासकारों द्वारा न के बराबर हुई। स्वतन्त्रतापूर्व स्त्री गद्य-लेखन हिन्दी साहित्य के इतिहास का विस्मृत प्राय अध्याय है। हिन्दी इतिहासकारों में, सबसे पहले 'स्त्री साहित्य' जैसे पदबन्ध का प्रयोग, स्त्री-लेखन की स्वतन्त्र पहचान करते हुए, १९३१ में डॉ. रसाल ने किया। उन्होंने 'स्त्री कवि कौमुदी' की भूमिका 'हिन्दी में स्त्रियों का काव्य साहित्य : ऐतिहासिक विकास' में स्त्री साहित्य पदबन्ध का प्रयोग किया है। स्त्री रचनाकारों को सामने लाने की दृष्टि से सुमन राजे की चर्चित पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' तथा नीरजा माधव की कृति 'हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास' भी महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें स्त्रियों के द्वारा रचित कविताओं के साथ ही; गद्य की भी चर्चा की गयी है। बावजूद इसके; स्वतन्त्रतापूर्व स्त्री गद्य-लेखन मात्र दस-पाँच स्त्री रचनाकारों की चर्चा में ही सिमट जाता है, जबकि साहित्यिक क्षितिज पर बंग महिला के उदय के बाद हिन्दी लेखिकाओं की एक अच्छी संख्या है।

पत्र-पत्रिकाओं में छपने, पुस्तकों के विधिवत प्रकाशन के बाद भी स्त्री-लेखन का उल्लेख न होना, पुरुषवादी दृष्टि की प्रधानता के कारण ही हुआ। यह आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी के प्रारम्भिक कहानीकारों में बंग महिला की चर्चा करने वाले और उनके 'कुसुम संग्रह' का सम्पादन कर प्रस्तुत करने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी बंग महिला को गद्य-लेखन के क्रम में समुचित स्थान नहीं दिया। प्रकाशित सामग्री के अभाव की बात भी बेमानी है, क्योंकि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में महिलाएँ प्रभूत परिमाण में लेखन-कार्य कर रही थीं। अतः स्त्रियों द्वारा लिखित गद्य साहित्य का सम्यक् परिशीलन स्त्री-रचनाशीलता के आयामों से तो हमें परिचित कराता ही है, हिदी साहित्य की समृद्धि में अपने लिए सही जगह की माँग भी करता है। स्त्रियों के द्वारा रचित गद्य भी उसी आधुनिक काल की सम्पदा है, जिसे आचार्य शुक्ल ने 'गद्यकाल' कहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विधिवत स्त्री-गद्य सामने आता है। पत्र-पत्रिकाओं में उपस्थित स्त्री-गद्य का बहुआयामी संसार इस बात का प्रबल साक्ष्य है कि समसामयिक विषयों पर टिप्पणी करने और अपने विचार प्रस्तुत करने में स्त्री-गद्य पीछे नहीं रहा।

१९०० ई. से पूर्व स्त्री-गद्य– स्त्रियों के द्वारा लिखित गद्य के रूप में १८८२ का काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जब बंगाल की मोक्षदायिनी मुखोपाध्याय का बंगला में कविता-संग्रह 'बन प्रसून' और महाराष्ट्र की एक क्रान्तिकारी महिला ताराबाई शिंदे की पुस्तक 'स्त्री-पुरुष-तुलना' छपी थी। १८८२ में ही हिन्दी में एक पुस्तक छपी थी। इसमें नारी-जागरण का स्वर अत्यन्त प्रमुख है, जिसे पुनर्प्रस्तुत करते हुए डॉ. धर्मवीर ने लेखिका की जगह 'अज्ञात हिन्दू महिला' लिख दिया। लेकिन जून १९९९ के 'हंस' में छपे अपने लेख 'सीमंतनी उपदेश की लेखिका कौन थी' में सम्भावना

* वरिष्ठ आचार्य– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

प्रकट की गयी कि उस लेखिका का नाम माई भगवती हो सकता है, जो उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक के पंजाब में एक लोकप्रिय लेखिका के रूप में प्रसिद्ध थीं। 'सीमंतनी उपदेश' हिन्दू समाज में स्त्री की गुलामी और यातना के विभिन्न रूपों के व्यापक ज्ञान और अनुभवों के आधार पर लिखी किताब है। उसमें विधवा जीवन की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण है, सती-प्रथा का जोरदार विरोध है, पतिव्रता और सतीत्व सम्बन्धी भ्रामक विचारों का खण्डन है, पुरुषों के दोहरे चरित्र की पोल खोली गयी है और धर्म के नाम पर स्त्री की गुलामी के लिए फैलाए गए जाल को तर्क की कसौटी पर कसकर छिन्न-भिन्न किया गया है। १८८३ में प्रकाशित हरदेवी की पुस्तक 'मेरी लंदन यात्रा' सम्भवत: स्त्री-गद्य की पुस्तकाकार प्रकाशित पहली पुस्तक है, जिसे हिन्दी में यात्रा वृत्तान्त की पहली पुस्तक भी माना जा सकता है। १९९० में धर्मेन्द्र प्रेस, बनारस से 'सुहासिनी' नामक उपन्यास छपा, जिसे ब्रजरत्नदास मल्लिका देवी की कृति मानते हैं। १८९३ में हरदेवी का उपन्यास 'हुक्मदेवी' भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग से और १८८९ में सरस्वती गुप्ता का उपन्यास 'राजकुमार' भारत मित्र यन्त्रालय, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

स्त्री-गद्य का विधिवत विकास पत्रकारिता के साथ होता है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही, विभिन्न स्त्री संगठनों, आश्रमों, क्लबों की स्थापना के साथ, पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेखन के माध्यम से स्त्रियों ने सामाजिक विसंगतियों, असमानता, पुरुष-वर्चस्व, स्त्रियों की शोषक स्थिति आदि पर लिखना शुरू कर दिया था। पण्डिता रमाबाई ने अपने समय की सामाजिक रूप से परित्यक्त, घरेलू हिंसा और शोषण की शिकार स्त्रियों के लिए 'शारदा सदन' (१८८९), महिलाओं की शिक्षा को बढ़ावा देने और बाल विवाह के उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से 'आर्य महिला समाज' (१८८२) अनाथों, विधवाओं और निराश्रित महिलाओं को आश्रय, शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए बनाया था। इन संस्थाओं के माध्यम से रमाबाई ने भारतीय महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने और उन्हें सामाजिक अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए प्रेरित किया।

हेमन्त कुमारी देवी चौधरानी ने १८८५ में हर देवी के साथ मिलकर 'वनिता बुद्धि प्रकाशिनी सभा' का गठन किया, जिसके माध्यम से स्त्री-शिक्षा के प्रश्नों को जोरदार ढंग से उठाया। १८८६ में उन्होंने 'भगिनी सभा' की स्थापना की और बालिकाओं के लिए पुस्तकालय भी खुलवाया।

स्वर्ण कुमारी देवी (१८८५-१९३२) द्वारा स्थापित महिला संस्था 'सखी समिति' (१८९६) का उद्देश्य विधवा और अनाथ महिलाओं को शिक्षा प्रदान कराना था।

रमाबाई रानाडे (१८६३-१९२४, महादेव गोविन्द रानाडे की धर्मपत्नी) महिला अधिकार कार्यकर्ता तथा समाज-सुधारक थीं। उन्होंने १८८४ में पुणे में 'हुजूरपागा गर्ल्स हाईस्कूल' की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी और १९२०-२२ के बीच 'बाम्बे प्रेसीडेण्सी' में महिलाओं के मताधिकार की वकालत की। महिला शिक्षा व सशक्तीकरण के लिए मुम्बई में 'हिन्दू लेडीज़ सोशल एण्ड लिटरेरी क्लब' (१८९३ से १९०१ के बीच) की शुरुआत की, जिसका उद्देश्य शिक्षा और व्यावसायिक कौशल के माध्यम से महिलाओं के जीवन-स्तर में सुधार लाना था। १९०४ में उन्होंने महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार लाने और पर्दा-प्रथा को समाप्त करने के उद्देश्य से बम्बई में 'भारत महिला परिषद' की स्थापना की। फिर; पुणे में विधवाओं और जरूरतमन्दों को शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण और आत्मनिर्भरता प्रदान कराने के उद्देश्य से 'सेवा सदन सोसायटी' (१९०९) की स्थापना की।

सरला देवी चौधरानी (१८७२-१९४५) भारत में पहली महिला संगठन की संस्थापक थी।

उन्हें 'पंजाब की शेरनी' कहा जाता है, जिन्होंने १९१० में इलाहाबाद में 'भारत स्त्री महामण्डल' (१९१०) की स्थापना की, जिसके माध्यम से महिला-शिक्षा को बढ़ावा देने का कार्य किया गया।

एनी बेसेण्ट ने बनारस में 'महिला सेवा संघ (१९१५) की स्थापना की, जो महिला अधिकारों के लिए सक्रिय रहा तथा १९१७ में स्थापित 'भारतीय महिला संघ' के माध्यम से महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष किया।

मार्गरेट कजिंस ने १९२६ में 'अखिल भारतीय स्त्री सभा' की स्थापना के द्वारा बाल-विवाह, तलाक और पर्दा-प्रथा जैसे व्यापक मुद्दों पर अनेक कार्य किए।

भारत में स्त्री-संगठनों के उदय के साथ-साथ स्त्रियाँ सामाजिक-राजनीतिक और व्यक्तिगत सरोकारों से लैस होकर सम्पादन के क्षेत्र में आयीं। स्त्री-हित की बात सोचने तथा स्वयं स्त्री को अपने बारे में विचार करने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अनेक प्रयास किए जाने लगे थे, जिनमें पत्र-पत्रिकाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। पण्डिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनन्दीबाई जोशी, फ्रानना सारोबजी, एनी जगन्नाथन और रुक्माबाई आदि ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाए तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से स्त्री-विषयक चिन्तन प्रस्तुत किया। स्वतन्त्रतापूर्व प्रकाशित होने वाली ये पत्रिकाएँ स्त्रियों के आधुनिकीकरण के साथ ही पढ़ी-लिखी स्त्रियों को उन्मुक्त वैचारिक और रचनात्मक अभिव्यक्ति का व्यापक फलक प्रदान कर रही थीं। नवजागरणकालीन महिला पत्रकारिता (१९वीं से २०वीं सदी) पितृसत्तात्मक बाधाओं को तोड़कर स्त्री-शिक्षा, सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय चेतना जगाने का सशक्त माध्यम बनी। इस आन्दोलन में शामिल महिलाओं ने अपने लेखन में पुरुषों की स्वार्थपरता, समाज में उनके विशेषाधिकारों, स्त्री के प्रति उनकी तिरस्कारपूर्ण दृष्टि और स्त्रियों पर अत्याचार और शासन करने की उनकी प्रवृत्ति की कटु आलोचना की, जो उन्नीसवीं सदी के प्रमुख सुधारकों के स्त्री-आन्दोलन में नहीं मिलती। फिर भी; यह स्त्री-आन्दोलन आज के नारीवाद से, जो न सिर्फ एक आन्दोलन है, बल्कि जिसे एक विचारधारा भी बताया जाता है, बुनियादी तौर पर भिन्न था। दिलचस्प बात यह है कि आज के नारीवाद की कुछ विशेषताएँ और लक्षण उस वक्त के नारी-आन्दोलन में पनपते दिखाई देते हैं।[१]

१८८८ में बनारस से 'रहस्य चन्द्रिका' पाक्षिक का सम्पादन मल्लिका देवी ने किया। १८८८ में हेमंत कुमारी चौधरानी द्वारा सम्पादित 'सुगृहिणी' से स्त्री पत्रकारिता की शुरुआत मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त; 'भारत भगिनी' (१८८९) सम्पादिका– हर देवी, रहस्य चंद्रिका' (१८८८) सम्पादिका– मल्लिका देवी, 'वनिता हितैषी (१८९३) सम्पादिका– श्रीमती भाग्यवती आदि हैं। इस समय की पत्रिकाओं में स्त्रियों में अपने अधिकारों के प्रति चिन्ता भी है और साथ ही माँग भी, जिन्हें वह दया और दान के तौर पर नहीं, अधिकार के साथ माँगती हैं।

बीसवीं शताब्दी की स्त्री पत्रकारिता– बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध कई मायनों में स्त्री-गद्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, नाटक के अलावा वैचारिक गद्य-लेखन प्रभूत परिमाण में हुए। स्त्रियों ने अपने विचारों को धार देने के क्रम में एक ओर पुरुषों के द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं में लिखना शुरू किया, वहीं पत्रिका-सम्पादक के रूप में भी स्त्रियों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। पत्रकारिता के इस कार्य ने स्त्री-लेखन को नया आयाम और समृद्धि प्रदान की। स्त्रियों द्वारा सम्पादित अनेक पत्र-पत्रिकाओं में १९३१ एवं १९३६ में क्रमशः 'दैनिक जन्मभूमि' तथा 'दैनिक शक्ति' प्रकाशित हुए, जिसकी सम्पादिका उर्मिला शास्त्री और शन्नो देवी

थीं। १९२४ में प्रकाशित 'महिला सुधार' नामक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन सीता देवी ने किया था तथा 'वसुंधरा' साप्ताहिक का १९२२ में कलकत्ता से सम्पादन रमाबाई ने किया था।

बीसवीं शताब्दी में मासिक और पाक्षिक रूप से प्रभूत परिमाण में पत्रिकाएँ निकलीं। पहले दशक (१९०९) में इलाहाबाद से दो महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ निकलीं– स्त्री-दर्पण (रामेश्वरी नेहरू) और स्त्री धर्म-शिक्षक (यशोदा देवी)। इसी प्रकार, दूसरे दशक में गृहलक्ष्मी (गोपाला देवी), कन्या सर्वस्व (यशोदा देवी), महिला (रामधारी देवी यादिवा), महिला दर्पण (शारदा कुमारी देवी), बारह सैनी (प्रियंवदा गुप्ता), तीसरे दशक में- महिला (लक्ष्मण कुमारी), महिला सर्वस्व (सुशीला देवी), ज्योति (विद्यावती सेठ), महिला सुधार (सीता देवी), चौथे दशक में त्रिवेणी (फूलवती शुक्ला), चाँद (महादेवी वर्मा), हिंद मार्तण्ड (मैना देवी), नई तालीम महिला (आशा देवी), स्त्री-भूषण (सीता देवी एवं भाग्यवती देवी), पाँचवें दशक में कहानियाँ (शकुंतला देवी), मोहिनी (मनमोहिनी), रूपरानी (लता रानी) आदि पत्रिकाएँ निकलीं। इन पत्रिकाओं ने स्त्री रचनाकारों को प्रोत्साहित करते हुए उनके वैचारिक क्षितिज का विस्तार किया।

वैचारिक लेखन की दृष्टि से उर्मिला शास्त्री का 'कारागार', दुखिनी बाला की पुस्तक 'सरला : एक जीवनी', स्फुरना देवी की पुस्तक 'अबलाओं का इंसाफ', महादेवी वर्मा की पुस्तकें– 'शृंखला की कड़ियाँ', 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ'– स्त्री-गद्य के पुस्तक रूप में प्रकाशित उदाहरण हैं। १९०४ में 'समालोचक' पत्रिका में बंग महिला ने 'हिन्दी के ग्रन्थकार' शीर्षक से आलोचनात्मक निबन्ध लिखा। १९१० में 'सरस्वती' पत्रिका में सावित्री देवी का लेख 'स्त्रियों की पराधीनता' प्रकाशित हुआ। १९१७ में 'स्त्री-दर्पण' में हुक्म देवी का लेख 'स्त्रियों की उन्नति कैसे हो?' प्रकाशित हुआ। स्त्री-दर्पण के ही जनवरी, १९२१ के अंक में 'राष्ट्रीय हलचल में स्त्रियों का धर्म' शीर्षक लेख तारा देवी (उन्नाव) ने लिखा। इलाहाबाद से प्रकाशित 'चाँद' पत्रिका का विदुषी अंक निकला। इसके अतिरिक्त; १९३१ से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'त्रिवेणी' (सम्पादक– श्रीमती फूलवती शुक्ल) के प्रारम्भिक तीन अंकों में स्त्रियों के लेख छपे।[२] लखनऊ से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'माधुरी' में तामललता वसु, विमला देवी, कौशल्या देवी की टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं।

नवजागरण काल में, गद्य-लेखन और पत्रकारिता के क्षेत्र में महिलाओं के योगदान की यह केवल एक झलक है। ऐसी अनेक शख्शियत इस क्षेत्र में हैं, जिन्हें प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। खास बात यह है कि इन महिला पत्रकारों ने उस दौर में लेखन-कार्य किया, जब महिलाओं के पास कोई अधिकार नहीं थे। उस समय उन्होंने पत्रकारिता जैसे चुनौतीपूर्ण क्षेत्र को अपनाया और मुकाम हासिल किया। किन्तु आलोचकों एवं इतिहासकारों की निगाहों से इनका लेखन ओझल ही रहा। आशय यह है कि इतिहास-लेखन और मूल्यांकन में स्त्री-गद्य और कम-से-कम स्वतन्त्रतापूर्व स्त्रियों के द्वारा लिखे गए गद्य साहित्य के साथ न्याय नहीं हुआ है। लैंगिक विषमता की दृष्टि का अभिशाप स्त्रियों के साथ-साथ उनकी रचनाशीलता ने भी झेला है।

स्वतन्त्रतापूर्व हिन्दी के स्त्री-गद्य का बहुत बड़ा अध्याय स्त्री कथा साहित्य का है। कथा के दोनों रूप– कहानी और उपन्यास– में स्त्रियाँ लेखन कर रही थीं।

मल्लिका देवी कृत 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' उपन्यास बेमेल विवाह के ऊपर एक चोट करता हुआ सामाजिक उपन्यास है, जिसमें एकादश स्तवक हैं और अधिकांश स्तवक का प्रारम्भ संस्कृत के किसी प्रचलित श्लोक या सूक्ति से होता है। उदाहरणार्थ; अष्टम् स्तवक, जिसका उपशीर्षक

'सन्देह' है, का प्रारम्भ 'न जातु विप्रियं भर्तु: स्त्रिया कार्य कथंचन' से होता है। इसी प्रकार, एकादश स्तवक का प्रारम्भ 'किमपि मनसो सन्मोहो तदा बलवान अभूत' से हुआ है। कहीं-कहीं गोस्वामी तुलसीदास की पंक्तियों से भी प्रारम्भ किया गया है।

उपन्यास के मात्र चौथे स्तवक के उपर्युक्त अंश की सहज वर्णनात्मक शैली से कथा का सारांश समझ में आ जाता है। अनमेल विवाह, दहेज, जाति का बंधन आदि अनेक समस्याएँ इस उपन्यास का प्रतिपाद्य विषय हैं। कथानक में अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं और अंत में; चन्द्रप्रभा की माँ और मामा के प्रयास से पूर्णप्रकाश से चन्द्रप्रभा का विवाह हो जाता है। कुलीनता और अकुलीनता की जातीय बेड़ी झनझनाकर टूट जाती है। भारत में विधवा-समस्या के पीछे एक बहुत बड़ा कारण यह बेमेल विवाह भी होता था। मल्लिका देवी ने स्त्रियों की इस दुर्दशा को बहुत निकट से देखा था और उसी के विरोध में इस उपन्यास की रचना उन्होंने की, जिसे आधुनिक युग के स्त्री-विमर्श का प्रथम पाठ कहा जा सकता है।

मल्लिका जी ने बंगला गीतों की रचना के साथ ही; बंगला साहित्य का अनुवाद भी किया था। उनके नाम से अनूदित उपन्यास 'सौन्दर्यमयी' भारतेन्दु जी की मृत्यु के तीन वर्षों बाद प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर श्री हरिश्चन्द्र, सम्वत् ३ एवं श्री अम्बिका चरण चट्टोपाध्याय द्वारा काशी दशाश्वमेधस्य अमर यंत्रालय से मुद्रित 'वियोगांत' उपन्यास छपा है। मूल ग्रन्थकार का नाम नहीं है। मात्र बंग भाषा से श्रीमती मल्लिका देवी द्वारा अनुवादित होने का ही उल्लेख है। आगे चलकर, इस उपन्यास को नागरी प्रचारिणी पत्रिका सम्वत् २०५८, अंक १, वाराणसी में पुन: ज्यों-का-त्यों प्रकाशित किया गया। 'कुलीन कन्या/पूर्ण प्रकाश', 'कुमुदिनी' और 'पारस्य' उनके अन्य उपन्यास हैं। कुमुदिनी को 'कथादेश' पत्रिका के सम्पादक ने जुलाई, २००७ के अंक में प्रकाशित किया। इस उपन्यास की भूमिका डॉ. बटे कृष्ण और प्रो. गिरीशचन्द्र चौधरी ने लिखा है। मल्लिका की कविताओं को रायकृष्ण दास ने बाद में 'धर्मयुग' में प्रकाशित किया। इसके अलावा; मल्लिका जी ने कुछ स्फुट कहानियाँ भी लिखीं। मल्लिका जी साहित्य-सृजन उस समय कर रही थीं, जब यह क्षेत्र पूर्णत: पुरुष-वर्चस्व का था। स्त्रियाँ अपना नाम न देते हुए या छद्म नामों से लेखन का कार्य किया करती थीं। प्रमाण के रूप में हम बंग महिला को ले सकते हैं। उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ इसी नाम से प्रकाशित करवायीं, जबकि उनका नाम राजेन्द्र बाला घोष था। कुछेक स्त्री रचनाकार अपने पति के नाम से भी रचनाएँ प्रकाशित करवाती थीं। मल्लिका जी के भी उस उपन्यास पर ग्रन्थकार का नाम न मिलना किसी आश्चर्य में डालने जैसी बात नहीं है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में स्त्रियों की ये सारी विडम्बनाएँ स्वाभाविक ही हैं। 'कुमुदिनी' का रचनाकाल सन् १८७७ ई. से १८८१ ई. के बीच मान सकते हैं।

उषा देवी मित्रा कृत 'वचन का मोल', 'प्रिया', 'नष्ट नीड़', 'जीवन की मुस्कान' और 'सोहनी' नामक पाँच उपन्यासों के अतिरिक्त; 'आँधी के छंद', 'महावर', 'नीम चमेली', 'मेघ मल्हार', 'रागिनी', 'सान्ध्य पूर्वी' और 'रात की रानी' शीर्षक से कहानी संग्रह प्रकाशित हुए थे। 'सान्ध्यपूर्वी' के लिए उन्हें अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'सेकसरिया पुरस्कार' भी प्रदान किया गया था। उनकी साहित्य-साधना को रेखांकित करते हुए मध्य प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री पं. द्वारिका प्रसाद मिश्र ने मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर अधिवेशन में उन्हें सम्मानित भी किया था।[3] उषा मित्रा के उपन्यासों में तत्कालीन समाज का बेबाक चित्रण मिलता है। तत्कालीन स्वतन्त्रता-आन्दोलन की दहक उनके उपन्यासों और कहानियों में स्पष्ट झलकती है। नेशनल

पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली से सन् १९३६ में प्रकाशित उनके उपन्यास 'वचन का मोल' का एक अंश नीरजा माधव ने उद्धृत किया है, जिसमें स्वदेशी आन्दोलन की झलक मिलती है–

''पिता ने बेटी की ओर मुग्ध दृष्टि डाली और बोले– ''कई दिनों से कजरी का चर्खा भी बंद है।''

''रहने दो। तुम अच्छे हो जाओ, मैं बहुत सूत कात लूँगी।''

''सूत रोज कातती है?'' यह यतीश का प्रश्न था।

उत्तर दिया निखिल ने– ''कजरी अकेली नहीं, मामी भी कातती हैं, उधर दोपहरी में पड़ोस की स्त्रियाँ भी सीखती हैं।''

''.......इस मूवमेंट ने तो केवल हमें सोते से जगाकर चरखा हाथ पर धर दिया है।''

बंग महिला (राजेन्द्र बाला घोष) का लेखन १९०४ ईस्वी में प्रारम्भ हुआ और निबन्धों, कविताओं, अनूदित साहित्य के साथ-साथ उन्होंने कहानियाँ भी लिखीं। 'दुलाई वाली' कहानी के माध्यम से कहानी के क्षेत्र में अपनी अमिट प्रतिष्ठा बनाने वाली राजेन्द्र बाला घोष की 'भाई-बहन' शीर्षक कहानी सन् १९०८ में 'बाल प्रभाकर' में प्रकाशित हुई थी। स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओं की ओर बच्चों का ध्यान आकृष्ट कराने के उद्देश्य से यह कहानी लिखी गयी।

बंग महिला को प्राय: हिन्दी साहित्य के इतिहास में कहानी के आरम्भिक दौर के कहानीकारों के बीच रखा जाता है और इसका आधार बनती है उनकी कहानी– 'दुलाई वाली', जो सन् १९०७ में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। 'दुलाई वाली' कहानी बंग महिला को हिन्दी इतिहास में स्थापित करने के साथ-साथ उन्हें एक प्रौढ़ रचनाकार के रूप में भी स्थापित करती है।

बंग महिला ने सर्वप्रथम १९०४ में अपने लेख 'हिन्दी के ग्रन्थकार' से साहित्य समाज का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। यह लेख पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा सम्पादित और जयपुर से प्रकाशित पत्रिका 'समालोचक' में छपा था। इस लेख के माध्यम से उस युग के प्रतिष्ठित साहित्यकारों को निर्भीकता के साथ बंग महिला ने चुनौती दी है और साहित्यिक छद्म का पूरी निडरता से पर्दाफाश किया है।

'दुलाई वाली' बंग महिला द्वारा लिखी गयी प्रथम मौलिक कहानी है, जो वर्ष १९०७ में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी का प्रारम्भ काशी से होकर इलाहाबाद तक की यात्रा में समाप्त होता है। कहानी मनोरंजन प्रधान है, जिसमें एक मित्र दूसरे मित्र को मजाक-मजाक में परेशान करता है और अन्त में; दुलाई ओढ़कर बूढ़ी औरत का स्वाँग रचने वाला मित्र दुलाई हटाकर अपना चेहरा दिखाता है और फिर सब एक साथ घर जाते हैं। कहानी में काशी के लोगों की दिनचर्या तथा स्थानों का सजीव वर्णन किया गया है। बंग महिला के सम्पूर्ण रचना-संसार को क्रमश: (१) मौलिक कहानियाँ, (२) निबन्ध, (३) कविताएँ, (४) अनूदित साहित्य तथा (५) सामाजिक साहित्य के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं, जो इस प्रकार है–

१. मौलिक कहानियाँ–

१ दुलाई वाली - १९०७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित

२. भाई-बहन - १९०८ में 'बाल प्रभाकर' में प्रकाशित

३. हृदय परीक्षा - १९१५ में 'सरस्वती' में प्रकाशित

२. निबन्ध–

१. चन्द्रदेव से मेरी बातें

२. हिन्दी के ग्रन्थकार

३. स्त्रियों की शिक्षा
४. संगीत और सुई का काम
५. हमारे देश की स्त्रियों की दशा
६. श्रीयुत् रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी एम.ए.
७. जोधाबाई
८. गृहचर्या

३. अनूदित साहित्य–

१. मुरला - श्री नारायण दास सेन की बंगला औपन्यासिक कृति का अनुवाद
२. मन की दृढ़ता - बंगला कहानी
३. दालिया - रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बंगला कहानी
४. कुंभ में छोटी बहू - नीरदवासिनी घोष की कहानी
५. तिल से ताड़ - देवेन्द्र कुमार राय की औपन्यासिक आख्यायिका का अनुवाद
६. संसार सुख - कुसुम संग्रह से
७. मातृहीना - देवेन्द्र कुमार सेन की कहानी
८. अपूर्व प्रतिज्ञा पालन - मूल लेखक– सखा ओ साथी
९. दान-प्रतिदान - रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बंगला आख्यान
१०. पति सेवा - श्रीमती लावण्य प्रभा सरकार के प्रबंध का भावानुवाद
११. अण्डमान द्वीप के निवासी - रामानन्द चट्टोपाध्याय का लेख
१२. नीलगिरि पर्वत के निवासी टोड़ा लोग - 'प्रवासी' में प्रकाशित लेख का अनुवाद
१३. नारीरत्न भगवती देवी - बैकुण्ठनाथ दास का बंगला लेख
१४. अबुलफजल - मूल लेखक- जलधर सेन
१५. रामायण की समालोचना - बंकिम बाबू द्वारा लिखित प्रहसन का अंशानुवाद[४]

शिवरानी देवी के जीवन के अनेक अनछुए पक्षों का दर्शन पाठकों को उनकी लिखी पुस्तक 'प्रेमचन्द घर में' (आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६) से भलीभाँति हो जाता है। उनकी सर्वप्रथम कहानी 'साहस' सन् १९२४ में 'चाँद' पत्रिका में छपी थी, जिसके सम्पादक आर. सहगल थे। शिवरानी देवी मुख्य रूप से एक कहानीकार थीं। जिसने इनकी कहानियों को गम्भीरता से नहीं पढ़ा होगा, वही यह कह सकता है कि उनकी कहानियाँ घरेलू समस्याओं की कहानियाँ हैं। इसके ठीक विपरीत; शिवरानी देवी की कहानियों का फलक अत्यन्त विस्तृत है। पारिवारिक समस्याओं के अतिरिक्त; शिवरानी देवी ने अनेक राजनीतिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं को भी अपना प्रतिपाद्य बनाया है। किसान-जमींदार-संघर्ष, हिन्दू-मुस्लिम-एकता आदि विषय एक निश्चित उद्देश्य के साथ इनकी कहानियों में चित्रित हुए हैं। 'विध्वंस की होली', 'जीवन', 'आँसू की दो बूँदें', 'नर्स', 'विश्वास', 'विमाता', 'ऋण', 'पछतावा', 'हत्या', 'अनोखा विवाह', 'सिन्दूर की रक्षा' आदि सामाजिक और राष्ट्रीय भावना की कहानियाँ इनके कहानी-संग्रह 'कौमुदी' में संकलित हो 'सरस्वती प्रेस, बनारस' से सन् १९३७ में प्रकाशित हुईं।[५]

रेहाना बहन तैयबजी की रचनाएँ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में उस समय प्रमुखता से प्रकाशित हुआ करती थीं। इनके अनेक हिन्दी लेख 'कल्याण' में भी प्रकाशित हुए थे। इनकी पुस्तकों में 'गोपी हृदय', 'नाश्ते से पहले' और 'सुनिए काका साहेब' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका निधन १७ मई, सन् १९७५ को हुआ।[६]

सुभद्रा कुमारी चौहान का गद्य साहित्य मुख्य रूप से उनकी कहानी-कला में केन्द्रित है। इन्होंने समाज, नारी-जीवन और देशभक्ति को आधार बनाकर अनेक उत्कृष्ट कहानियाँ लिखीं,

जिन्हें उनके तीन प्रमुख कहानी-संग्रहों– 'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी' और 'सीधे सादे चित्र' के माध्यम से संकलित किया गया है। 'मुकुल' तथा 'बिखरे मोती'– दोनों पर इन्हें सेकसरिया पुरस्कार भी प्राप्त हुए। 'बिखरे मोती' (१९३२) उनका पहला कहानी-संग्रह है, जिसमें मुख्य रूप से राष्ट्रीय चेतना, स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रति समर्पण और पारिवारिक-सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया गया है। 'उन्मादिनी' (१९३४) में नारी-विमर्श, उनकी भावनाओं और पारिवारिक जीवन के विविध पहलुओं को उजागर करने वानी कहानियाँ शामिल हैं। 'सीधे सादे चित्र' की कहानियों में समाज में व्याप्त अभाव, नारी-प्रधान समस्याओं और देशभक्ति से जुड़ी मार्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं।

होमवती देवी के तीन काव्य-संग्रह उद्‌गार, निसर्ग तथा अर्ध नाम से प्रकाशित हुए। कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी आपकी उपलब्धियाँ उस समय के साहित्य की अनमोल धरोहर हैं। सन् १९३९ में होमवती देवी का कहानी-संग्रह 'निसर्ग' साहित्य रत्न भण्डार, आगरा से आया, तो 'अलिफ लैला हजार दास्तान' वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से और उपन्यास 'कुसुम प्रथम स्तवक' शिवराम प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इनकी कहानियों में नारी पात्रा अपने देश के लिए अधिक समर्पित और अधिक सम्वेदनशील हैं।

कमला चौधरी– डॉ. सुमन राजे अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में कमला चौधरी के लेखन के बारे में लिखती हैं– ''कमला देवी अपने चरित्रों, उनकी क्रियाओं और उनकी परिणति की ओर जितनी सयत्न हैं, उतनी उन रूढ़ विधाओं की ओर नहीं, जो इन चरित्रों, क्रियाओं और परिणतियों का नियमन करती हैं।'''

नवम्बर, सन् १९३५ की 'चाँद' पत्रिका में उनकी एक कहानी 'पतन' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। कहानी एक चरित्रवान और संयमी व्यक्ति 'सुधीर' के पतन और फिर प्रायश्चित की कहानी है।

चन्द्रवती ऋषभसेन जैन की कहानियों के संग्रह 'नींव की ईंट' को सन् १९४३ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा 'सेकसरिया पुरस्कार' प्रदान किया गया था। यह पुरस्कार उन्हें हरिद्वार अधिवेशन में प्रख्यात् साहित्यकार माखनलाल चतुर्वेदी के हाथों दिया गया था।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की सबसे पहली कहानी 'अछूत' सन् १९३१ में कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'विषय' में छपी। कुछेक रचनाएँ 'रूपाभ' एवं 'विचार' नामक पत्रिकाओं में भी छपीं। चन्द्र किरन सौनरेक्सा की कहानियों का संग्रह 'आदमखोर' शीर्षक से प्रकाशित है, जिसमें 'बर्थ डे', 'आत्महन्ता', 'बोद्दा', 'नासमझ' आदि महत्त्वपूर्ण कहानियाँ है। इन कहानियों में समाज की मध्य और उच्चवर्गीय सोच की विसंगतियों पर प्रहार किया गया है। इसे हिन्दी कथा साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि उनकी कहानियों पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया।

स्वतन्त्रतापूर्व की इस जागरूक लेखिका ने अपनी लेखनी के माध्यम से ही क्रान्ति का आह्वान नहीं किया, बल्कि स्वयं के जीवन में भी इसे उतारा। नारी मनोविज्ञान के सूक्ष्म मनोभावों को लेकर उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं। दलित और उपेक्षित वर्ग के प्रति उनके हृदय में एक गहरी सम्वेदना रहते हुए भी अपनी कहानियों में उसे वे पक्षपातपूर्ण विचलन तक नहीं जाने देतीं। एक निष्पक्ष मूल्य-दृष्टि के साथ उन्होंने अनेक ऐसी कहानियाँ साहित्य समाज को दीं, जो कलात्मक दृष्टिकोण से अपने समय के किसी भी रचनाकार से कमजोर नहीं दिखाई पड़तीं। पुरुष का वर्चस्व और स्त्री की विवशता, उत्पीड़ित वर्ग के सपने और यथार्थ तथा भौतिक समृद्धि की स्पर्धा उनकी कहानियों का विषय बनते हैं।

स्त्री की दशा को रेखांकित करते हुए यशोदा देवी ने अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक रचनाएँ दीं। 'पातिव्रत धर्म', 'चतुर नारी', 'भानुमती', 'सुशीला', 'महिमा' आदि उनकी सामाजिक कहानियाँ हैं, तो 'पृथ्वीराज की रानी', 'सती का प्रश्न', 'वीरा वृत्तान्त', 'अनुमति', विमला', 'हरिश्चन्द्र तारामती', 'धर्म और साहस' आदि उनकी ऐतिकासिक और पौराणिक कहानियाँ हैं। डॉ. नगेन्द्र की पुस्तक में यशोद देवी मात्र जीवनी-लेखिका के रूप में उद्धृत की गयी हैं। सुमन राजे ने प्रियम्वदा देवी, शारदा कुमारी, सरस्वती गुप्ता, रत्न कुमारी देवी, विष्णु कुमारी श्रीवास्तव, रानी फूल कुँवरि एवं लीलावती देवी की भी चर्चा अपने इतिहास-ग्रन्थ में किया है।

इनके अतिरिक्त; हुसना तवायफ का 'मधुरंग' उपन्यास सन् १९०७ में हितचिन्तक प्रेस, काशी से प्रकाशित हुआ। यशोदा देवी के उपन्यास 'सच्चा पति प्रेम' का उल्लेख मिलता है, जो कर्नलगंज, प्रयाग से प्रकाशित है और जिसकी दुर्लभ प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में उपलब्ध है। सन् १९१८ में स्वर्ण कुमारी देवी का उपन्यास 'फूलों का हार' कलकत्ता से छपा। सन् १९१९ में मनदा देवी द्वारा रचित 'पतिता की आत्मकथा' एवं रुक्मिणी देवी द्वारा लिखित उपन्यास 'मेम साहब' लहरी प्रेस से प्रकाशित हुआ था। आरा के प्रेम मन्दिर प्रकाशन से छपी पुस्तक 'निबन्ध रत्नमाला' की लेखिका चन्दाबाई की उपस्थिति भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण है। सन् १९२६ में शैलकुमारी देवी का उपन्यास 'उमा सुन्दरी' प्रयाग से छपा, तो प्रयाग के ही 'चाँद' कार्यालय से स्फुरणा देवी का उपन्यास 'अबलाओं का इंसाफ' सन् १९२७ में छप कर आया। सन् १९३० में प्रियम्वदा देवी का उपन्यास 'विधवा की आत्मकथा' आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, चितरंजन से प्रकाशित होकर आया।

जरूरत है कि इन लेखिकाओं के गद्य का सम्यक् संकलन, प्रकाशन और अनुशीलन किया जाए, ताकि स्त्री-गद्य की विभिन्न मुद्राओं व शक्ति की ठीक-ठीक पहचान हो सके और हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन पर पुनर्विचार किया जा सके। इतिहास से ओझल इन लेखिकाओं के बारे में इतना तो स्पष्ट है कि जब पुरुष लेखक उपन्यासों और कहानियों में तिलिस्म ढूँढ़ रहे थे, उस समय ये लेखिकाएँ अपनी कहानियों और उपन्यासों में आदर्श समाज की नींव रख रही थीं। सामाजिक उपन्यासों और कहानियों की नींव रखने वाली इन लेखिकाओं के बारे में साहित्येतिहास की चुप्पी अनायास थी या सायास– यह एक प्रश्न है।

सन्दर्भ-सूची

१. वीर भारत तलवार– राष्ट्रीय आन्दोलन और साहित्य : कुछ प्रसंग-कुछ प्रवृत्तियाँ, पृ. १२९ (स्त्री मुक्ति आन्दोलन का आरम्भ : स्त्री दर्पण पत्रिका' शीर्षक लेख)

२. क्षमाशंकर पाण्डेय– भारतीय नारीवाद : स्थिति और संभावना, पृ. ११५

३. वही– पृ. ८८

४. वही– पृ. ९५

५. वही– पृ. ९७

६. वही– पृ. १०२

●

भारतीय पारम्परिक समाज-संरचना और समकालीन नारी-चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में मन्नू भण्डारी के उपन्यास

ज्योति गुप्ता*, प्रो. रुचि बाजपेयी**

मन्नू भण्डारी, साहित्य-जगत की 'नई कहानी' के दौर की उन प्रमुख रचनाकारों में हैं, जिन्होंने भारतीय मध्यवर्गीय समाज की संरचना और उसमें स्त्री की बदलती हुई स्थिति को बहुत गहराई से रेखांकित किया है। उनका साहित्य केवल कहानियों या उपन्यासों का संग्रह नहीं है, बल्कि वह उस समय के संक्रमणकालीन समाज का एक जीवन्त दस्तावेज है, जहाँ पुरानी परम्पराएँ टूट रही थीं और नए आधुनिक मूल्य समाज में अपनी जगह बना रहे थे। इसी सन्दर्भ में, प्रसिद्ध आलोचक गोपाल राय का कथन द्रष्टव्य है– ''मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में मध्यवर्गीय परिवार की टूटती हुई संरचना और उसमें स्त्री के बदलते हुए व्यक्तित्व का बहुत ही सूक्ष्म और कलात्मक चित्रण हुआ है। उन्होंने विवाह और परिवार जैसी संस्थाओं के भीतर स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व की छटपटाहट को स्वर दिया है।''[१]

मन्नू जी की रचनाएँ भारतीय समाज की जटिलताओं को सामने लाती हैं, विशेष रूप से; नारी की स्थिति को केन्द्र में रखकर। उनके उपन्यासों में भारतीय पारम्परिक समाज-संरचना का चित्रण ऐसा है, जो रूढ़िवादी मूल्यों, पारिवारिक बन्धनों और लैंगिक असमानताओं को दर्शाता है, जबकि समकालीन नारी-चिन्तन के माध्यम से स्त्री की जागृति, स्वतन्त्रता की खोज और आत्म-सम्मान की माँग को अभिव्यक्त किया गया है। ''मन्नू भण्डारी ने सम्बन्धों के टूटने को केवल घटना के रूप में नहीं, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक त्रासदी के रूप में देखा है।''[२] उनके प्रमुख उपन्यास, जैसे– 'आपका बंटी', 'महाभोज' और 'स्वामी' आदि में नारी पात्रों को पारम्परिक समाज की जकड़नों से जूझते हुए दिखाया गया है, जहाँ वे आधुनिक मूल्यों की ओर बढ़ने का प्रयास करती हैं। इस प्रकार, मन्नू जी ने अपने औपन्यासिक कृतित्व के माध्यम से उनके उपन्यासों में, भारतीय पारम्परिक समाज की संरचना और उसके बरक्स समकालीन नारी-चिन्तन को सामने रखा है, जहाँ स्त्री की भूमिका, उसके संघर्ष और सामाजिक परिवर्तन की सम्भावनाओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

भारतीय पारम्परिक समाज-संरचना सदियों से पितृसत्तात्मक रही है, जहाँ स्त्री को परिवार, विवाह और सामाजिक मानदण्डों के दायरे में बाँधा गया है। हिन्दू धर्मग्रन्थों, जैसे मनुस्मृति से लेकर आधुनिक काल तक, स्त्री को 'अबला' या निर्भर माना गया है, जिसकी पहचान पिता, पति या पुत्र से जुड़ी होती है। पारम्परिक समाज में स्त्री की भूमिका मुख्यत: गृहिणी, माता और पत्नी तक सीमित रही है, जहाँ उसका व्यक्तिगत विकास पारिवारिक कर्तव्यों के अधीन होता है। विवाह एक पवित्र संस्था मानी जाती है, लेकिन इसमें स्त्री की सहमति से अधिक सामाजिक दबाव महत्त्वपूर्ण होता है। आर्थिक निर्भरता, दहेज-प्रथा और लैंगिक भेदभाव जैसी समस्याएँ स्त्री को दबाती रही हैं। मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में यह संरचना स्पष्ट रूप से उभरती है, जहाँ नारी पात्र पारम्परिक अपेक्षाओं से टकराती हैं। उदाहरणस्वरूप; स्त्री को घरेलू दायित्वों में फँसा हुआ

* शोध-छात्रा– हिन्दी विभाग, उ. प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.
** आचार्य– हिन्दी विभाग, उ. प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.

दिखाया गया है, लेकिन वह इन बन्धनों से मुक्ति की तलाश करती है। यह चित्रण भारतीय समाज की उस वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है, जहाँ आधुनिकीकरण के बावजूद; पारम्परिक मूल्य हावी रहते हैं।

मन्नू भण्डारी का लेखन उस समय में शुरू हुआ, जब भारत स्वाधीनता के बाद एक नए सामाजिक विमर्श से गुजर रहा था। एक तरफ सदियों पुरानी सामन्ती और पितृसत्तात्मक मर्यादाएँ थीं, तो दूसरी तरफ शिक्षित, नौकरीपेशा और जागरूक नारी का उदय हो रहा था। मन्नू जी ने अपनी रचनाओं में इन दोनों के बीच के द्वन्द्व को केवल बाहरी धरातल पर नहीं, बल्कि पात्रों के अन्तर्मन में उतरकर पकड़ा है। समकालीन नारी-चिन्तन, जो मुख्यत: नारीवाद से प्रेरित है, स्त्री को एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में देखता है, जो अपनी पहचान, अधिकार और स्वायत्तता की माँग करती है। पश्चिमी नारीवाद की लहरों (जैसे सिमोन द बोउवार की 'द सेकेण्ड सेक्स') के प्रभाव से भारतीय सन्दर्भ में नारी-चिन्तन ने आकार लिया, जहाँ स्त्री को पुरुष-केन्द्रित समाज से मुक्त करने पर जोर दिया जाता है। भारत में यह चिन्तन स्वतन्त्रता-आन्दोलन के बाद तेज हुआ, जब महिलाएँ शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक भागीदारी की माँग करने लगीं। समकालीन नारी-चिन्तन में स्त्री की यौनिकता, आर्थिक स्वतन्त्रता और मनोवैज्ञानिक मुक्ति पर बल है। मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में यह चिन्तन स्त्री पात्रों की जागृति के रूप में प्रकट होता है, जहाँ वे पारम्परिक भूमिकाओं से विद्रोह करती हैं। मन्नू जी का मानना है कि आधुनिक जीवन की समस्याओं का समाधान पारम्परिक मूल्यों से नहीं, बल्कि आधुनिक सोच से सम्भव है। इससे स्त्री में भावनात्मक बदलाव ही नहीं, संज्ञानात्मक परिवर्तन भी होता है, जहाँ वह अपनी स्वतन्त्रता और सम्मान की रक्षा करती है।

भारतीय समाज की संरचना मूलत: पुरुष प्रधान रही है, जहाँ स्त्री की पहचान केवल परिवार, पति और सन्तान से जुड़ी थी। मन्नू भण्डारी ने अपने उपन्यासों में इस संरचना की जड़ता और उसके भीतर घुटती स्त्री की व्यथा को दिखाया है। उनके उपन्यासों में पितृसत्ता केवल पुरुषों के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक संस्कारों के रूप में भी मौजूद है। 'आपका बंटी' में विवाह नामक संस्था के टूटने और उसके सामाजिक परिणामों का चित्रण इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। समकालीन नारी-चिन्तन केवल 'समानता' की माँग नहीं है, बल्कि यह 'अस्तित्व' और 'अस्मिता' की तलाश है। मन्नू भण्डारी की स्त्रियाँ 'त्याग की प्रतिमूर्ति' वाली रूढ़िवादी छवि को तोड़ती हैं। 'आपका बंटी' में पारम्परिक समाज-संरचना और समकालीन नारी-चिन्तन का सुन्दर मिश्रण भी देखने को मिलता है। पारम्परिक समाज में विवाह को अटूट माना जाता है, लेकिन यहाँ शकुन और अजय का अलगाव स्त्री की स्वतन्त्रता की माँग को दर्शाता है। शकुन, जो एक शिक्षित और कामकाजी महिला है, पारम्परिक पत्नी की भूमिका से असन्तुष्ट है। वह पति के साथ असंगति महसूस करती है और अलगाव चुनती है, जो समकालीन नारी-चिन्तन के मूल्य को दर्शाता है। पारम्परिक समाज में स्त्री को परिवार की एकता बनाए रखने की जिम्मेदारी दी जाती है, लेकिन शकुन इस बन्धन से मुक्त होना चाहती है। उपन्यास में बंटी की कस्टडी का संघर्ष स्त्री की मातृत्व-भावना और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच टकराव को दिखाता है। डॉ. उमा शुक्ल, डॉ. माधुरी छेड़ा अपनी पुस्तक में लिखती हैं– ''आपका बंटी में मूल पात्र बंटी है, जो माता-पिता के विच्छिन्न सम्बन्धों के कारण अपने को एक अलग स्थिति में पाता है। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा से एकदम उलट इस उपन्यास ने पति-पत्नी के मध्य की दरार को पर्याप्त विस्तार

दिया है, पारिवारिक टूटन का यह एक सटीक उदाहरण है।''[३] शकुन का चरित्र आधुनिक नारी का प्रतीक है, जो अहंकार और विद्रोह से भरी है, लेकिन पारिवारिक टूटन से पीड़ित भी है। यहाँ पारम्परिक मूल्य, जैसे– संयुक्त परिवार और पति-पत्नी के कर्तव्य टूटते दिखते हैं, जबकि समकालीन चिन्तन में स्त्री अपनी पहचान स्थापित करने का प्रयास करती है। उपन्यास समाज की उस वास्तविकता को उजागर करता है, जहाँ तलाक बढ़ रहा है, लेकिन स्त्री को अभी भी सामाजिक कलंक का सामना करना पड़ता है। मन्नू जी ने वहाँ नारी के मन को गहराई से छुआ है, जहाँ शकुन की स्वतन्त्रता की कीमत बंटी की भावनात्मक असुरक्षा है। मन्नू जी की नायिकाएँ अपनी खुशी और कैरियर के लिए निर्णय लेने का साहस रखती हैं। वे आर्थिक रूप से ही नहीं, बल्कि भावनात्मक रूप से भी स्वतन्त्र होना चाहती हैं। आधुनिकता और परम्परा का टकराव इस उपन्यास में गहराई से उभारा गया है। यहाँ 'नारी-चिन्तन' का एक नया आयाम उभरता है– एक तलाकशुदा स्त्री और एक माँ के बीच का द्वन्द्व। शकुन पारम्परिक समाज की इस धारणा को तोड़ती है कि पति के छोड़ने के बाद स्त्री का जीवन समाप्त हो जाता है। वह दूसरा विवाह करती है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, ''शकुन का चरित्र आधुनिक नारी की अपनी अस्मिता को बचाने की जद्दोजहद का प्रतीक है।''[४] अजय पितृसत्तात्मक अहंकार का प्रतिनिधित्व करता है, जो बच्चों को अपनी सम्पत्ति समझता है। बंटी उस सामाजिक ढाँचे की बलि चढ़ जाता है, जहाँ दो वयस्कों की स्वतन्त्रता के बीच एक बच्चे की सम्वेदनाएँ कुचल दी जाती हैं। जब शकुन कहती है– ''क्या मेरा अपना कोई अस्तित्व नहीं? क्या मैं केवल बंटी की माँ बनकर ही रहूँ?''[५] यह प्रश्न समकालीन नारीवादी विमर्श के केन्द्र-बिन्दु को दर्शाता है।

'एक इंच मुस्कान' उपन्यास में भी मन्नू जी ने शहरों में व्याप्त सामाजिक विसंगतियों– अकेलापन, तनावपूर्ण जीवन, स्वार्थपरता इत्यादि समकालीन मूल्यों, जो भारतीय पारम्परिक सामाजिक मूल्यों से टकराता है– को गहराई से व्यक्त किया है। अमर ने किस तरह केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति हेतु रंजना से विवाह किया है। विवाह जैसे पवित्र बन्धन को अमर साध्य नहीं मानता– ''अमर ने रंजना से विवाह करने के पश्चात् यह पाया कि रंजना और उसका लेखिकीय जीवन पूरा न हो सकेगा। रंजना अमर की महिला मित्रों को सहजता से अपना नहीं पायी। या कहा जाए कि रंजना अमर की कला को नहीं समझ पायी। दूसरी तरफ; अमर जैसे व्यक्ति के लिए विवाह साधन था। रंजना के सम्मान में वह विवाह को साध्य नहीं मान सकता था। अमर ने रंजना को इसलिए चाहा था कि वह अपनी साधना को दुगनी शक्ति और निष्ठा से चलाए रख सके।''[६]

मन्नू जी का 'महाभोज' यद्यपि एक राजनीतिक उपन्यास माना जाता है, लेकिन इसके भीतर की सामाजिक संरचना अत्यन्त क्रूर है। यहाँ नारी-चिन्तन का रूप राजनीतिक 'सरोकार' से जुड़ा है, जो भारतीय समाज की राजनीतिक संरचना और नारी की भूमिका को परखता है। पारम्परिक समाज में स्त्री को राजनीति से दूर रखा जाता है, लेकिन यहाँ नारी पात्र राजनीतिक षड्यन्त्रों में शामिल होती हैं। उपन्यास एक राजनीतिक हत्या की पृष्ठभूमि में बुना गया है, जहाँ स्त्री को पुरुष-प्रधान राजनीति का शिकार दिखाया गया है। पारम्परिक संरचना में स्त्री की भूमिका घरेलू होती है, लेकिन समकालीन चिन्तन में वह सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन की वाहक बनती है। उदाहरणस्वरूप; उपन्यास की नारी पात्र राजनीतिक दबावों से जूझती है, जो उसकी स्वतन्त्रता और सम्मान पर असर डालते हैं। मन्नू जी ने यहाँ स्त्री की चेतना को राजनीतिक सन्दर्भ में रखा है, जहाँ वह भ्रष्टाचार और शोषण के खिलाफ आवाज उठाती है। पारम्परिक मूल्यों,

जैसे– लज्जा और आज्ञाकारिता का टकराव आधुनिक विद्रोह से होता है। उपन्यास भारतीय लोकतन्त्र की कमियों को उजागर करता है, जहाँ स्त्री को राजनीतिक मोहरे के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन वह अपनी जागृति से इससे मुकाबला करती है। यह समकालीन नारी-चिन्तन का उदाहरण है, जहाँ स्त्री सामूहिक संघर्ष में भाग लेती है। यहाँ पारम्परिक समाज का वह रूप दिखता है, जहाँ दलित और शोषित वर्ग (बिसू) को सत्ता के 'महाभोज' में परोस दिया जाता है। 'बिंदिया' जैसी पात्र के माध्यम से मन्नू जी ने दिखाया है कि राजनीति के इस गन्दे खेल में स्त्री भी संघर्ष का हिस्सा है। प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह ने कहा था– ''महाभोज आज के समय का वह सच है, जिसे राजनीति ने दबा दिया है, मन्नू भण्डारी ने उसको बेपर्दा किया है।''[७]

'महाभोज' की भूमिका का निम्नलिखित कथन भी मन्नू भण्डारी के समाज के प्रति दायित्व का ही परिचायक है– ''मगर जब घर में आग लगी हो, तो सिर्फ अपने अन्तर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता?.... इसे मैं अपने व्यक्तित्व और नियति को निर्धारित करने वाले परिवेश के प्रति ऋण-शोध के रूप में ही देखती हूँ।''[८] लेखिका का उपर्युक्त कथन से आशय यह है कि यथार्थ के अन्तर्गत अपने चारों ओर उपस्थित व्यापक जन-समाज की गहनतम सच्चाइयों को उजागर करना कथाकार का पुनीत दायित्व है। जिस समाज से लेखक अपने व्यक्तित्व हेतु संदाय प्राप्त करता है, उस समाज को उसे कुछ देकर भी जाना होता है। स्वहित से बढ़कर सामाजिक हित की अवतारणा इसलिए लेखकीय यथार्थ की एक आन्तरिक शर्त होनी चाहिए।

मन्नू भण्डारी ने 'स्वामी' उपन्यास के माध्यम से यह दिखाया है कि कैसे एक बौद्धिक स्त्री पारम्परिक विवाह के ढाँचे में सामंजस्य बिठाने की कोशिश करती है। यहाँ नारी-चिन्तन अधिक सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है। रामविलास शर्मा कहते हैं– ''मन्नू भण्डारी के यहाँ मध्यवर्गीय समाज का यथार्थ अपने नग्न रूप में आता है। उनकी भाषा में वह धार है, जो सामाजिक पाषण्ड को काटती है।''[९] वहीं विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं– ''मन्नू जी ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के उस त्रिकोण को पकड़ा है, जहाँ प्रेम और अधिकार के बीच की सीमा-रेखा धुँधली हो जाती है।''[१०]

मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में नारी की चेतना का विकास एक प्रक्रिया है, जहाँ पारम्परिक समाज की रूढ़ियाँ, जैसे– दहेज, विवाह और लैंगिक भूमिकाओं को चुनौती दी जाती है। समकालीन नारी-चिन्तन में स्त्री को अपनी यौनिकता और आर्थिक स्वतन्त्रता का अधिकार मिलता है, जो मन्नू भण्डारी की रचनाओं में स्पष्ट है। स्त्री को सामाजिक बहिष्कार और मनोवैज्ञानिक दबाव का सामना करना पड़ता है। मन्नू जी का साहित्य भारतीय मध्यवर्गीय समाज की वास्तविकता को दर्शाता है, जहाँ आधुनिकीकरण के साथ पारम्परिक मूल्य टकराते हैं।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि मन्नू भण्डारी के उपन्यास भारतीय पारम्परिक समाज-संरचना की सीमाओं और समकालीन नारी-चिन्तन की सम्भावनाओं का आईना हैं। उन्होंने हिन्दी उपन्यास को 'घर की दहलीज' से निकालकर 'समाज के चौक' और 'मन की गहराइयों' तक पहुँचाया है। उनके उपन्यासों में स्त्री की जागृति सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक कदम है, जहाँ वह अपनी पहचान स्थापित करती है। हालाँकि, पूर्ण मुक्ति अभी दूर है, क्योंकि पारम्परिक बन्धन मजबूत हैं। मन्नू जी का साहित्य नारीवाद को भारतीय सन्दर्भ में मजबूत करता है, जो आधुनिक पाठकों के लिए प्रासंगिक बना रहता है।

सन्दर्भ-सूची

१. गोपाल राय (२००२)– हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. १०३
२. रामदरश मिश्र (२०१३)– हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. २२५
३. उमा शुक्ल एवं माधुरी छेड़ा– आधुनिक कथा साहित्य में नारी : स्वरूप और प्रतिमा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. १३९
४. नगेन्द्र (संपा.) (१९७३)– हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. ४३२
५. मन्नू भण्डारी (१९७१)– आपका बंटी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ६५
६. मन्नू भण्डारी (१९६२)– एक इंच मुस्कान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. २७३
७. नामवर सिंह (२०१२)– हिन्दी के आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. १९०
८. मन्नू भण्डारी (१९७९)– महाभोज, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ०६
९. रामविलास शर्मा (१९७८)– नयी कविता और अस्तित्ववाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. १३९
१०. विश्वनाथ त्रिपाठी (२००७)– हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, ब्लैकस्वान, हैदराबाद, तेलंगाना, पृ. १४८

●

शान्ता कुमार के कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिक चेतना

डॉ. सुनीता*

मनोवैज्ञानिक चेतना– मनोविज्ञान का सम्बन्ध मानव-मन से रहता है। मनोविज्ञान द्वारा मानव-मन के विविध व्यवहारों, क्रिया-कलापों तथा आचरण का विस्तृत रूप से अध्ययन किया गया है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानव-व्यवहार के सभी पक्षों का अध्ययन किया गया है, जिसमें मानव का आचरण, उसकी शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ भी आती हैं। साहित्य के वर्तमान युग को मनोविज्ञान युग का नाम दिया गया है। मानव-जीवन इच्छाओं की पूर्ति हेतु निरन्तर संघर्ष करता है, परन्तु इसकी सिद्धि के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। इन्हीं से जो मन:स्थिति उत्पन्न होती है, उससे तनाव, अकेलापन, आक्रोश, आपराधिक प्रवृत्ति, विवशता इत्यादि भावों का जन्म होता है।

'मनोविज्ञान' शब्द आत्मा से कम, परन्तु मन-मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध रखता है। मनोविज्ञान का अर्थ है– मन का विज्ञान, जिसके द्वारा मन के भावों का ज्ञान अर्जित किया जा सके। मनोविज्ञान में मनुष्य-मन केन्द्र में होता है एवं मनोविज्ञान में मनुष्य के आन्तरिक जीवन को उजागर कर, उसमें निहित स्वाभाविक शक्ति को पहचानने का प्रयास किया जाता है। प्राय: जनसाधारण के मस्तिष्क में मनोविज्ञान को लेकर अवधारणा है कि मन शरीर या हृदय में कोई ऐसी वस्तु है, जो पहले सोचती है, बाद में मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं को करती है। यह मानव-मन की चेतना तथा अचेतन क्रियाओं तथा मनुष्य की बाह्य क्रियाओं का अध्ययन करता है।

हिन्दी साहित्य का मनोविश्लेषण सशक्त आधार कहा जा सकता है। मनोविज्ञान एक विकासशील अध्ययन-प्रक्रिया है। इस मान्यता के अनुसार, किसी भी साहित्यकार के मन में निर्मित उसकी अवधारणाओं की विशेष अभिव्यक्ति है। इस पद्धति के द्वारा मानव-मन की गहन तीव्र अनुभूतियों तथा व्यक्ति मन की गहराइयों व उसकी सम्वेदनाओं को उजागर किया जाता है। यह मनुष्य के आन्तरिक अनुभवों का प्रतीक है, जिसमें आशा-निराशा और सुख-दु:ख जैसी अनेक इच्छाएँ अन्तर्मुखी भाव को लेकर समाहित रहती हैं।

शान्ता कुमार के कथा साहित्य में पात्रों की अहं भावना, तनाव, अकेलापन, आपराधिक प्रवृत्ति तथा विवशता आदि मनोभावों को यथार्थ मर्मस्पर्शी ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। लेखक के कथा साहित्य में मनोविज्ञान प्रभावी ढंग से परिलक्षित होता है।

अहं भावना– मनोविज्ञान के क्षेत्र में अहं व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति है, जो उसके जीवन एवं उसकी सत्ता को रूपायित करता है। हर प्राणी में यह प्रवृति सहज रूप से विद्यमान रहती है। अहं का अर्थ है– ''मनुष्य में होने वाला वह ज्ञान या धारणा कि मैं या औरों में मेरी पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता है अथवा अंहकार एवं अभिमान।'' अहं की यह भावना विपरीत परिस्थितियों, अवरोधों के हल्के से आघात भी अहं परिचालित व्यक्ति को चोट पहुँचाते हैं। अहं व्यक्ति को अहंकारी, विद्रोही, हठी, असामाजिक तथा स्वयं को सब कुछ समझने वाला बना देता है।

मनोविज्ञान के अनुसार, अहं भावना मनुष्य की जन्मजात मूल प्रवृत्ति है, जिसकी भूमिका मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण रहती है। यह प्रवृत्ति किसी में अधिक, किसी में कम रूप में रहती है।

* सहायक आचार्य– हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला, समरहिल, हिमाचल प्रदेश

सामाजिक परिस्थितियाँ अहं भाव को निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं। अहं भाव जब अधिक विकसित हो जाता है, तब वह खतरा सिद्ध होता है। लेखक ने पात्रों के माध्यम से मनोवैज्ञानिकता को स्थान दिया है। मानव इन भावों से इतना घिर गया है कि उसे स्वयं के हृदय में उपजी इन समस्याओं ने निराश एवं कुण्ठित करके रख दिया है। लेखक ने व्यक्ति के मन में आयी इन समस्याओं से पात्रों को लड़ते भी दिखाया है।

'सरसराहट' कहानी में पात्र किशोर के द्वारा पुरुष अहं को परिभाषित किया गया है। किशोर– पुरुष अहं के कारण अपनी पत्नी कृष्णा पर शक करता है। कृष्णा को धकेलते हुए कहता है– ''चल हट दुराचारिणी।''[२] अत: किशोर के पुरुष अहं भाव ने उसके मन में एक नकारात्मक सोच को विस्तार दिया। यही नकारात्मक सोच अन्य के प्रति घृणा और उपेक्षा का कारण बनती है।

अहं व्यक्ति की मानसिकता को नकारात्मक विचार से भर देता है। वह अपने अहं से बाहर नहीं निकल पाता। किशोर अहं के कारण ही कृष्णा पर शक तथा उसका तिरस्कार करता है।

'मुलाकात' कहानी में पुरुष मन में अहं को वर्णित किया गया है। सुन्दर अपनी पत्नी पार्वती को गोविन्द से काफी देर तक बातें करते हुए देखता है, तो वह उसे भला-बुरा कहता है व शक करता है। सुन्दर क्रोध में पार्वती की कोई बात नहीं सुनता और कहता है– ''यहाँ रोकर क्या तुम अपनी सच्चाई सिद्ध करना चाहती हो?''[३] पुरुष के अहं भाव के कारण ही पत्नी पर से उसका विश्वास उठता चला जाता है। अहं व्यक्ति को पूर्ण रूप से अहंवादी एवं निर्दयी बनाता जा रहा है।

अत: पुरुष अहं की इसी सोच को लेखक ने अभिव्यक्त किया है। पुरुष मात्र केवल नारी की स्वतन्त्रता में विश्वास रखने का दिखावा करता है, किन्तु आज भी कहीं-न-कहीं उसके मन में शंका का भाव व्याप्त है, जो उसकी उदार मानसिकता को खत्म करता है।

'मन के मीत' उपन्यास में पुरुष मन में अहं को अभिव्यक्त किया गया है। पात्र रामसिंह के पुरुष अहं को व्यक्त कर अहं को स्पष्ट किया है। उपन्यास में राम सिंह ड्यूटी से लौटकर, शराब पीकर घर आता है। सोए हुए बेटे शामू को जगाने लगता है, तो गीता उसे मना करती है। राम सिंह उस पर पुरुष अहं के कारण चिल्लाता है और कहता है– ''गीता! तुम हट जाओ। यह मेरा बेटा है।' 'और मेरा कुछ नहीं है? मैं आपकी कुछ भी नहीं हूँ?' 'हो! हो!! तुम भी हों।' 'क्या हूँ?' 'बच्चे पैदा करने वाली मशीन।' रामसिंह क्रूर हँसी हँसा।''[४] इस तरह, अहं के कारण मनुष्य रिश्तों की अहमियत तक को भूल जाता है। पुरुष अहं की यह सोच रिश्तों का सम्मान करना तो दूर, उनका मजाक बनाकर रख देती है।

अत: कथाकार ने कथा साहित्य में पुरुष अहं एवं उसकी मानसिकता को अभिव्यक्त कर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। इसी अहं भावना के कारण सम्बन्धों में दरार उत्पन्न हो जाती है तथा प्रेम-भावना लगभग समाप्त हो जाती है। अहं व्यक्ति को पूर्ण रूप से अहमी तथा निर्दयी बनाता जा रहा है। अत: लेखक ने अहं भावना की समस्या को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है कि अहं व्यक्ति को उच्चता-प्रदर्शन करने वाला बना देता है कि वह स्वयं को श्रेष्ठ समझता है। अहं के कारण व्यक्ति मन-ही-मन स्वयं को सबसे भिन्न समझने का प्रदर्शन करता नजर आता है। इसी अहं के कारण मानव मन में उत्पन्न हुई भावनाओं को दूसरे के सामने रख करके स्वयं को ही श्रेष्ठ एवं उच्च दिखाने का प्रयत्न करता है। अहं भावना कहीं-ना-कहीं आपसी सम्बन्धों में शक व अविश्वास की स्थिति को उत्पन्न करती है।

तनाव– वर्तमान समय में तनाव एक गम्भीर समस्या बन गयी है। यह एक मानसिक रोग

है, जो व्यक्ति की इच्छाएँ पूरी न होने से होता है। तनाव व्यक्ति के मस्तिष्क में घर कर जाता है। वह अन्दर-ही-अन्दर घुटता रहता है। इससे उभर नहीं पाता है। जब व्यक्ति अपने मन की भावनाओं को अन्दर ही दबाकर घुटता है और किसी के साथ व्यक्त नहीं कर पाता, तब वह तनावग्रस्त हो जाता है। इस अवस्था में वह किसी से बात नहीं करना चाहता व अकेला रहना चाहता है। अचानक से क्रोध, चिड़चिड़ापन तथा निराशा का अनुभव कर वह नकारात्मक सोच का शिकार हो जाता है।

आज के समय में व्यक्ति अत्यधिक प्रतिस्पर्धा तथा देखा-देखी अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए जूझता रहता है। जब तक उसकी ये इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, तब तक वह आराम से नहीं बैठ पाता है। 'बृहत् हिन्दी कोश' में तनाव के विषय में मान्यता है– ''चिन्ता आदि की मानसिक स्थितियों में शरीर की शिराओं, धमनियों और स्नायु में होने वाला खिंचाव तनाव कहलाता है।''[५] तनाव व्यक्ति-मन को गहरा आघात देता है। मानव-मन की असीमित इच्छाओं पर नियन्त्रण न होना, जीवन से संतुष्ट न होना तथा दूसरों के साथ तुलना करने वाली मनोदशा तनाव का रूप धारण कर लेती है। शान्ता कुमार के कथा साहित्य में अनेक पात्र अपने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए दिखाई देते हैं, जिससे उनके जीवन में तनाव पैदा होता है।

तनाव व्यक्ति के जीवन को एवं उसकी उम्मीद को तोड़कर रख देता है। लेखक ने मनुष्य के इस भाव को पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति देकर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है तथा इन स्थितियों से उबरकर जीवन जीने का सन्देश दिया है।

'मृगतृष्णा' उपन्यास में पति-पत्नी सम्बन्धों में आपसी ताल-मेल तथा समझ का अभाव सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न करता है। पारिवारिक सम्बन्ध विश्वास तथा त्याग पर निर्भर होते हैं। जब तक यह भावना पति-पत्नी में है, सम्बन्धों में मधुरता रहती है, अन्यथा जीवन में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। 'मृगतृष्णा' उपन्यास का उदाहरण प्रस्तुत है– ''यों जिन्दगी का भार ढोते रहने में भी क्या अर्थ है? जिन्दगी तो लुट ही चुकी है। यह हाड़-माँस का शरीर सँभाले फिर रही हूँ। क्यों न मैं आत्महत्या करके इस हर क्षण, हर पल के मरने को एक ही बार समाप्त कर लूँ?''[६] अत: पुरुष की भाँति प्रत्येक स्त्री अपने पति के व्यवहार एवं क्रिया-कलाप से सन्तुष्ट न होने पर तनाव की स्थिति से गुजरती है। जब स्त्री की दमित इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं, तो उसके मन में विकार उपजता है। ऐसे में; वह पति से असन्तुष्ट रहने लगती है और उसका दाम्पत्य-जीवन से विश्वास डगमगाने लगता है, जिससे तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है।

लेखक ने व्यक्ति-मन के तनाव को अभिव्यक्त किया है, जो मन को अन्दर-ही-अन्दर खोखला कर देता है। व्यक्ति को परिवार से दूर कर देता है। मृगतृष्णा की सावित्री प्रमोद के जेल से छूटने के बाद परिवार से अलग होने की बात कहती है– ''और आप मुझे क्षमा कर दो, मेरे पास अब कुछ भी नहीं है। बाहर से जुड़ी हूँ, दुनिया को दिखाने के लिए। अन्दर से टूट चुकी हूँ। सब छलनी हो गया। एक खोल हूँ। चलती-फिरती लाश हूँ। मेरा जो कुछ बचा है, वह भी मेरे वश में नहीं है।''[७] अत: पारिवारिक तनाव तथा संघर्ष कोमल मन को गहरी चोट पहुँचाता है, जिससे व्यक्ति का मन खोखला होता चला जाता है। दूसरों के प्रति प्रेम-भाव तथा सम्वेदनाएँ लगभग समाप्त होने लगती हैं। लेखक ने सावित्री के माध्यम से नारी के कोमल मन पर लगी गहन चोट की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है।

अकेलापन– आज के मशीनी युग में अकेलेपन को अधिक बढ़ावा मिला है। मानव के अकेलेपन की स्थिति में पहुँचने का कारण कहीं-न-कहीं मशीन युग भी है। जब संयुक्त परिवारों

में मिल-जुल कर व्यक्ति कार्य करते थे, एक दूसरे के साथ अपने मन की बातों को साझा करते थे, तब इस स्थिति से दूर थे। समाज में प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी समस्या से ग्रसित है। बहुत सी समस्याएँ ऐसी हैं, जिन्हें वह किसी के साथ साझा नहीं कर पाता है। अन्दर-ही-अन्दर घुट कर अकेलेपन का शिकार हो जाता है। अकेलापन व्यक्ति को चिड़चिड़ा तथा तनावग्रस्त बना देता है।

शान्ता कुमार ने कथा साहित्य में पात्रों के अकेलेपन को चित्रित किया है। अकेलापन व्यक्ति को निराश तथा हताश करता है। व्यक्ति के जीवन को एवं उसकी उम्मीदों को तोड़ कर रख देता है, जिसे लेखक ने पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति देकर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है।

'समर्पण' कहानी में भामति के अकेलेपन की स्थिति को दर्शाया गया है। ब्रह्म की खोज में लगा हुआ वाचस्पति ये भी नहीं जान पाता है कि उसका विवाह हो गया है। भामति सुहाग की सेज पर अपने पति का इंतजार करती है, लेकिन उसके न आने पर वह पूरी तरह टूट जाती है– ''भामति अपने कमरे में आई। सुहाग की सजी-सँवरी सेज पर लेट गई। लेट न सकी, तो उठ बैठी। बैठ भी न सकी, तो उठकर कमरे में टहलने लगी। फिर धरती पर बैठ गई। घुटनों पर मुख रखकर कितनी ही देर सोचती रही। उसके दिल में एक ज्वार उमड़ा। उसकी नई लाल साड़ी उसकी आँखों के गर्म आँसुओं से भींग उठी। वह सिसक पड़ी। फूट-फूट कर रोने लगी।''[८] अपने नए जीवन के सँजोये सुनहरे सपनों के टूटने पर वह निराश होती है। पति का साथ न मिलने पर वह अकेलेपन से भर जाती है। भामती अपने पति की तपस्या के लिए अपना सारा जीवन समर्पित कर देती है। यह अकेलापन व्यक्ति को अन्दर-ही-अन्दर कचोटता है। अकेलापन व्यक्ति के जीवन की दिशा को बदल देता है।

'लाजो' उपन्यास में लेखक ने विधवा लाजो के अकेलेपन की पीड़ा को व्यक्त किया है। नयी नवेली दुल्हन बनी लाजो की अभी हाथों की मेंहदी भी नहीं छूटी थी, उसका सैनिक पति देश के लिए शहीद हो जाता है। जीवन के सुनहरे सपनों के बिखरने के बाद लाजो को अकेलेपन की पीड़ा को सहन करना पड़ता है। लाजो मन-ही-मन सोचती है– 'अभी तो जीवन के कितने ही लम्बे वर्ष इसी प्रकार की कितनी अँधेरी रातें मुझे इस मकान में अकेले बितानी हैं।''[९] अत: विधवा के अकेलेपन की मानसिक पीड़ा को लेखक ने चित्रित किया है। आजीवन अकेलेपन की पीड़ा से ग्रसित व्यक्ति जीवन से उदासीन होने लगता है तथा जीवन को समाप्त करने की सोच उसमें पनपने लगती है। लाजो, कांता से कहती है– ''अब कोई और चारा भी नहीं है। मैं आत्महत्या करूँगी। इस जीवन को समाप्त कर लूँगी।''[१०] इस प्रकार, लेखक ने अकेलेपन की स्थिति को बड़े ही मार्मिक ढंग से उल्लिखित किया है। अकेलेपन के कारण मानव-मन घुटन, कुण्ठा आदि का शिकार हो जाता है और उसके कोमल मन को गहरा आघात पहुँचता है।

अत: कथाकार ने व्यक्ति के जीवन में छाए अकेलेपन को अभिव्यक्ति दी है। अकेलापन व्यक्ति को भीतर-ही-भीतर कुण्ठित करके रख देता है। अकेलापन व्यक्ति के मन को दिन-रात कचोटता है। अपनों का उपेक्षित व्यवहार तथा सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति को अकेलेपन में जीने के लिए विवश कर देती हैं। वह धीरे-धीरे कुण्ठा का शिकार बनता जाता है। अकेलेपन की असहनीय पीड़ा व्यक्ति-मन को निराशा से भर देती है।

आक्रोश– जब व्यक्ति जीवन में दूसरों पर विश्वास करता है, लेकिन बदले में उसे विश्वासघात तथा धोखा मिलता है, तो वह जोश में आकर उस व्यक्ति का या व्यवस्था का विरोध करता है। आक्रोश का अर्थ है– गुस्सा या क्रोध, परन्तु इसका व्यापक अर्थ है– गलत व्यवस्था

या गलत व्यक्ति के प्रति गुस्सा या विरोध करना। आज के समय में वह इतना स्वार्थी हो गया है कि दूसरों का भला-बुरा समझ नहीं आता है। यह भावना किसी व्यक्ति में तब पनपती है, जब उसे आशा के बदले निराशा मिलती है। यही निराशा आक्रोश का स्थान ले लेती है। लेखक ने नारी का पुरुष के प्रति, बेरोजगारों का व्यवस्था के प्रति तथा युवा वर्ग का सामाजिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश अभिव्यक्त किया है।

'मृगतृष्णा' उपन्यास में लेखक ने एक नारी के भीतर पनपे आक्रोश को उद्घाटित किया है। सावित्री-प्रमोद– दोनों एक-दूसरे से अत्यधिक प्रेम करते हैं। अनेक कठिनाइयों को सहन करने के बाद उनका विवाह होता है। लेकिन कुछ समय के बाद प्रमोद के व्यवहार तथा आचरण में बदलाव आ जाता है, जिससे सावित्री के हँसते-खेलते परिवार में दु:खों का प्रवेश हो जाता है। सावित्री अपनी बेटी ऋतु की मृत्यु से पूरी तरह से टूट जाती है और इसका जिम्मेदार प्रमोद को ठहराती हुई अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए प्रमोद से कहती है– ''दलील से नहीं, दिल से जीती रही हूँ। आज क्षमा करें, उस दिल में अब आपके लिए कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। यदि है, तो क्रोध, क्षोभ है मेरा। वह फूल-सा जीवन, हँसती-मुस्कुराती गृहस्थी, मान-सम्मान की जिन्दगी और खिलती कली-सी सुन्दर मेरी बेटी ऋतु सब नष्ट हो गया।''[११] प्रमोद को गलत रास्ते का अनुसरण करते हुए ऋतु को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। ऋतु की मृत्यु से सावित्री पूरी तरह टूट जाती है। प्रमोद के प्रति उसके मन में आक्रोश पनपने लगता है। यह प्रमोद से दूर होकर रहना चाहती है। लेखक ने कथा साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों में पनपे आक्रोश और मनोदशा को प्रस्तुत किया है।

न्याय व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था के भ्रष्ट हो जाने पर व्यक्ति के मन में आक्रोश पनपता है। चाहे पुरुष हो था नारी, प्रत्येक का मन इन व्यवस्थाओं के सही ढंग से कार्य न करने पर आक्रोशित हो जाता है। उपन्यास में सावित्री की बेटी को एक राजनेता के हाथों अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। बेटी को न्याय दिलाने के लिए वह प्रधानमन्त्री से मिलने उनकी कोठी पर जाती है। वहीं उसे ऋतु का हत्यारा गुरुचरण मिलता है, तो वह उसे वहाँ से जाने तथा रिश्वत देने की बात करता है। सावित्री गुरुचरण पर क्रोध करते हुए कहती है– ''दूर हटो, दुष्ट पापी! तुमने क्या समझ रखा है? मैं कोई नेता नहीं, एम.एल.ए. नहीं, एम.पी. भी नहीं, जो सरेआम चाँदी के ठीकरों में नीलाम होते हैं। अत: जब जनता के रक्षक ही उसके भक्षक बन जाते हैं, तो असहाय व्यक्ति के पास आक्रोश प्रकट करने के अलावा और कुछ भी नहीं रहता। लेकिन स्वार्थी राजनीतिज्ञ केवल अपनी पद-प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए असहाय व्यक्ति को मसलने से नहीं हिचकता है। शान्ता कुमार ने कथा साहित्य में असहाय जनता के साथ हो रहे अन्याय तथा उसके विरुद्ध आक्रोश को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है।

'मन के मीत' उपन्यास में जेल में अच्छा खाना न मिलने पर कैदियों के आक्रोश को व्यक्त किया गया है। जेल में हो रहे भ्रष्टाचार के विरुद्ध कैदी अपना क्रोध डिप्टी साहब नारंग के सामने प्रकट करते हैं, क्योंकि बाहर से अच्छी-ताजी सब्जियाँ कैदियों के नाम पर मँगवाई जाती हैं, जिसको रजिस्टर में अंकित तो किया जाता है, लेकिन उन्हें अच्छी सब्जियाँ नहीं परोसी जातीं। कैदी गुलजार अपना आक्रोश प्रकट करते हुए कहता है– ''इन जेल वालों ने कैदियों के नाम पर लूट मचा रखी है। यह मूलियों की घास हम नहीं खाएँगे। यदि इन टोकरों को अन्दर ले जाया गया, तो मैं इन्हें फेंक दूँगा। हम कैदी हैं, पर पशु नहीं।'' अत: लेखक ने जेल में कैदियों के माध्यम से जेल में

परोसे जाने वाले खाने का जिक्र किया है, क्योंकि कैदी भी मनुष्य हैं और अन्य मनुष्य की तरह ही वह भी मनुष्यत्व के व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं। एक कैदी भी अपने ऊपर हो रहे अन्याय के प्रति सजग रहता है और संघर्ष करता है। शान्ता कुमार ने जेल व्यवस्था के प्रति कैदियों के आक्रोश तथा उनकी मनोदशा का उद्‌घाटन किया है।

अत: लेखक ने पारिवारिक रिश्तों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के कारण पनपे आक्रोश को प्रकट किया है। जब पारिवारिक रिश्तों में एक दूसरे की भावनाओं को नहीं समझा जाता है, तब सम्बन्धों में आक्रोश पैदा होता है। सामाजिक व्यवस्थाओं द्वारा न्याय न मिलने पर व्यक्ति के मन को ठेस पहुँचती है, तो मन की यह पीड़ा आक्रोश में बदल जाती है। निरन्तर समस्याओं से जूझते रहना तथा उपेक्षित व्यवहार से भी आक्रोश की भावना प्रबल हो जाती है। अत: शान्ता कुमार ने व्यक्ति-मन में परिस्थितियों के द्वारा पनपे आक्रोश को यथार्थ रूप से उद्‌घाटित किया है।

आपराधिक प्रवृत्ति– अपराध एक सामाजिक बुराई है। समाज अपने अतीत से ही अपराध से ग्रस्त रहा है। अपराध की प्रकृति में समय के साथ बदलाव आता रहता है। जब मनुष्य में स्वार्थ की प्रवृत्ति कम थी, तब अपराध भी कम ही होते थे। लेकिन समय-परिवर्तन के साथ मानव-मन स्वार्थी बनता गया, जिससे अपराधों में बढ़ोत्तरी होने लगी। हरेक अपराध एक जैसा नहीं होता है। जिन भी परिस्थितियों में यह हुआ है, उसके पीछे का उद्देश्य, उसे करने की उत्तेजना, अपराधी के जीवन की अवस्था, अपराध की प्रवृत्ति और कारण– अपराध के मामले में पृथक्-पृथक् होते हैं।

अपराध के पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य निहित रहता है। अपराध अकारण नहीं होते हैं। आज अपराधों का मुख्य कारण मानव का नैतिक तथा चारित्रिक पतन है। जैसे-जैसे मानव-मूल्यों में गिरावट आयी, वैसे-वैसे मानव अपराधों की ओर आगे बढ़ा है। शान्ता कुमार के कथा साहित्य में आपराधिक प्रवृत्ति का विस्तृत वर्णन हुआ है। लेखक ने कैदियों के जीवन-प्रसंगों के माध्यम से आपराधिक प्रवृत्ति को दर्शाया है। समाज और उसकी परिस्थितियाँ मनुष्य को अपराध के मार्ग पर धकेलती हैं।

'लाजो' उपन्यास में प्रेम परिस्थितिवश अपराध की ओर प्रवृत्त होता है। प्रेम न तो अपराधी था और न ही कभी अपराध का भाव उसके मन में आया, लेकिन कानून-व्यवस्था में न्याय न मिलने पर वह आक्रोशवश भगतराम की हत्या कर देता है। भगतराम लाजो के साथ दुराचार का प्रयास करता है, लेकिन अदालत से बरी हो जाता है। इससे प्रेम के मन में भगतराम के प्रति घृणा उत्पन्न होती है और वह उसकी हत्या कर देता है। प्रेम दलजीत के पास पिस्तौल देखता है, तो वह कहता है– ''दलजीत! यह पिस्तौल मुझे दो। में भगतराम की हत्या करूँगा। तुमने मेरे सोए पौरुष को जगा दिया है। जब से अदालत ने उसे छोड़ा है, मैं मैं नहीं। मैं उद्विग्न हूँ। परेशान हूँ। अन्दर-ही-अन्दर मुझे कोई चीज कचोट रही है। मेरा अणु-अणु मुझे धिक्कारता-सा रहता है। जब तक वह नीच पापी इस धरती पर है, मैं चैन से नहीं रह सकता।''[१२] भगतराम को उसके कुकर्मों का दण्ड न मिलने से प्रेम परेशान हो उठता है और परिस्थितिवश हत्या कर बैठता है। रमेश के पूछने पर प्रेम कहता है– ''मैं समझता हूँ, परिस्थितियों की उस विवशता की भावना ने ही मुझे उसकी हत्या के लिए प्रेरित किया।''[१३] अत: प्रेम मूलत: अपराधी नहीं था। लाजो के प्रेम की कसक, गाँव-घर का विरोध व अदालत द्वारा कुकर्मी भगतराम को बरी कर देना– उसे हताश तथा निराश बना देता है और वह अपराध कर बैठता है।

'मन के मीत' उपन्यास में राजू बेरोजगारी से तंग आकर अपराध की ओर प्रवृत्त होता है।

बी.ए. पास बेरोजगार राजू अपनी बेरोजगारी से तंग आकर आत्महत्या करने का प्रयास करता है, लेकिन समय पर बिहारी आकर उसे बचा लेता है। बिहारी चोर है तथा जेल से छूटने के बाद फिर चोरी करता है। वह राजू को अपने रास्ते पर चलने के लिए कहता है। राजू मन-ही-मन सोचता है। रात सोया-सोया वह चौंकता रहा, पर उसे लगा कि अब आत्महत्या और बिहारी में से एक को चुनने की निर्णायक घड़ी आ गयी है। उसने बिहारी के रास्ते पर ही चलने का निर्णय कर लिया। अत: बेरोजगारी बी.ए. पास राजू को आत्महत्या और अपराध की दुनिया– दोनों में से एक को चुनने की परिस्थिति उत्पन्न करती है और राजू बिहारी के झाँसे में आकर अपराध की दुनिया को अपना लेता है।

मूल स्वभाव से कोई भी व्यक्ति अपराधी नहीं होता है, लेकिन नियतिवश कई बार व्यक्ति अनजाने में अपराध कर बैठता है। गीता भी अपने बचाव में अनजाने में पति राम सिंह की हत्या कर बैठती है। नियति ने राम सिंह की मौत गीता के हाथों से अनजाने में होना लिखा था। वह कभी किसी की हत्या के बारे में सोच भी नहीं सकती थी। अपराध-बोध में दबी गीता डिप्टी साहब से कहती है– ''भगवान की नजर में पापिन हूँ, समाज की नजर में कलंकित हूँ, कानून की नजर में अपराधिनी हूँ।'' अपरिहार्य परिस्थितियों में गीता द्वारा अन्यायी पति की अनजाने में हत्या हुई थी, जिससे वह अपराध-बोध से ग्रसित है।

निष्कर्षत: शान्ता कुमार के कथा साहित्य में समाज से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति की यथार्थ स्थिति को उद्घाटित किया गया है। इनके साहित्य में नारी समुदाय तथा युवा वर्ग के आन्तरिक संघर्ष और अनुभव का जीवन्त चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इनकी रचनाओं में नारी तथा पुरुष की परिवार के प्रति जिम्मेदारियों को निभाने तथा युवा वर्ग की भ्रष्ट शासन-व्यवस्था के आगे विवश रहने तथा मूलभूत सुख-सुविधाओं से वंचित रहने का चित्रण मिलता है। विवशता व्यक्ति के मनोबल को निरन्तर चोट पहुँचाकर उसमें नीरसता लाती है, जिससे यह टूट कर निराशापूर्ण जीवन जीने को विवश हो जाता है।

सन्दर्भ-सूची

१. रामचन्द्र वर्मा– मानक हिन्दी कोश, पृ. २३२
२. शान्ता कुमार– सरसराहट, समग्र साहित्य-२, पृ. १२३
३. शान्ता कुमार– मुलाकात, समग्र साहित्य-२, पृ. १३२
४. शान्ता कुमार– मन के मीत, समग्र साहित्य-१, पृ. ५
५. कालिदास प्रसाद– बृहद् हिन्दी कोश, पृ. ४४७
६. शान्ता कुमार– मृगतृष्णा, समग्र साहित्य-१, पृ. ३२४
७. शान्ता कुमार– मृगतृष्णा, समग्र साहित्य-१, पृ. ३९०
८. शान्ता कुमार– समर्पण, समग्र साहित्य-२, पृ. १०६
९. शान्ता कुमार– लाजो, समग्र साहित्य-१, पृ. ५७७
१०. शान्ता कुमार– लाजो, समग्र साहित्य-१, पृ. ५७५
११. शान्ता कुमार– मृगतृष्णा, समग्र साहित्य-१, पृ. ३९०
१२. शान्ता कुमार– लाजो, समग्र साहित्य-१, पृ. ५८३
१३. शान्ता कुमार– लाजो, समग्र साहित्य-१, पृष्ठ ५९३

●

वैश्विक परिदृश्य में हिन्दी की भाषाई अस्मिता
प्रवासी साहित्य के विशेष सन्दर्भ में

सुनीता शर्मा*, डॉ. निशा वालिया**

शोध-सार– प्रस्तुत शोध-आलेख में हिन्दी की भाषाई अस्मिता का भौगोलिक सीमाओं को लाँघकर, वैश्विक स्तर पर अपनी पहचान बनाने से लेकर समसामयिक समय में हिन्दी की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी आज केवल सम्वाद का माध्यम नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक सेतु की तरह कार्य कर रही है। जहाँ एक ओर गिरमिटिया देशों में हिन्दी अपनी लुप्त होती सांस्कृतिक महत्ता को बचाने का माध्यम है, वहीं दूसरी ओर; विकसित देशों में यह विस्थापन, द्वन्द्व और वैश्विक पहचान को व्यक्त करने का सशक्त उपकरण है। भाषाई अस्मिता ही वह सूत्र है, जो विभिन्न देशों में भारतीय संस्कृति का सफल संचालन और संरक्षण कर रही है। प्रवासी भारतीयों के लेखन ने हिन्दी को एक सीमित भाषा के दायरे से निकालकर उसे एक व्यापक 'वैश्विक चेतना' के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अन्ततः इस शोधालेख में यह देखना दिलचस्प रहेगा कि हिन्दी भाषा और उसका प्रवासी साहित्य आज विश्व पटल पर भारतीयता और आधुनिकता के बीच एक सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में कितना सफल रहा है एवं इसके समसामयिक महत्त्व क्या हैं।

बीज शब्द– भाषाई अस्मिता, प्रवासी साहित्य, वैश्विक परिदृश्य, फलक, संस्कृति, भारतीय, विश्वभाषा, सम्वाहक, परिदृश्य, समसामयिक, पहचान, अमेरिका, मॉरीशस, सूरीनाम, ब्रिटेन।

प्रस्तावना– ''मैं भाषा को संस्कृति की मंजूषा मानता हूँ, बल्कि वह संस्कृति की मंजूषा ही नहीं; उसका वाहन भी है।''[१] –डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

भाषा और अस्मिता का सम्बन्ध अनन्य है। जहाँ अस्मिता किसी व्यक्ति या समूह की अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक पहचान अथवा अपने स्वयं के अस्तित्व, भावनाओं, अनुभवों के प्रति सचेत होना है, तो वहीं भाषा वह माध्यम है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने भावों, विचारों, अनुभवों तथा संस्कारों को अभिव्यक्त करता है। हम यह कह सकते हैं कि भाषा केवल सम्वाद का माध्यम नहीं है, अपितु संस्कृति का सम्वाहक और व्यक्ति के अस्तित्व का आधार है। ''भाषाई अस्मिता से तात्पर्य किसी व्यक्ति या समूह के गौरव और जुड़ाव से है, जो उनकी भाषा से जुड़ी है।'' हिन्दी भाषा के सन्दर्भ में यह अस्मिता आज केवल भारत की सीमाओं तक ही सीमित नहीं है, बल्कि आज हिन्दी भाषा एक वैश्विक भाषा बन चुकी है और हिन्दी भाषा को वैश्विक भाषा बनाने का श्रेय उन भारतीय प्रवासी साहित्यकारों को जाता है, जिन्होंने सात समन्दर पार भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी को बनाए रखा।

वैश्विक फलक पर हम अंग्रेजी, स्पेनिश, रूसी, जर्मन, पुर्तगाली, जापानी, चीनी आदि तमाम भाषाओं को विश्वभाषा के रूप में अनुष्ठित पाते हैं, किन्तु विश्वभाषा के व्यवहार में आयी

* शोध छात्रा– हिन्दी विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा (केन्द्रीय) गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, उत्तराखण्ड

** सह-आचार्य– डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज देहरादून, देहरादून

इन भाषाओं की पद्धति हिन्दी भाषा से भिन्न है। यह भाषाएँ उपनिवेशवाद की उस नींव पर फैली, जो आधिपत्य और तानाशाही ताब से सींची गयी। इसके विपरीत; विश्वभाषा हिन्दी का आधार रहे वह श्रमजीवी मजदूर, जिन्हें एग्रीमेण्ट (ींासहू) के तहत मॉरीशस, फिजी, त्रिनिदाद, गुयाना आदि देशों में 'गन्ने के खेतों' में काम करने के लिए भेजा गया। इनकी श्रद्धा और आत्मीयता के भाव के कारण ही हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में विख्यात् हुई। यदि हम हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का बीजारोपण करने का श्रेय इन 'गिरमिटिया मजदूरों' को दें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इन राष्ट्रों के हिन्दी अनुरागी हिन्दी भाषा को मात्र अभिव्यक्ति का साधन न समझकर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का अनिवार्य अंग मानते हैं। हिन्दी उनके लिए ऐतिहासिक सम्बन्धों को जीवन्त रखने वाला सूत्र और उनकी सम्वेगात्मक एकता का मुख्य स्तम्भ है।

भाषाई अस्मिता संस्कृति का संचालन और संरक्षण करती है। संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं, बल्कि वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी भाषा के माध्यम से प्रवाहित होती है। विदेश में रहने वाला प्रवासी जब अपनी मातृभाषा को अपनी अस्मिता बना लेता है, तो वह अनजाने में ही अपनी संस्कृति का संचालन कर रहा होता है।

मॉरीशस में हिन्दी-लेखन– मॉरीशस एक ऐसा राष्ट्र है, जहाँ की रग-रग में हिन्दी और भारतीय संस्कार रचे-बसे हैं। वहाँ के जनजीवन में हिन्दी भाषा का व्यापक प्रभाव है, जिससे यह देश लघु भारत का एहसास कराता है। इस देश में हिन्दी को न केवल अत्यधिक सम्मान दिया जाता है, बल्कि यह वहाँ की सांस्कृतिक पहचान का मुख्य आधार भी है। यहाँ १८३४ में पहले भारतीय श्रमिक पहुँचे थे और १९५९ में यह देश ब्रिटिश दासता से मुक्त हुआ। लगभग १३ लाख की जनसंख्या वाले इस देश में अधिकांश लोग बिहार से गए श्रमिकों के वंशज हैं। ये लोग आज भी अपनी सभ्यता के प्रति समर्पित हैं और बोल-चाल में मुख्य रूप से भोजपुरी का प्रयोग करते हैं। मॉरीशस के गिरमिटिया मजदूरों का इतिहास केवल पलायन की गाथा नहीं, बल्कि भाषा और संस्कृति के प्रति उस अटूट निष्ठा का प्रमाण है, जिसने हिन्दी को एक वैश्विक पहचान दिलायी।

भारत के जागरण-काल के समान मॉरीशस के हिन्दी कवियों में भी 'हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान' का संकल्प एवं उसकी प्रबल चेतना विद्यमान रही–

१. ''हिन्दू हिन्दी हिन्दुस्तान, जपौ निरन्तर एक जबान।''[२]

२. ''न होगी अहोपुष्ट जो लौ स्वभाषा। हमारी फलीभूत होगी न आशा।''[३]

३. मॉरिशस की पहली हिन्दी कविता ही हिन्दू त्योहार 'होली' पर है– ''आर्यों ने ऐसी होली मनाई।''[४]

४. ''आओ स्वभाषा पुकार सुनो।''[५]

सूरीनाम में हिन्दी-लेखन– सूरीनाम में हिन्दी की नींव १८७३ में पड़ी, जब ब्रिटिश भारत से 'गिरमिटिया मजदूर' के रूप में भारतीय वहाँ पहुँचे। अपने साथ वे रामचरितमानस और हनुमान चालीसा जैसी पुस्तकें ले गए, जिन्होंने कठिन दासता के समय में उनकी भाषाई जड़ों को सींचा। प्रारम्भ में, अवधी और भोजपुरी के मेल से विकसित 'सरनामी हिन्दी' जनमानस की भाषा बनी।

समय के साथ धार्मिक संस्थाओं (जैसे आर्य समाज और सनातन धर्म) ने औपचारिक

हिन्दी-शिक्षण को बढ़ावा दिया। आज सूरीनाम में हिन्दी न केवल सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक है, बल्कि वहाँ के रेडियो, टीवी और साहित्य में भी इसका प्रमुख स्थान है। भारत के बाहर सूरीनाम उन चुनिन्दा देशों में से है, जहाँ हिन्दी लोकगीतों और स्थानीय बोलियों के माध्यम से अपनी जड़ें मजबूती से जमाए हुए है। सूरीनाम के भारतीय प्रवासियों का इतिहास भीषण संघर्ष और अंतहीन पीड़ा का दस्तावेज है। पुष्पिता अवस्थी लिखती हैं– ''सूरीनाम के भारतवंशियों का दाहिना हाथ यदि सरनामी भाषा है, तो बायाँ हाथ हिन्दी है।''[६]

१. ''क्या था तुम्हें न शोक, हृदय से पूछ लो,
उस कुटिया का त्याग न छोटी बात थी।
मातृभूमि वह जन्मभूमि का त्याग थी।''[७]

२. ''वही दिनवा जब याद आवेला, अँखिया में भरेला पानी रे।
हिन्दुस्तान से भागकर आइली, यही है अपनी कहानी रे।
भाई छूटा, बाप छूटा और छूटी महतारी रे।''[८]

प्रवासी साहित्य का दूसरा सोपान उन इच्छित प्रवासियों (Voluntry Migrants) का है, जो विवशता में नहीं, बल्कि वैश्विक अवसरों की तलाश में भारत से बाहर निकले। २१वीं सदी का प्रवासी साहित्य शिक्षित भारतीयों का दस्तावेज है, जिन्होंने अपनी नयी जमीन का चुनाव तो स्वयं किया, लेकिन अपने पुराने आसमान (भारतीय संस्कार) को नहीं त्यागा। जहाँ गिरमिटिया साहित्य में स्मृतियों की प्रधानता है, तो वहीं आधुनिक प्रवासी लेखन में 'मूल्यों के संघर्ष' तथा 'संस्कृतियों की टकराहट' आदि की प्रधानता है।

ब्रिटेन में हिन्दी-लेखन– ब्रिटेन भी अब विश्वभाषा हिन्दी के नक्शे में महत्त्वपूर्ण देश बन गया है। डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, जब ब्रिटेन में भारतीय उच्चायुक्त बने, तो पहली बार वहाँ व्यवस्थित रूप से हिन्दी समाज संगठित हुआ, हिन्दी अध्यापक और लेखक एकजुट हुए तथा हिन्दी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं।[९] ''द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब बड़ी संख्या में भारतीय पंजाब, उत्तर प्रदेश और गुजरात से ब्रिटेन जाकर बसे, तब 'प्रवासी हिन्दी साहित्य' का वास्तविक जन्म हुआ। जड़ों से बिछड़ने का दर्द, नस्लवाद और नए समाज में सामंजस्य बैठाने का संघर्ष प्रमुख विषय थे। पद्मेश गुप्त, डॉ. सत्येन्द्र श्रीवास्तव और तेजेन्द्र शर्मा जैसे साहित्यकारों ने ब्रिटिश जीवन की बारीकियों को हिन्दी साहित्य में पिरोया–

१. ''हरी धरती, खुले नीले गगन, को छोड़ आया हूँ,
कि कुछ सिक्कों के खातिर मैं वतन को छोड़ आया हूँ,
विदेशी भूमि पर माना, लिए फिरता हूँ तन
लेकिन वतन की सोंधी मिट्टी में, मैं मन को छोड़ आया हूँ।''[१०]

२. ''वे फिर / खरीद ले जाएँगें
हमारे उभरते नौजवानों / और बुद्धिजीवियों को
हम खुली आँख विश्व-कल्याण का स्वप्न देखते रहेंगे
वे अपना भविष्य बनाते रहेंगे
हम महादानी कर्ण एवं एकलव्य की तरह
अपनी सुरक्षा / बड़े गर्व से
उनके दान-पात्र में जलते रहेंगे / वह में असीसते रहेंगे

हम दृष्टिहीन धृतराष्ट्र के उत्तराधिकारी बँधे काफिलों से
keâBe Deejw heeleue keâe šbge[e/Wej ueĝlesj nVes''[११]

३. **''समुन्दर पार करके अब परिन्दे घर नहीं आते**
अगर वापस भी आते हैं, तो लेकर पर नहीं आते।''[१२]

४. **''बाजार-संस्कृति में नदियाँ, नदियाँ नहीं रह जाती हैं**
बनती हैं व्यापार का माध्यम, माँ नहीं बन पाती हैं।''[१३]

५. **''परदेस में रहकर हमें एहसास हुआ है**
हर दौर में इंसान को बनवास हुआ है।''[१४]

अमेरिका में हिन्दी-लेखन– वैश्विक परिदृश्य में अमेरिका हिन्दी के एक नए गंतव्य ध्येय के रूप में उभरा है। अमेरिका में हिन्दी भाषा अब केवल प्रवासी भारतीयों तक ही सीमित नहीं है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जॉर्ज बुश के द्वारा वर्ष २००७ में कुछ अन्य भाषाओं के साथ हिन्दी भाषा को भी अमेरिकी स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ाए जाने के लिए एक स्पष्ट और ठोस योजना प्रस्तावित की गयी। साहित्य की दृष्टि से अमेरिका में भारतीय प्रवासी साहित्यकार अब 'अपनी जड़ों' से कटने के गम से आगे बढ़कर अपनी नयी पहचान को हिन्दी भाषा के माध्यम से परिभाषित कर रहे हैं। उषा प्रियंवदा, डॉ. सुधा ओम ढींगरा, सुषम बेदी, सुदर्शन प्रियदर्शिनी, कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, रामेश्वर अशान्त, प्रो. राम चौधरी आदि साहित्यकार इसका जीवन्त प्रमाण हैं।

१. **''यह युग पहले भी आया था**
द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अँगूठा कटवाया था
पुरुष ने शापित कर
अहल्या को पत्थर बनाया था
सीता को लांछित कर जंगल भिजवाया था
राजनीति के चक्कर ने राम को
बनवासी बनाया था।''[१५]

२. **''मैं ऐसा समाज**
निर्मित करूँगी
जहाँ औरत का मतलब
सिर्फ
माँ
बेटी
बहन
प्रेमिका और
पत्नी ही नहीं
बल्कि
एक इन्सान
सिर्फ इन्सान हो
तथा उसे उसी तरह

जाना

पहचाना

व परखा जाए।''

निष्कर्ष– अत: हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वैश्विक परिदृश्य में हिन्दी की भाषाई अस्मिता किसी एक भौगोलिक सीमा के घेरे से बाहर निकल कर वैश्विक पटल पर यह मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनिदाद, गुयाना, दक्षिण अफ्रीका से लेकर ब्रिटेन, अमेरिका, कनाड़ा आदि देशों तक में विस्तृत एवं समृद्ध सांस्कृतिक रेखाचित्र का निर्माण करती है। गिरमिट देशों में जहाँ हिन्दी लेखन की जड़ें संघर्ष, यातना और अपनी सांस्कृतिक जड़ों को बचाने की जद्दोजहद में धँसी है, वहीं ब्रिटेन तथा अमेरिका जैसे देशों में विश्वभाषा हिन्दी लेखन आधुनिकता, विस्थापन के द्वंद्व, दोहरी संस्कृति की टकराहट तथा एक वैश्विक पहचान की दास्ताँ कहता है। भाषाई अस्मिता ही वास्तव में वह धुरी है, जो इन विविध देशों में संस्कृति का सफल संचालन तथा संरक्षण कर रही है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि प्रवासी हिन्दी साहित्यकारों ने हिन्दी को केवल एक भाषा के रूप में नहीं, बल्कि एक वैश्विक चेतना के रूप में स्थापित किया है।

सन्दर्भ-सूची

१. उषा राजे सक्सेना– ब्रिटेन में हिन्दी, ऑनलाइन वेबसाइट (abhivyakti-hindi.org)

२. कमल किशोर गोयनका– हिन्दी का प्रवासी साहित्य, पृ. १२०

३. वही– पृ. १२३ ४. वही– पृ. ११९

५. वही– पृ. १२३

६. पुष्पिता अवस्थी– सूरीनाम का सृजनात्मक इतिहास

७. प्रो. प्रदीप श्रीधर– प्रवासी हिन्दी साहित्य : अवधारणा एवं चिन्तन, पृ. ३२

८. अमर सिंह रमण– आप्रवासी यादगार, ऑनलाइन वेबसाइट (kavitakosh.org)

९. कमल किशोर गोयनका– हिन्दी का प्रवासी साहित्य, पृ. ४९२

१०. वही– पृ. ५१४ ११. वही– पृ. ५१४

१२. अनिल जोशी– प्रवासी लेखन : नयी जमीन-नया आसमान, पृ. १८४

१३. वही– पृ. १८७ १४. वही– पृ.१८८

१५. सुदर्शन प्रियदर्शिनी– ऑनलाइन वेबसाइट (kavitakosh.org)

१६. कमल किशोर गोयनका– हिन्दी का प्रवासी साहित्य, पृ. ४२५

●

खण्ड-घ : गीत और ग़ज़ल और लोक साहित्य

हिन्दी सिनेमा में गीतों का बदलता स्वरूप

एक अन्तरविषयी समाजशास्त्रीय एवं साहित्यिक विश्लेषण

सौरभ कौशल*, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह**

शोध-सार : भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक चेतना में संगीत और नृत्य की जड़ें अत्यन्त गहरी हैं, जो प्राचीन नाट्यशास्त्र की परम्पराओं से लेकर मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन और आधुनिक पारसी रंगमंच तक विस्तृत हैं। हिन्दी सिनेमा ने इसी समृद्ध विरासत को आत्मसात् करते हुए एक ऐसी अद्वितीय विधा को जन्म दिया, जहाँ गीत केवल मनोरंजन के साधन नहीं, बल्कि कथानक की धुरी और सामाजिक विमर्श के उपकरण बन गए। हिन्दी सिनेमा की एक शताब्दी से अधिक की यात्रा में गीतों का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित होता रहा है, जो तत्कालीन राजनीतिक आकांक्षाओं, तकनीकी क्रान्तियों और भाषाई संकरण का जीवन्त दस्तावेज प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत शोध-लेख हिन्दी चलचित्रों में गीतों के विकासवादी प्रक्षेपवक्र (Trajectary) का गहन विश्लेषण करता है, जिसमें सवाक फिल्मों के उदय से लेकर डिजिटल युग के 'हिंग्लिश' प्रवाह और 'आइटम नम्बर' के समाजशास्त्रीय प्रभावों को रेखांकित किया गया है।

बीज शब्द : हिन्दी सिनेमा, सिने-संगीत, पारसी रंगमंच, फिल्मी गीत, परिवर्तित गीत स्वरूप।

१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं पारसी रंगमंच का उत्तराधिकार : हिन्दी सिनेमा का ध्वनि-शिल्प अपनी स्थापना के समय से ही रचनात्मक नवाचारों का केन्द्र रहा है। मूक फिल्मों के युग (१८९०-१९३०) में भी सिनेमा पूर्णत: 'मूक' नहीं था; बल्कि परदे के समक्ष एक 'पिट' में संगीतकार सजीव वादन करते थे, जो चलचित्र की दृश्यात्मकता को श्रव्य-सम्वेगों से जोड़ते थे। यह परम्परा १९३१ में अर्देशिर ईरानी की 'आलम आरा' के साथ समाप्त हुई, जिसने भारतीय जनमानस को 'बोलती फिल्म' के युग में प्रवेश कराया। 'आलम आरा' का प्रथम गीत 'दे दे खुदा के नाम पे प्यारे', संगीत इतिहास का प्रस्थान-बिन्दु बना।

हिन्दी सिनेमा ने अपना रचनात्मक व्याकरण पारसी रंगमंच से उत्तराधिकार में प्राप्त किया है। पारसी रंगमंच की 'रंग युक्तियाँ', जैसे– पात्रों की मानसिक स्थिति प्रकट करना और नाटकीय मोड़ों पर वातावरण का सृजन करना, सिनेमाई गीतों का अभिन्न अंग बन गयी। विशेष रूप से; 'युगल-गीत' (Duet) का प्रारूप पारसी रंगमंच का मौलिक आविष्कार था, जो न तो शास्त्रीय संस्कृत नाटकों में उपलब्ध था और न ही पश्चिमी थिएटर में। प्रारम्भिक सवाक युग में गीतों का आधिक्य (जैसे १९३२ की 'इन्द्रसभा' में ७२ गीत) इस तथ्य का प्रमाण है कि तत्कालीन फिल्मकार चलचित्र को रंगमंच के विस्तारित रूप में देखते थे।

२. स्वर्ण युग : साहित्यिक शुचिता एवं शास्त्रीयता का समन्वय : १९५० और ६० के दशक को हिन्दी सिने-संगीत का 'स्वर्ण युग' माना जाता है। यह कालखण्ड राष्ट्र-निर्माण की

* शोधार्थी– हिन्दी विभाग, नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.

** शोध-निर्देशक– सह आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय प्रयागराज, उ.प्र.

प्रक्रिया और प्रगतिशील लेखक आन्दोलन (Progressive Writers' Movement) के साहित्यिक उत्कर्ष का साक्षी था। साहिर लुधियानवी, शैलेन्द्र, कैफी आजमी और मजरूह सुल्तानपुरी जैसे कवियों ने गीतों को 'शुद्ध कविता' के धरातल पर प्रतिष्ठित किया।

शैलेन्द्र की सादगीपूर्ण भाषा में जहाँ शोषित वर्ग की पीड़ा और 'तू प्यार का सागर है' जैसी मानवीय सम्वेदना थी, वहीं साहिर की लेखनी में 'ये दुनिया अगर मिल भी जाए तो क्या है' जैसा बौद्धिक विद्रोह और सामाजिक असमानता के प्रति तीखा आक्रोश झलकता था। संगीतकारों, विशेषकर नौशाद ने 'बैजू बावरा' (१९५२) के माध्यम से शास्त्रीय रागों को जनसामान्य के लिए सुलभ बनाया, जबकि मदन मोहन ने गजल की विधा को राग 'पहाड़ी' और 'यमन' के सूक्ष्म प्रयोग से गरिमामय किया।

तालिका १ : हिन्दी सिने-संगीत के ऐतिहासिक मील के पत्थर एवं भाषाई प्रवृत्तियाँ

कालखण्ड	**प्रमुख तकनीकी/कलात्मक नवाचार**	**प्रधान भाषाई एवं संगीत शैली**	**सन्दर्भ**
१९१३-१९३०	सजीव संगीत	मूक युग, दृश्यात्मकता प्रधान	
१९३१-१९४५	प्रत्यक्ष गायन	सरल हिन्दुस्तानी, उर्दू का प्रभाव	
१९४६-१९६५	पार्श्व गायन का विकास	तत्सम प्रधान, साहित्यिक उर्दू, शास्त्रीय राग	
१९७०-१९८५	पश्चिमी वाद्य एवं इलेक्ट्रॉनिक ध्वनि	बोलचाल की हिन्दुस्तानी, जेज़/रॉक	
१९९०-वर्तमान	डिजिटल ध्वनि एवं वैश्वीकरण	हिंग्लिश (Code-mixing), संकर शैलियाँ	

३. संक्रमण काल : पश्चिमीकरण एवं यथार्थवाद का द्वंद्व : १९७० के दशक में 'एंग्री यंग मैन' के उदय के साथ गीतों की प्रकृति में भारी परिवर्तन आया। आर.डी. बर्मन ने इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्रों, जेज़ (Jazz) और रॉक संगीत का समावेश कर ध्वनि-शिल्प में क्रान्ति ला दी। यह कालखण्ड शास्त्रीय अनुशासनों से मुक्ति और किशोर कुमार की मुक्त गायकी का युग था। अस्सी के दशक में संगीत की गुणवत्ता में ह्रास और 'लाउड' ध्वनियों का वर्चस्व देखा गया, परन्तु इसी दशक के उत्तरार्द्ध में मेलोडी की वापसी ने नब्बे के दशक के रोमाण्टिक युग की आधारशिला रखी। ए. आर. रहमान का 'रोजा' (१९९२) के माध्यम से आगमन एक युगान्तरकारी मोड़ था, जहाँ उन्होंने सूफी, कर्नाटक और वैश्विक धुनों का डिजिटल संश्लेषण प्रस्तुत किया।

४. समाजशास्त्रीय विमर्श : वस्तुकरण एवं 'आइटम नम्बर' : समकालीन सिनेमा में 'आइटम नम्बर' की उपस्थिति एक गम्भीर समाजशास्त्रीय विमर्श का केन्द्र है। लाउरा मुल्वे की 'मेल गेज' (Male Gaze) थ्योरी के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करने पर यह पाया गया है कि ये गीत महिला शरीर को एक 'वस्तु' (Object) के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिनका फिल्म के कथानक से प्राय: कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं होता। शोध संकेत देते हैं कि इन गीतों की अश्लील शब्दावली और मुद्राएँ सम्वेदनहीनता और महिलाओं के वस्तुकरण को बढ़ावा देती हैं।

५. डिजिटल युग : हिंग्लिश एवं स्ट्रीमिंग संस्कृति : २१वीं सदी में 'हिंग्लिश' (हिन्दी-अंग्रेजी संकरण) केवल फैशन नहीं, बल्कि शहरी मध्यम वर्ग की 'सोशल मोबिलिटी' और वैश्विक पहचान का सिनेमाई उपकरण बन गया है। कोड-मिक्सिंग के माध्यम से 'जब वी मेट' और 'एक था टाइगर' जैसे शीर्षक और गीत समकालीन भारत की भाषाई वास्तविकता को दर्शाते हैं।

तकनीकी स्तर पर, डिजिटल स्ट्रीमिंग प्लेटफॉर्म्स (Spotify, YouTube) ने गीतों की संरचना को प्रभावित किया है। '३० सेकण्ड स्किप' व्यवहार के कारण संगीतकारों पर ऐसे गीत बनाने का दबाव बढ़ गया है, जिनमें 'हुक लाइन्स' और 'वायरल' होने वाले हिस्से प्रारम्भ में ही हों। इसके कारण जटिल शास्त्रीय विस्तार और लम्बे संगीत अन्तराल (Interludes) लुप्त होते जा रहे हैं।

श्रवण पैटर्न और 'हुक लाइन' की संस्कृति : डिजिटल प्लेटफॉर्म्स के एल्गोरिदम ने गीतों की संरचना को गहराई से प्रभावित किया है। शोध के अनुसार, स्ट्रीमिंग सेवाओं पर श्रोता अक्सर गीत की शुरुआत के ३० सेकण्ड के भीतर ही उसे 'स्किप' (Skip) कर देते हैं, यदि वह उन्हें तुरन्त प्रभावित नहीं करता। इस व्यवहार के कारण संगीतकारों पर ऐसे गीत बनाने का दबाव बढ़ गया है, जिनमें 'हुक लाइन्स' और 'वायरल' होने वाले हिस्से शुरुआत में ही हों। इसके परिणामस्वरूप; गीतों के बीच में होने वाले लम्बे संगीत अन्तराल और जटिल शास्त्रीय विस्तार अब कम होते जा रहे हैं।

रिमिक्स और मौलिकता का संकट : आज के दौर का एक अन्य प्रमुख रुझान पुराने गीतों का 'रिमिक्स' या 'रिक्रिएशन' करना है। यद्यपि ये गीत नयी पीढ़ी के बीच पुरानी यादों को ताजा करने का कार्य करते हैं, परन्तु इन्हें मौलिक रचनात्मकता के अभाव और व्यावसायिक लाभ के लिए मूल रचना की कलात्मक पवित्रता के साथ खिलवाड़ के रूप में देखा जाता है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) के बढ़ते प्रयोग ने भी संगीत की 'आत्मा' और मानवीय सम्वेदनाओं के प्रति एक नयी चुनौती प्रस्तुत की है, जहाँ एल्गोरिदम आधारित धुनों में वह मौलिक दर्द या खुशी गायब होने का डर है, जो कभी नौशाद या मदन मोहन के संगीत की जान होती थी।

तालिका २ : आधुनिक सिने-संगीत के समाजशास्त्रीय आयाम

आयाम	**समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य**	**प्रभाव**
हिंग्लिश प्रयोग	भाषाई वैश्वीकरण एवं वर्ग पहचान	पारम्परिक भाषाई शुद्धता को चुनौती
आइटम नम्बर	'मेल गेज' एवं वस्तुकरण	पितृसत्तात्मक मानदण्डों का सुदृढ़ीकरण
रिमिक्स संस्कृति	व्यावसायिक नॉस्टेल्जिया	मौलिक रचनात्मकता का संकट
एआई (AI) प्रभाव	तकनीकी नियतत्ववाद	मानवीय सम्वेदना एवं रूहानियत का अभाव

उपसंहार : संगीत की आत्मा और भविष्य का प्रक्षेपवक्र – हिन्दी सिनेमा में गीतों का बदलता स्वरूप भारतीय समाज के सांस्कृतिक और तकनीकी विकास का एक विस्तृत आख्यान है। १९३० के दशक के 'इन्द्रसभा' के ७२ गीतों से लेकर आज के सूक्ष्म 'हिंग्लिश' ट्रिक्स और डिजिटल बीट्स तक, संगीत ने कला और बाजार के बीच एक निरन्तर सन्तुलन बनाने का प्रयास किया है। स्वर्ण युग की साहित्यिक गरिमा और शास्त्रीय आधार आज के 'आइटम नम्बर्स' और 'वायरल हुक्स' के दौर में कहीं पीछे छूटते नजर आते हैं, जो न केवल भाषाई दृष्टि से, बल्कि सामाजिक सम्वेदनशीलता की दृष्टि से भी विचारणीय है।

हालाँकि, ए. आर. रहमान, विशाल भारद्वाज और स्नेहा खानवलकर जैसे संगीतकारों के कार्य यह आशा जगाते हैं कि आधुनिक तकनीक और वैश्विक ध्वनियों के बीच भी भारतीय संगीत की मौलिक जड़ों को जीवित रखा जा सकता है। हिन्दी सिनेमा के गीतों का भविष्य इस बात पर

निर्भर करेगा कि वे बाजार की व्यावसायिक माँगों और कला की शाश्वत गहराई के बीच कितना सामंजस्य बैठा पाते हैं। गीत केवल शब्दों और ध्वनियों का मिश्रण नहीं हैं, बल्कि वे उस राष्ट्र की धड़कन हैं, जिसने मूक परदे पर पहली बार अपनी आवाज पाकर उत्सव मनाया था। साहित्य, समाज और तकनीक का यह त्रिकोण आने वाले समय में भी गीतों के माध्यम से हमारी सामूहिक पहचान को गढ़ता रहेगा।

इस शोध-प्रतिवेदन के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी फिल्म संगीत का बदलता स्वरूप केवल कलात्मक नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन का सूचक है, जिसे समझने के लिए हमें इतिहास की गहराइयों और भविष्य की सम्भावनाओं– दोनों को एक साथ देखना होगा।

निष्कर्ष : हिन्दी सिनेमा में गीतों का बदलता स्वरूप भारतीय समाज के सांस्कृतिक, तकनीकी और भाषाई रूपान्तरण का जीवन्त दर्पण है। जहाँ स्वर्ण युग की साहित्यिक शुचिता ने राष्ट्रवाद और नैतिकता को स्वर दिया, वहीं आधुनिक युग का संकर संगीत वैश्वीकरण और बाजारवाद की चुनौतियों को प्रतिबिम्बित करता है। यद्यपि तकनीक ने उत्पादन को सुगम बनाया है, किन्तु मौलिकता और 'आत्मा' के संरक्षण का प्रश्न आज भी संगीतकारों के समक्ष खड़ा है। साहित्य, समाज और तकनीक का यह त्रिकोण भविष्य में भी सिने-संगीत के स्वरूप को गढ़ता रहेगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ :

१. श. दत्त, (२०२०)– हिन्दी फिल्मों में गीत-संगीत का बदलता चेहरा : हिन्द समय प्रकाशन, नई दिल्ली

२. आर. के. भटनागर (२०१५)– हिन्दी सिनेमा : भाषा और संस्कृति : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

३. य. मिश्रा (२०१६)– लता : सुर-गाथा. : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

४. ला. मुल्वे (१९७५)– विजुअल प्लेजर एण्ड नैरेटिव सिनेमा. स्क्रीन जर्नल, १६(३), ६-१८

५. म. सिंह (२०१८)– भारतीय सिनेमा का स्वर्णिम काल और प्रगतिशील चेतना : अनामिका प्रकाशन, कोलकाता

६. भ. राग (२००७)– धुनों की यात्रा : हिन्दी सिनेमा के संगीतकारों का सफर : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

७. र. द्विवेदी, (२०१४)– बॉलीवुड्स इण्डिया : हिन्दी सिनेमा ऐज़ अ गाइड टू मॉडर्न इण्डिया, रिएक्शन बुक्स

८. अ. कुमार (२०२२)– 'हिन्दी सिनेमा के गीत और पारसी रंगमंच', अपनी माटी; शोध पत्रिका, १५(२)

९. अ. के. पाण्डेय (२०२४)– 'हिन्दी सिनेमा में प्रगतिशील मूल्य और सामाजिक चेतना', साहित्य सेतु, १०(४)

१०. रा. शर्मा (२०२१)– 'इम्पैक्ट ऑफ म्यूजिक स्ट्रीमिंग प्लेटफॉर्म्स ऑन हिन्दी फिल्म सॉग स्ट्रक्चर', इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ एडवांस्ड मल्टीडिसिप्लिनरी साइंटिफिक रिसर्च (IJAMSR), ४(११)

११. सं. गोपाल एवं सु. मूर्ति (२००८)– ग्लोबल बॉलीवुड : ट्रेवल्स ऑफ हिन्दी सांग एण्ड डांस, यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस

१२. फा. मुस्तफा (२०२२)– ऑब्जेक्टिफिकेशन ऑफ वीमेन इन बॉलीवुड आइटम नम्बर्स (अप्रकाशित स्नातक परियोजना), आईबीए कराची

१३. र. वासुदेवन (२०००)– मेकिंग मीनिंग इन इण्डियन सिनेमा, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

१४. सा. जी. थॉमसन (२००१)– लैंग्वेज कांटेक्ट : ऐन इंट्रोडक्शन, एडिनबर्ग यूनिवर्सिटी प्रेस

१५. अ. मोरकॉम (२००७)– हिन्दी फिल्म सांग्स एण्ड द सिनेमा, एशगेट पब्लिशिंग लिमिटेड

●

मध्यप्रदेश के जनजातीय लोकगीतों में अभिव्यक्त स्त्री-स्वर

संस्कृति शर्मा*

शोध-सार– लोक साहित्य का सर्वाधिक व्यापक, प्रिय, प्रसिद्ध, बहुआयामी और प्रचलित रूप लोकगीत है। लोक में व्याप्त जीवन के रंगों व अनुभवों को भावपूर्ण लयात्मक अभिव्यक्ति देना ही लोकगीत का मूल है। लोकगीतों का सृजन एक सामूहिक प्रक्रिया है। किसी समाज में स्त्री की स्थिति को समझने के लिए लोकगीतों में व्यक्त स्त्री-स्वरों से बढ़कर दूसरा कोई अनुकूल माध्यम नहीं हो सकता। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लोकगीतों को संस्कृति का सुखद सन्देश ले जाने वाली कला माना है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी कहा है– ''लोकगीत किसी संस्कृति के मुँह बोले चित्र हैं।''

बीज शब्द– लोक, लोकगीत, सहरिया, घुमंतू जनजाति, बंजारा, बैगा, पुरुष सत्ता।

भारत अनेक जातियों, जनजातियों, धर्मपन्थों, संस्कृतियों और सम्प्रदायों का देश है। हमारी भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जनजातियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जनजाति, जिन्हें हम आदिवासी, भूमिजन आदि अनेक नामों से जानते हैं, भारत के विभिन्न प्रान्तों में निवास करती है। इन्हीं विभिन्न प्रान्तों में मध्यप्रदेश में पायी जाने वाली जनजातियों की संख्या सबसे अधिक मानी जाती है। मध्यप्रदेश में पायी जाने वाली जनजातियों में सहरिया, बैगा, गोंड़, कोल, भारिया, कोरकू, गोवारी आदि प्रमुख हैं। मध्यप्रदेश हिन्दुस्तान का हृदय होने के साथ-साथ कला, संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से भी अत्यधिक समृद्ध रहा है। मध्यप्रदेश के समृद्ध लोकसाहित्य में इन जनजातियों का विशेष योगदान है। प्राचीनकाल से ही मध्यप्रदेश में जनजातीय लोक साहित्य की गौरवशाली परम्परा रही है, जो आज भी मौजूद है।

'लोक' एक समग्र सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अर्थ को वहन करने वाला शब्द है। इसके मूल में सभ्यता के आधुनिक घेरे से दूर रहने वाले जनमानस की जीवन-शैली शामिल है। इतना ही नहीं; इस समाज की आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ, कल्पनाएँ भी इसमें शामिल हैं। लोक साहित्य इन सभी तत्त्वों की पहचान को अभिव्यक्त करता है और उसे लोककण्ठ में स्थापित करता है। वह परम्परा में ढल कर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक थाती के रूप में पहुँचता है। यदि यह कहा जाए, तो सही होगा कि लोक साहित्य लोकजीवन की आन्तरिक और बाह्य प्रक्रियाओं को परम्परा के रूप में उन्मुक्त ढंग से प्रस्तुत करता है तथा यही उसके निर्माण की प्रक्रिया भी है। इस प्रकार से, लोक साहित्य में स्वयं 'लोक' अपने आप को रचता चला जाता है। यही कारण है कि 'लोक साहित्य' के अनेक रूप देखने को मिलते हैं।

मध्यप्रदेश की जनजातियों का लोक साहित्य उन विभिन्न लोक साहित्यों में से एक है, जो इस लोक के कण-कण में रचा-बसा है। मध्यप्रदेश का जनजातीय लोक साहित्य, लोकगीत, लोकनाट्य, लोकचित्रकला व लोकनृत्य अत्यन्त समृद्ध और विविधता से भरा हुआ है। मध्यप्रदेश का जनजातीय लोक साहित्य महज लोकगीत, लोक कथाओं और लोक कहावतों का संग्रह मात्र नहीं, बल्कि आदि से अनन्त काल तक की मानव जीवन-यात्रा का प्रवाह है। मध्यप्रदेश के जनजातीय लोक साहित्य में व्यक्ति की एकांतिक कल्पना नहीं, वरन् समस्त लोक की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति विद्यमान है। इसमें समष्टि के दु:ख-दर्द, उल्लास और व्यवस्था को वाणी देने का प्रयास किया

* शोध छात्रा– हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

गया है। मध्यप्रदेश के इस रचे-बसे साहित्य में भाषागत भिन्नता होते हुए भी भावों का एक स्वर सुनाई पड़ता है। इसी स्वर में अभिव्यक्त सबसे समृद्ध स्वर 'स्त्री-स्वर' जान पड़ता है। जनजातीय लोक साहित्य में अभिव्यक्त गीतों में स्त्री-स्वर की अभिव्यक्ति जिस प्रकार से विद्यमान है, वह देखने योग्य जान पड़ती है। फिर चाहे सहरिया लोकगीत हो या गोंड़ स्त्रियों का रहन-सहन और जीवन या बंजारा स्त्रियों की अभिव्यक्ति। इन सभी जनजातीय लोक साहित्य में अभिव्यक्त स्त्री-स्वर की जब बात की जाए, तो उसमें एक सम्वेदनशील मानव के अन्तःकरण की अभिव्यक्ति व्यक्त पायी जाती है। स्त्रियों द्वारा गाए व बनाए गए लोकगीतों में उनकी भावना, उनती लौकिक रुचियों आदि का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। लोक में उपस्थित यह साहित्य; जन्म से मरण तक का वह साहित्य है, जिसमें स्त्री-मन के अनकहे पहलू खुलते दिखाई पड़ते हैं। ऐसे ही स्वरों मे यदि सहरिया, बैगा, बंजारा, गोंड़ आदि का जिक्र नहीं किया जाए, तो इस विषय पर चर्चा अधूरी होगी।

मध्यप्रदेश के जनजातीय लोकगीतों में अभिव्यक्त स्त्री-स्वरों में सहरिया स्त्रियों के स्वर की बात की जाए, तो हमारे सामने अनेक उदाहरण आते हैं। उनमें से कुछ का जिक्र क्रमानुसार किया गया है। सहरिया जनजाति की नवविवाहिता स्त्री का यह गीत समानता की बात, समानता का हक़ व समान माने जाने की अपेक्षा का गीत है। वैसे तो जनजातीय साहित्य में जीवन के कई रूप अभिव्यक्त हुए, लेकिन उसमें मेरा ध्यान आकर्षित करने वाला स्वर उन स्त्रियों का है, जिन्होंने अपने मन को सहजता से अभिव्यक्त किया है। उदाहरण के तौर पर सहरिया जनजाति का यह गीत देखिए–

'एक चना दो देवली माई साउन आए।
कौन सी बिटिया सासरे माई साउन आए। एक चना....
गोरासी बिटिया सासरे माई साउन आए
को जो लोहवान आई रे माई साउन आए। एक चना...
भुजबल लुआं आई री माई साउन आए
हाथ रचे दोई पाव रचे माई सावन आए। एक चना...'[१]

भावार्थ– अभिव्यक्त गीत में लड़कियाँ स्वयं को एक चने की दूसरी देवली (दाना) बताती हैं तथा यह कहकर माता-पिता को जता रही है कि किसी एक को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं है। जैसे एक चने में दो दाने निकलते हैं, उसी तरह घर में बेटी और बेटा की बराबर हैसियत है।

मध्यप्रदेश की जनजातियों के लोकगीतों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की भागीदारी अधिक देखी गयी है। इसके पीछे के कारण उनकी सामाजिक व सांस्कृतिक स्थितियाँ भी हैं, जिसके चलते स्त्री को अपनी पीड़ा अभिव्यक्त करने के लिए गीतों का सहारा लेना पड़ा है। क्षेत्र चाहे कोई भी हो, समाज चाहे कोई भी हो, स्त्री की स्थिति विचारणीय ही जान पड़ती है। मध्यप्रदेश के जनजातीय समाज में वैसे तो स्त्री-पुरुष– दोनों ही श्रम करके सहयोग से जीवनयापन करते पाए गए हैं, फिर भी; पुरुष प्रधानता पायी जाती है। पूर्णतः अपने पति पर आश्रित न होने पर भी यह स्त्रियाँ सदैव पराश्रित ही रही हैं। मध्यप्रदेश की इन जनजातियों में भी पुत्र और पुत्री में भेद व स्त्री को सन्तान उत्पन्न करने का उपकरण, पति और परिवारीजनों को खुश रखने का साधन व अनेक जिम्मेदारियों से घिरा हुआ ही पाया जाता है। यह स्त्रियाँ विभिन्न अवसरों– तीज, त्योहारों, विवाह समारोह आदि के अवसर पर गाए जाने वाले लोकगीतों में अपने हृदय की सम्वेदनाओं को अभिव्यक्त करती हैं।

जहाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरुष तो जायज-नाजायज, वैध-अवैध के परिणाम की चिन्ता

से मुक्त हो अपने भावों को खुलकर प्रकट कर देता है, वही आज भी स्त्री लज्जा के कारण ऐसा नहीं कर पाती। इन सब मर्यादाओं के बावजूद; मध्यप्रदेश के जनजातीय लोक साहित्य में अभिव्यक्त स्त्री-स्वर उनके मनोरंजक अभिव्यक्ति का मुख्य साधन है, जिसके माध्यम से जनजातीय स्त्रियाँ अपने मन की गाँठों को खोल कर ऋतु एवं त्योहारों से सम्बन्धित गीत गाकर व्यक्त करती हैं।

जनजातीय लोक सहित्य में ऋतुओं का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, जिसमें वर्षा का महत्त्व अद्वितीय है। वर्षा ऋतु सम्बन्धित स्त्री-मन में उत्पन्न 'रसिया गीत' सहरिया टपरियों में अत्यधिक प्रचलित है। इन गीतों में ऋतुओं के वर्णन के साथ-साथ स्त्री की समस्याओं, जैसे– घूँघट अर्थात् पर्दा-प्रथा व छेड़खानी आदि की शिकायतों आदि के स्वर हैं–

'गाड़ी बारे मसक दै बैल, पुरबईया के बादर ऊनये।
कौन बदरिया ऊनई रसिया, कौना बरस गउ मेउ। पुरबईया..,
अग्गिम बदरिया ऊनई रसिया, पच्छिम बरस गउ मेउ। पुरबईया..,
घुँघटा बदरिया ऊनई रसिया, गलुअन बरस गउ मेउ। पुरबईया..,
गलुअन बदरिया ऊनई रसिया, छतियन बरस गउ मेउ। पुरबईया..,
चोली बदरिया ऊनई रसिया, लांगा बरस गउ मेउ। पुरबईया..'[२]

अन्य पितृसत्तात्मक समाज की तरह ही, यहाँ भी स्त्री के जीवन को संतान-उत्पत्ति के आधार पर सार्थक व निरर्थक माना जाता है। प्राण-संकट की स्थिति में भी गर्भ धारण करना, उसके पश्चात् भी स्त्री से अनेक बच्चों की अपेक्षा करना– सामान्य सा है। गर्भावस्था के दौरान स्त्री के प्राण भी संकट की आशंका में झूलते रहते हैं तथा बच्चों के जन्म के साथ जन्मदात्री का जीवन भी पुनर्जीवन माना जाता है। जनजातीय साहित्य में बच्चों के जन्मोत्सव के गीतों में 'सोहर गीत' इसी प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं–

'आज दिन सोने के महाराज, सोने के सब दिन सोने की सब रात
गाउन के गोबर मांगा बड़ी सजनी, डिंग दे आंगन लीपाव महाराज,,,,'[३]

जनजातीय समाज में अपने पिता की सुखद छाया में पाली-पोसी स्त्री जब विवाह कर ससुराल जाती है, तो उसके दु:खद जीवन का प्रारम्भ होना व उसकी इच्छाओं, कामनाओं, आदर-सत्कार के सामने कई प्रश्नचिह्न लग जाते हैं। नए घर में किस-किस के सम्मुख अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखें, छुई-मुई सी लजीली नववधू कुछ समझ नहीं पाती। सास की फटकारें, ससुर की दुत्कारें, ननद के उपालम्भ और देवर-जेठ की मनोहारी इस नववधू को बिलख-बिलख कर रोने के लिए विवश कर देते हैं। मालवा में रहने वाली जनजातीय स्त्रियों द्वारा लोकगीत में उसके जीवन की व्यथा का चित्र तब उभरता है, जब वह एक पुत्र की कामना करती है–

'एक बालूडा के कारणे, / म्हारे ससुराजी बोले बोल
एक बालूडा के कारणे, / म्हारे सासूजी बोले बोल
एक बालूडा के कारणे। / म्हारे जेठानी बोले बोल
माई म्हारे एक बालूडो दे /
एक बालूडा के कारणे / म्हारे जेठ जी बोले बोल
एक बालूडा के कारणे, / म्हारे देवर जी बोले बोल
माई म्हारे एक बालूडो दे /एक बालूडा के कारणे
म्हारे सायबजी लावे लोंडी सौत / माई म्हारे एक बालुडो दे।'[४]

भावार्थ– स्त्री केवल एक पुत्र की कामना करती है। एक पुत्र के न होने के कारण उसे कितने उलाहनें सहने पड़ते हैं। सास-ससुर, जेठ-जेठानी एवं देवर आदि परिवार के सभी व्यक्ति

उसे कोसते हैं। बाँझ होने का दोषारोपण करते हैं। स्त्री इन लोगों के कटु एवं मर्मभेदी व्यंग्य-बाणों को सहने की क्षमता भी धारण कर सकती है। किन्तु उसकी स्थिति उस समय अधिक पीड़ादायिनी हो जाती है, जब उसका पति भी संतान न होने का दोष उस अभागिन के सिर पर मढ़कर, उस बन्धक की सार्वजनिक घोषणा कर, दूसरा विवाह करने की ठान लेता है। बेचारी हतभाग्य स्त्री अपने हृदय की वेदना किससे कहे?

मध्यप्रदेश की घुमन्तू जनजातियों में बंजारा सबसे प्रसिद्ध हैं। सामान्यत: बंजारा जनजाति एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने पूरे परिवार के साथ विचरण करती है। ऐसी स्थिति में, यदि किसी कारणवश बंजारा पुरुष को अपनी स्त्री से दूर रहना पड़ता है, ऐसे में; उस बंजारा स्त्री की वेदना व व्याकुलता को उजागर करता यह लोकगीत–

'छोड़ के मत जाओ / एकली रे बंजारा रे, बंजारा रे
छोड़ के मत जाओ / एकली रे बंजारा रे, बंजारा रे
हाँ दूर देश रे हैं मामला / अब जागो प्यारा रे।
अपना साहेब ने महल बनायी / बंजारा रे, बंजारा रे
अपना साहेब ने महल बनायी / बंजारा रे, बंजारा रे
हाँ गहरी गहरी माहे बीन बजाई / बंजारा रे, बंजारा रे
छोड़ के मत जाओ / एकली रे बंजारा रे, बंजारा रे
हाँ दूर देश रे हैं मामला / अब जागो प्यारा रे।'[५]

मध्यप्रदेश के जनजातीय लोकगीतों के अलावा लोक कथाओं में, जिन्हें सामान्यत: 'लोक द्वारा, लोक के लिए, लोक से कही जाने वाली, माना जाता है– लोक की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा के साथ लोक में उपस्थित रूढ़ियों व समस्याओं का भी विस्तृत वर्णन पाया जाता है। बैगा जनजाति में स्त्रियों द्वारा स्त्रियों को सुनाई जाने वाली 'पाटन पीरा' प्रसिद्ध है, जिसमें वह अपनी आपबीती काव्यात्मक ढंग से व्यक्त करती हैं।

बैगा जनजाति की स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला 'बिलमा नृत्य' एक प्रकार का विवाह-नृत्य है। इस नृत्य को 'बिरहा नृत्य' भी कहते हैं। गाँव से बारात-विदाई में युवक-युवती यह नृत्य बिरहा वियोग में करते हैं। इस नृत्य में पुरुष उछल-उछल कर नृत्य करते हैं व स्त्रियाँ धीरे-धीरे पैर को सरका-सरका कर नृत्य करती हैं, जिसके गीत स्त्रियों द्वारा ही गाये जाते हैं–

'सुर सूरा सूरा सुर पवन चलतु है / मोरे अछेरा सरागा उड़ी जाय।
जा देखी आबे, मोरे अछेरा, / सरागा उड़ी जाय।
हथीले आवय मामा बेटा मोरे / अछेरा सकेल खोंची देय।
सरगा खोंची जाय।'[६]

बैगा जनजाति के 'बाल विहार' गीत उस समय की बाल नवदुल्हनों के भाव की अभिव्यक्ति हैं। यह अभिव्यक्ति उस नादान बालिका की है, जिसको समाज द्वारा जिम्मेदारियों में बाँध दिया गया है, जबकि आज भी उसका मन खेलने-कूदने का है। वह खेलना चाहती हैं– अपने पति की तरह, जो उसी की उम्र का है। पति खेलने-कूदने के लिए स्वतन्त्र है, जबकि बालिका को ऐसी जिम्मेदारियों में बाँधा जा रहा है, जिनको वह समझती भी नहीं है–

'मोरे सईयां तो खेले कूदे रे.. / मोसे भरावे खेत।
मोरे सईयां तो खेले कूदे रे..।'[७]

मध्यप्रदेश और राजस्थान की सीमा से सटे हुए इलाकों में निवास करने वाली सहरिया जनजाति पर मध्यप्रदेश एवं राजस्थान– दोनों की संस्कृतियों का घुला-मिला प्रभाव दिखाई पड़ता

है। सहरिया जनजाति ऐसी जनजातियों में महत्त्वपूर्ण है, जिस पर बाहरी प्रभाव अधिक देखा जाने लगा है। जिस प्रकार पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री-अभिव्यक्ति को कम अवसर प्राप्त होते हैं, वैसे ही; मध्यप्रदेश के अधिकांश जनजातीय समाजों में भी पुरुष प्रधान व्यवस्था ही है, जिसमें स्त्रियों को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के कम अवसर प्राप्त हैं, जहाँ वे अपने आप को पूर्णत: व्यक्त कर सकें। किन्तु मध्यप्रदेश की इन जनजातियों में विवाह के अवसर पर स्त्रियों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। इन गीतों में वे पुरुषसत्ता को ललकारती हैं, अपने आक्रोश को व्यक्त करती हैं। विवाह के अवसर पर सहरिया स्त्रियों द्वारा 'गारियाँ' गायी जाती हैं, जिसमें वह पुरुषों को चुनौती देती हैं। राजस्थान की सीमा पर लगे क्षेत्र में बसने वाले सहरिया जाति में बारात के आगमन पर बारातियों का स्वागत गालियाँ गाकर किया जाता है–

'काला-काला ही आया रे ,,, / गोरो एक ना आयो
बूढ़ो बूढ़ो ही आओ रे ,,, / छोरो एक न आयो
छोटो छोटो ही आयो रे,,, / लांबो एक ना आयो'[८]

अन्य समाजों की तरह मध्यप्रदेश के जनजातीय समाजों में भी पत्नी के रूप में नारी के दो रूप होते हैं– सधवा और विधवा। सधवा स्त्री को समाज में आदर भाव से देखा जाता है। वही सधवा जब विधवा हो जाती है, तो उसकी सामाजिक स्थितियाँ कुछ बदल जाती हैं व उसको हीनता के भाव से देखा जाता है। हालाँकि मध्यप्रदेश की जनजातियों में नाते बिठाने की परम्परा बहुत प्रचलित है, जिसके माध्यम से कुछ विधवा स्त्रियों को सामाजिक यातनाएँ तो नहीं झेलनी पड़तीं, परन्तु अपने ही पति के छोटे या बड़े भाई की पत्नी बनकर रहना पड़ता है, जोकि हमेशा सुलभ व सहजतापूर्ण नहीं होता। ऐसी अनेक स्थितियों का वर्णन मध्यप्रदेश में निवासरत सहरिया, बैगा, गोंड़, अगरिया आदि जनजाति के लोकसाहित्य में मिलता है।

अत: मध्यप्रदेश के जनजातीय लोक साहित्य में अभिव्यक्त स्त्री-स्वर उनकी वेदना, पीड़ा और मनोदशा को मार्मिकता से व्यक्त करता है।

सन्दर्भ-सूची

आधार-ग्रन्थ

१. प्रमोद भार्गव– सहरिया आदिवासी और जीवन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, न्यू दिल्ली
२. डॉ. विवेक शंकर– सहरिया जनजाति का लोक साहित्य, इंडिया बुक हाउस
३. रश्मि श्रीवास्तव– सहरिया जनजाति : साहित्य एवं संस्कृति, आर. जी. ग्रुप
४. डॉ. प्रियंका सिंहल– सहरिया जनजाति : लोक कला एवं संस्कृति, विद्या प्रकाशन
५. मध्यप्रदेश के जनपदीय ऋतु गीत– आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद, भोपाल का प्रकाशन
६. माताप्रसाद गुप्त (संपादक)– लोकगीतों में वेदना और विद्रोह के स्वर
७. वही
८. वही

शोध-पत्रिका :

१. चौमासा– मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय
२. ईसुरी– छत्तीसगढ़

वेबसाइट्स

१. सार्थक सम्वाद
२. हिन्दी समय. कॉम
३. ई पी जी पाठशाला

●

गोपाल सिंह नेपाली के काव्य के सांस्कृतिक आयाम

नितेश कुमार*

सारांश : प्रस्तुत शोध-पत्र लोककण्ठ पर विराजित कवि और गीतकार गोपाल सिंह नेपाली के काव्य में विभिन्न सांस्कृतिक आयामों का अन्वेषण करता है। गोपाल सिंह नेपाली की काव्य-चेतना उस राजनैतिक पृष्ठभूमि की देन है, जब भारत औपनिवेशिक दासता और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद निर्मित नवीन राष्ट्र के रूप में संघर्षरत था। अपनी खोई हुई सांस्कृतिक पहचान पुन: खोज रहे देश को गोपाल सिंह नेपाली के काव्य ने वाणी दी। इस दृष्टि से, उनके 'प्रकृति' और 'प्रेम' की कोमल अनुभूतियों के साथ-साथ राष्ट्र-प्रेम की कविताओं में भी भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्त्व विद्यमान हैं।

'राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना' कवि गोपाल सिंह नेपाली के सांस्कृतिक दृष्टि का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। 'हिमालय' को वे केवल भारत के भौगोलिक हिस्से के रूप में नहीं देखते, बल्कि भारत और भारतीय संस्कृति का रक्षक और प्रहरी मानते हैं–

'गिरिराज हिमालय मेरा है प्रहरी
प्रेमांजलि मेरी सागर की लहरी
मेरी मधुर उमंगें वन की कलियाँ
ये ग्राम-नगर मेरी जीवन-गलियाँ
मैं इसी देश की मिट्टी का पुतला
इसको जिसने कुचला, मुझको कुचला।'[१]

यही मानवीय मूल्य, लोक-संस्कृति, राष्ट्रीय अस्मिता और गरिमा उनकी काव्य-चेतना का प्रस्थान-बिन्दु है। उनकी सांस्कृतिक दृष्टि भारत को अखण्ड राष्ट्र के रूप में देखती है, जो एकता, समता और सद्‌भाव पर आधारित हो–

'अशांति है कि क्रान्ति की नवीन आग चाहिए
स्वराज्य के विधान में नवीन राग चाहिए
कि अर्थ का जमीन का समान भाग चाहिए
समाज पर कभी रहे न व्यक्ति की प्रधानता
मनुष्य माँगता यही, यही मनुष्य मानता
कि हो समाज राज में मनुष्य की समानता।'[२]

स्पष्टत: गोपाल सिंह नेपाली का काव्य भारतीय संस्कृति के उस गौरवशाली पक्षों को उजागर करता है, जो मनुष्य को अपनी जड़ों से जुड़ने और राष्ट्र के प्रति समर्पित होने की प्रेरणा देता है। लोककण्ठ पर विराजित कवि गोपाल सिंह नेपाली के 'भाव' और 'शिल्प' इतने सरल और सहज हैं कि उनका काव्य तुरन्त जन-जन के हृदय तक पहुँचकर विशिष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र गोपाल सिंह नेपाली के इन्हीं सांस्कृतिक आयाम के विविध पक्षों पर प्रकाश डालता है। यह उनकी सांस्कृतिक दृष्टि की प्रासंगिकता को वर्तमान और वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखने का विशेष प्रयास है।

---

* शोधार्थी– हिन्दी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

बीज शब्द : भारतीय संस्कृति, राष्ट्र, राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक चेतना, औपनिवेशिक दासता, राष्ट्रीय अस्मिता और गरिमा।

प्रस्तावना : गोपाल सिंह नेपाली छायावादोत्तर काल के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। छायावादोत्तर काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। इस काल में कविता छायावाद की सूक्ष्मता और वैयक्तिकता की परिधि से निकलकर जन-मानस की भावनाओं और राष्ट्रीय चेतना से जुड़ रही थी। तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ, जिसमें पराधीनता से उत्पन्न निराशा, स्वाधीनता की उत्कट आकांक्षा और स्वाभाविक रूप से जवानी और प्रेम की अनुभूतियाँ आदि इस युग के कवियों को प्रेरणा दे रही थीं। रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक 'काव्य की भूमिका' में संकलित निबन्ध 'छायावादोत्तर काल' के अन्तर्गत छायावादोत्तर काल की प्रवृत्ति और विशेषताओं का गम्भीरता से विश्लेषण किया है। उनके अनुसार, ''छायावादोत्तर काल के कवियों में रहस्यवादी बनकर बोलने की प्रवृत्ति अत्यन्त अल्प है तथा कविता के मुख्य विषय– प्रेम, विरह, प्रकृति तथा समाज और राष्ट्र हो गए हैं।''[३]

छायावादोत्तर काल की ये सभी विशेषताएँ गोपाल सिंह नेपाली के काव्य में व्यापक रूप से विद्यमान हैं। उनका जन्म ११ अगस्त, १९११ ई. को बिहार के बेतिया जिले में हुआ। 'उमंग' (१९३४ ई.), 'पंछी' (१९३४ ई.), 'रागिनी' (१९३५ ई.), 'नीलिमा' (१९३९ ई.), 'पंचमी' (१९४२ ई.), 'नवीन' (१९४४ ई.), 'हिमालय ने पुकारा' (१९६३ ई.) और 'असंकलित रचनाएँ' (२००७ ई.) कवि नेपाली की प्रमुख काव्य-कृतियाँ हैं। उनकी आरम्भिक काव्य-कृतियों में प्रकृति-प्रेम, विरह और यौवन से ओत-प्रोत रचनाएँ अधिक हैं, जबकि उत्तरोत्तर काव्य-कृतियाँ आनुपातिक रूप से राष्ट्रीय चेतना, देश-प्रेम और सामाजिक समस्याओं की चिन्ताओं तथा आदर्श समाज की कल्पनाओं से जुड़ी चिन्ताओं पर अधिक केन्द्रित होती गयी हैं। यह केवल कवि नेपाली की चिन्तन-प्रक्रिया का विकास नहीं, बल्कि उस पूरे युग की चिन्तन-प्रक्रिया के विकास-क्रम को दर्शाता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार, ''आधुनिक कविता के विकास-क्रम में देश-भक्ति, राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चेतना और जन-अस्मिता की पहिचान साहित्य और देश के सम्बन्धों की उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती प्रतिक्रियाएँ हैं।''[४]

यही कारण है कि मानव के सूक्ष्म भाव 'प्रेम' और 'प्रकृति' जैसे कोमल तत्त्वों का चित्रण करने वाले कवि गोपाल सिंह नेपाली की बाद की रचनाएँ देश-प्रेम और राष्ट्रीय चेतना से अधिक प्रेरित हैं–

'अब घिस गईं समाज की तमाम नीतियाँ
अब घिस गईं मनुष्य की अतीत रीतियाँ
हैं दे रहीं चुनौतियाँ तुम्हें कुरीतियाँ
निज राष्ट्र के शरीर के श्रृंगार के लिए
तुम कल्पना करो नवीन कल्पना करो।'[५]

और जब स्वतन्त्रता के बाद देश पर पहली बार युद्ध-संकट जैसी समस्या घिरने की आशंका होती है, तब कवि नेपाली की कलम की धार और तेज हो जाती है। भारत-चीन युद्ध के पहले वे मुम्बई में रहकर फिल्मों के गीत लिखते थे। किन्तु नव-राष्ट्र की राजनीति जब चीन की कूटनीति से भरी चाल नहीं समझ पाता है, तो वे राष्ट्र को जाग्रत करना अपनी जिम्मेदारी समझते हुए कहते हैं–

'है भूल हमारी वह छुरी क्यों न निकाले
तिब्बत को अगर करते न चीन के हवाले
पड़ते न हिमालय के शिखर चोर के पाले
समझा न सितारों ने घटाओं का इशारा
चालीस करोड़ों को हिमालय ने पुकारा।'[६]

देश की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों ने रचनाकार गोपाल सिंह नेपाली को प्रभावित किया। वे राष्ट्र को केवल भौगोलिक परिधि के रूप में नहीं देखते थे, बल्कि जन-जन की समस्या और उनकी पीड़ा को व्यक्तिगत तौर पर अनुभूत करते थे। इस सम्वेदनात्मक दृष्टि के मूल में भारत की संस्कृति का वह व्यापक अर्थ निहित है, जो केवल रीति-रिवाजों या पर्व-त्योहारों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि भारतीय संस्कृति, भाषा, लोक-परम्परा, नैतिक मूल्यों, सह-अस्तित्व, करुणा और सामूहिक जीवन-बोध का जीवन्त समुच्चय बनकर लोगों की चेतना का निर्माण करता है। यही चेतना समाज के अन्तिम व्यक्ति की पीड़ा को अपनी जिम्मेदारी मानने की प्रेरणा कवि को देती है।

दयानिधि मिश्र के अनुसार, ''साहित्य और सांस्कृतिक सम्वेदना– दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। सांस्कृतिक सम्वेदना साहित्य का उत्स होती है और परिणाम भी। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि साहित्य अपना जीवन-रस साहित्य और संस्कृति से ही प्राप्त करता है। साथ ही; कोई रचना समाज में ही पोषित होती है।''[७] कवि नेपाली जन-सरोकारों को राष्ट्र-चेतना का केन्द्र मानते हुए लोकजीवन की वास्तविकताओं में ही राष्ट्र की आत्मा और उसकी सांस्कृतिक सम्वेदना को महत्त्व देते थे। यही कारण है कि उनकी कविताओं को लोककण्ठ में स्थान मिला और वह अपने समय और समाज में लोकप्रियता के शिखर को छू गयी।

औपनिवेशिक काल की पीड़ा, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए क्रान्ति और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् उसकी रक्षा के लिए यदि युद्ध आवश्यक हो, तो दुश्मनों को ललकारने वाले कवि नेपाली का कोमल मन 'प्रेम' और 'प्रकृति' से कभी दूर नहीं हो पाया, बल्कि वह अधिक परिपक्व और व्यापक रूप से अन्तर्वैयक्तिक होकर देश-प्रेम से जुड़ जाता है। अपनी मृत्यु के दो वर्ष पूर्व, १९६० ई. में रचित 'गंगा की धार जवानी' शीर्षक कविता में कवि में यौवन का वही उत्साह देखने को मिलता है, जैसी आरम्भिक रचनाओं में–

'यौवन का नाम रवानी, मौजों में शाम सुहानी
आकाश झुका, लेकिन न रुका, गंगा का बहता पानी।'[८]

'प्रकृति' और 'प्रेम' : 'प्रेम' और 'प्रकृति' भारतीय संस्कृति ही नहीं, बल्कि विश्व के समस्त मानवीय संस्कृति का अहम हिस्सा है, जो मनुष्य को मनुष्य से और मनुष्य को उसके परिवेश से जोड़ती है। भातीय समाज में पूज्य 'प्रकृति' मनुष्य की आस्था और नैतिकता का आधार है, जबकि 'प्रेम' भाव-बोध, नैतिक सम्वेदना और मानवता का। ये समाज को दिशा प्रदान करने के साथ-साथ उसकी चेतना का भी निर्माण करती है।

'प्रेम' और 'प्रकृति' कवि नेपाली की मूल विशेषताएँ हैं, जिसके आधार पर उनका काव्य-संसार आकार ग्रहण करता है। सुमित्रानंदन पंत ने नेपाली की आरम्भिक कविताओं के आधार पर उनकी इन विशेषताओं को रेखांकित किया है। प्रकृति के चितेरे कवि पंत ने खुले कण्ठ से नेपाली के 'प्रेम' और 'प्रकृति-चित्रण' की प्रशंसा करते हुए कहा– ''एक प्रतिभासम्पन्न, उदीयमान

नवयुवक कवि में भावों की जो मादकता, मोहकता, आशा और महत्त्वाकांक्षा की जो उत्तेजना एवं कल्पना की जो आकाशव्यापी उड़ान होनी चाहिए, उससे आपकी रचनाएँ ओत-प्रोत हैं। हरी घास, मौलसिरी मंसूरी की तलहटी, प्रतीक्षा, बेर, युगान्तर, नेपाल आदि कविताएँ मुझे बहुत पसन्द हैं। आपकी 'प्रेम' शीर्षक कविता की अन्तिम चार पंक्तियाँ दुहराए बिना जी नहीं मानता।''[९] उदाहरण के लिए, १९३२ ई. में रचित और नेपाली के पहले काव्य-संग्रह 'उमंग' में संकलित 'प्रतीक्षा' शीर्षक कविता में 'प्रेम' और 'प्रकृति' की अद्भुत बानगी देखिए–

'मिला देख, उड़ता पंछी को तरु में भी घर बार सखी
मिला रात में भी तारों को यौवन का श्रृंगार सखी
मिला मोर को सघन मेघ में छिपा हुआ दिलदार सखी
मिला मधुप को कुंज-कुंज में फूलों का उपहार सखी
क्या न मिलेगा मुझको मेरा चिर-वांछित संसार सखी
इसी प्रतीक्षा में कटते हैं जीवन के दिन चार सखी।'[१०]

कवि नेपाली का प्रकृति-चित्रण रीतिकालीन प्रकृति-चित्रण से भिन्न है। उनके यहाँ प्रकृति केवल नायिका-वर्णन या श्रृंगार-प्रधान न होकर, प्रेम, यौवन, करुणा आदि मानवीय भावों को उत्प्रेरित करने में सहायक और समाज में अपनी स्वतन्त्र सत्ता के रूप में उपस्थित होते हैं। कवि नेपाली यौवन के उमंग का गीत गाते-गाते प्रेम और विरह-वेदना की अभिव्यक्ति के लिए जिस माध्यम का चयन करते हैं, वह आदिकाल से काव्य में प्रेम-विरह अनुभूति के प्रतीक रूप हैं। वे दो 'पक्षी' को पात्र बनाकर खण्डकाव्य 'पंछी' की कथावस्तु बुनते हैं। 'वनराजा' और 'वनरानी' की यह कथा परिचय से शुरू होकर प्रेम के स्फुटन, मिलन, विरह के बाद पुनर्मिलन और विछोह पर समाप्त होती है। स्वाभाविक रूप से इस कथा के परिवेश के केन्द्र में प्रकृति का विस्तृत आँगन है–

'तरुवर के ऊँचे महलों में, पत्तों के आँगन में –
कैसे थे वे दिन सोचो तो, प्यारे मन में!'[११]

इस आँगन में अनेक प्रकृति-तत्त्व और प्राणी हैं। कवि ने इतने विस्तार से उन सबका वर्णन किया है, मानो उन्हें यहाँ 'प्रेम' और 'प्रकृति-चित्रण' के लिए पूरा अवकाश मिल गया हो। इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह कही जा सकती है कि कवि ने 'पंछी' के माध्यम से जिस प्रेम की अभिव्यक्ति की, वह मानवीय प्रेम से भिन्न नहीं है, बल्कि 'पंछी' मानवीय सम्वेदना को अधिक गहराई के साथ उद्भाषित करती है। प्रकृति-तत्त्वों का ऐसा मानवीकरण अद्वितीय है–

'रो-रो ढूँढ़ चुकी राजा को वन के बीच, किनारे,
खर-खर में, निर्झर में, सर में, वन तरुवर में सारे।'[१२]

राष्ट्र और संस्कृति : संस्कृति का निर्माण किसी राष्ट्र के नागरिक, उसकी भाषा, परम्परा, चिन्तन-प्रक्रिया, जीवन-मूल्य और उसकी स्मृति द्वारा होता है। गोपाल सिंह नेपाली राष्ट्र को उसी जीवन्त चेतना के रूप में देखते हैं। उनके लिए राष्ट्र का अर्थ वास्तविक जन-जीवन है और जन-जन की वेदना मानो कवि की अपनी वेदना है–

'टूटी छत के एक छेद से
झाँक रहा बंदी का सावन।'[१३]

संस्कृति की अवधारणा के अनुरूप, राष्ट्र का स्वरूप जन-स्मृतियों से बनता है। कवि

नेपाली उन स्मृतियों को अपनी रचनाओं में दर्ज करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर समाज और राष्ट्र उससे शक्ति ग्रहण करता हैं। कोई राष्ट्र यदि अपनी इन स्मृतियों को विस्मृत करता है, तो उसकी मूल पहचान और संस्कृति क्षीण होने लगती है। औपनिवेशिक काल में भारत अपनी इसी पहचान को पाने के लिए संघर्ष कर रहा था। स्वतन्त्रता के पश्चात् इसके विस्मृत होने की आशंका भर से कवि नेपाली कहते हैं–

'हम थे अभी-अभी गुलाम, यह न भूलना
करना पड़ा हमें सलाम, यह न भूलना
रोते फिरे उमर तमाम, यह न भूलना
था फूट का मिला इनाम, यह न भूलना
बीती गुलामियाँ न लौट आएँ फिर कभी-
तुम भावना भरो, स्वतन्त्र भावना भरो।'[१४]

'हिमालय' को वे भारतीय संस्कृति का रक्षक मानते हैं, जो कभी प्रहरी बनकर देश की रक्षा करता है, तो कभी ढाल बनकर दुश्मनों के सामने खड़ा रहता है। उनकी कविताओं में 'हिमालय' जीवन्त प्रतीक के रूप में उपस्थित होता है। उनके अन्तिम काव्य-संग्रह 'हिमालय ने पुकारा' तक-आते-आते मानो हिमालय भारत का पर्याय ही बन गया हो। यही 'हिमालय' जब कवि के भीतर कोमल अनुभूतियों का संचार करता है, तब कवि नेपाली कहते हैं–

'उस पार हिमालय से झोंका आया
केसर-कस्तूरी-गंध उड़ा लाया।'[१५]

किन्तु, यही प्रतीक अधिक दृढ़ हो जाता है, जब देश पर संकट की आशंका घिरती है। स्वतन्त्रता के लगभग एक दशक पश्चात् ही भारत और चीन के युद्ध की आशंका नए राष्ट्र के प्रति कवि नेपाली की चिन्ता बढ़ाती है। वे अपनी व्यक्तिगत समस्या और चिन्ताओं को त्यागकर राष्ट्र को प्राथमिकता देते हुए, देश के युवाओं को जाग्रत करने निकल पड़ते हैं। वे गीत और कविताओं के माध्यम से ठीक वही काम कर रहे थे, जो सीमा पर देश की सेना। 'इन चीनी लुटेरों को हिमालय से निकालो' शीर्षक कविता में कवि नेपाली कहते हैं–

'हमने ही कभी चीनियों को बुद्ध दिया था
अब युद्ध दो, तलवार का जलवा तो दिखा लो।'[१६]

कवि नेपाली स्वयं को 'वन मैन आर्मी' कहते थे। इस 'वन मैन आर्मी' की कविताओं की गूँज गोलियों के समान इतनी तेज थी कि चीन के पेकिंग रेडियो पर चीनी गोपाल सिंह नेपाली की भर्त्सना करते थे।

गोपाल सिंह नेपाली न केवल दुश्मनों से लड़ रहे थे, बल्कि अपने देश की नीतियों से भी उन्हें शिकायत थी। जवाहरलाल नेहरू और महात्मा गाँधी, जिसे वे देश के नायक मानते थे और उन पर कई कविताएँ लिखी थीं– वर्तमान हालात में राष्ट्र को प्राथमिकता देते हुए, वे उनकी नीतियों पर स्पष्ट रूप से अपनी असहमति जताते हैं। वे चीन के छलावे की दोस्ती के बाद भी प्रधानमन्त्री नेहरू के चीन के प्रति उदार दृष्टि का विरोध करते हैं। इतना ही नहीं, इस परिस्थिति में वे अहिंसा को भी नकार देते हैं, क्योंकि राष्ट्र की रक्षा के लिए यदि युद्ध आवश्यक हो, तो हो–

'इतिहास पढ़ो समझो तो मिलती है यह शिक्षा

होती न अहिंसा से कभी देश की रक्षा।'[१७]

भारत-चीन के युद्ध का परिणाम आज इतिहास और सबक का हिस्सा है। प्रत्येक युद्ध की तरह इस युद्ध में अनेक सैनिकों ने बलिदान दिए। उन शहीदों में तलवार के समान कलम की धार तेज रखने वाले कवि गोपाल सिंह नेपाली का नाम भी शामिल किया जाना चाहिए। भारत-चीन युद्ध के समय देश को जगाते-जगाते कवि नेपाली गहरी नींद सो गए। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' उन्हें शहीद का दर्जा देते हुए कहते हैं कि– ''नेपाली जी चले गए, किन्तु उनकी सेना मौजूद है। यह सेना उनकी कविताओं की सेना है।''[१८]

राष्ट्रीय एकता : भारत की विशेषता उसकी बहुभाषी और बहुधार्मिक संरचना है। भारत जैसे विविधताओं वाले देश में राष्ट्रीय एकता राष्ट्र की पहली आवश्यकता है, जो भिन्न भाषा-भाषी, रीति-रिवाज़, धर्म और मान्यताओं वाले समाजों को एक सूत्र में बाँधती है। गोपाल सिंह नेपाली देश की एकता और स्वतन्त्रता को ज्वलन्त आशा के तौर पर देखते हैं–

'कोटि-कोटि व्यक्ति यहाँ / संघ यहाँ, शक्ति यहाँ
जाति-धर्म भेद न कर / एक राष्ट्र-भक्ति यहाँ।'[१९]

मानवतावाद और न्याय-बोध : गरीबी और हाशिए का मनुष्य गोपाल सिंह नेपाली के काव्य में यथार्थ रूप में उपस्थित होता है। उनके शोषण और असमानता की लड़ाई की अभिव्यक्ति भी कवि नेपाली अपने काव्य के माध्यम से करते है। समाज में फैली असमानता तथा भेद-भाव से अनुभूत होकर वे कहते हैं–

'पतित-दलित मस्तक ऊँचा कर संघर्षों की कथा कहेंगे
और मनुज के लिए मनुज के द्वार खुले-के-खुले रहेंगे।'[२०]

वे मनुष्य की गरिमा को महत्त्व देते हैं तथा पीड़ित, वंचित और उपेक्षित व्यक्ति को राष्ट्र का केन्द्र मानते हैं। इस दृष्टि से करुणा, न्याय और सम्वेदनशीलता केवल व्यक्तिगत गुण नहीं रह जाते, बल्कि वे राष्ट्र के सामासिक-सांस्कृतिक मूल्य बन जाते हैं। कवि नेपाली मानते हैं कि–

'मनुष्य माँगता यही, यही मनुष्य मानता
कि हो समाज-राज में मनुष्य की समानता।'[२१]

यही मानवतावाद और न्याय-बोध उनकी संस्कृति-अवधारणा को और अधिक पुष्ट करती है।

निष्कर्ष : गोपाल सिंह नेपाली अपने युग के प्रतिनिधि और लोकप्रिय कवि रहे हैं। 'गीतों के राजकुमार' कहे जाने वाले कवि नेपाली मंचों से श्रोताओं को अभिभूत कर देते थे। अपने व्यक्तिगत अभावों से मुक्ति पाने के उद्देश्य से मुम्बई की ओर रुख करने के कारण आलोचकों ने उन्हें वह महत्त्व नहीं दिया, जिसके वे हकदार थे, जबकि फिल्मी दुनिया में रहकर भी कवि नेपाली ने हमेशा देश के प्रति अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह किया और जरूरत पड़ने पर फिल्मी दुनिया को छोड़कर, पूरे समर्पण के साथ राष्ट्रीय चेतना और देश-प्रेम की ज्योति जगाने वे निकल पड़े। उन्होंने अंतिम साँस तक एक नागरिक और साहित्यकार की भूमिका का निर्वाह किया। देश की राजनीति और समाज पर हमेशा उनकी पैनी दृष्टि बनी रही और बड़ी निडरता के साथ वे राष्ट्र की संस्कृति की रक्षा करते रहे। उनकी कलम हमेशा स्वाधीन रही। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है–

'तुझ-सा लहरों में बह लेता

तो मैं भी सत्ता गह लेता
ईमान बेचता चलता तो
मैं भी महलों में रह लेता
हर दिल पर झुकती चली मगर,
आँसू वाली नमकीन कलम
मेरा धन है स्वाधीन कलम।'[२२]

नि:सन्देह गोपाल सिंह नेपाली ने कभी अपनी लेखनी से समझौता नहीं किया, चाहे परिस्थिति कितनी ही विषम हो। उनके काव्य में 'प्रकृति-प्रेम', 'देश-प्रेम' और 'राष्ट्रवाद' की अद्भुत अभिव्यक्ति हुई है, जो उन्हें अपने समकालीन कवियों में विशिष्ट स्थान दिलाती है। उनके सम्पूर्ण साहित्य का अवलोकन करने पर वे सामजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा को समृद्ध तथा उसे सम्वेदनात्मक स्तर पर पोषित करते हैं।

सन्दर्भ-सूची

१. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– नवीन, राजकमल प्रकाशन, पृ. ४५
२. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– हिमालय ने पुकारा, राजकमल प्रकाशन, पृ. ९३
३. रामधारी सिंह दिनकर (१९५८)– काव्य की भूमिका, लोकभारती प्रकाशन, पृ. ६१
४. रामस्वरूप चतुर्वेदी (१९९८)– आधुनिक कविता-यात्रा, लोकभारती प्रकाशन, पृ. ६
५. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– नवीन, राजकमल प्रकाशन, पृ. १३
६. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– हिमालय ने पुकारा, राजकमल प्रकाशन, पृ. १८
७. दयानिधि मिश्र, उदयन मिश्र एवं प्रकाश उदय (संपा. २०१७)– हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक संवेदना और मूल्यबोध, वाणी प्रकाशन, पृ. ६
८. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– हिमालय ने पुकारा, राजकमल प्रकाशन, पृ. १०९
९. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– उमंग, राजकमल प्रकाशन, पृ. ८
१०. वही– पृ. ३९
११. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– पंछी, राजकमल प्रकाशन, पृ. १०
१२. वही– पृ. ८१
१३. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– रागिनी, राजकमल प्रकाशन, पृ. ५६
१४. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– हिमालय ने पुकारा, राजकमल प्रकाशन, पृ. ४८
१५. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– नवीन, राजकमल प्रकाशन, पृ. ९४
१६. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– हिमालय ने पुकारा, राजकमल प्रकाशन, पृ. २७
१७. वही– पृ. १९
१८. वही– पृ. ७
१९. वही– पृ. ८४
२०. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– नवीन, राजकमल प्रकाशन, पृ. ४३
२१. गोपाल सिंह नेपाली (२०२५)– हिमालय ने पुकारा, राजकमल प्रकाशन, पृ. ९३
२२. वही– पृ. ९०

●

अदम गोंडवी की ग़ज़लों में भारतीय ग्रामीण परिवेश

शिखा यादव*

प्रस्तावना– हिन्दी ग़ज़ल में अदम गोंडवी ने अपने बेबाक अंदाज़ और कहन शैली से अलग पहचान कायम की है। साहित्यकार जिस समाज और परिवेश में रहता है, उस समाज के रीति-रिवाज, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश का गहरा असर उसकी चेतना पर पड़ता है। अदम गोंडवी तो ग्रामीण परिवेश में ही रचे-बसे थे, तो उनमें भारतीय ग्रामीण परिवेश क्यों ना झाँकता? उनकी ग़ज़लों में एक ओर भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लचीलेपन पर करारी चोट है, तो दूसरी ओर; ग्रामीण परिवेश के दोगलेपन, छल-छद्म युक्त शोषण के नए-नए हथकण्डों पर तीखा प्रहार भी है।

बीज शब्द– ग़ज़ल, ग्रामीण चेतना, राजनीतिक जीवन, ग्रामीण संस्कृति, अलगाव और मुफ़लिसी आदि।

मूल विषय– हिन्दी ग़ज़ल में प्रतिरोध की जो परम्परा दुष्यन्त कुमार ने शुरू की थी, उसे अदम गोंडवी ने एक ऐसे सोपान पर ले जाकर स्थापित किया, जहाँ से जनधर्मी ग़ज़ल की एक नयी और समृद्ध परम्परा विकसित हुई। अदम गोंडवी किसान, मजदूर, दलित, शोषित आदि निम्न तबकों की आवाज थे और उनकी रचनाएँ इन लोगों के दर्द और संघर्ष को अभिव्यक्त करती हैं। अदम गोंडवी की ग़ज़लें सत्ता को चुनौती देती हुई आम जनता से सीधा सम्वाद करती हैं। उन्होंने बड़े ही निकट से ग्रामीण जनता की बदहाली को देखा था। उनकी ग़ज़लों में भारतीय ग्रामीण की बदहाल जनता की व्यथा को स्वर दिया गया है। ऐसे मुखर प्रतिरोधी, क्रान्तिकारीचेता व्यक्तित्व अदम गोंडवी का जन्म २२ अक्टूबर, १९४७ को उत्तर प्रदेश के शूकर क्षेत्र गोण्डा के अट्टा ग्राम में हुआ था। ''वास्तव में; वह जनता के कवि थे। अवाम के शायर थे। दूसरे शब्दों में कहें, तो वह मजदूरों, किसानों और मज़लूमों के सुख-दु:ख के साथी और उनके कवि थे।''[१] अदम गोंडवी ने परम्परा से चली आ रही ग़ज़ल को एक नया आयाम, नया स्वरूप देने का बखूबी कार्य किया। उन्होंने ग़ज़ल को कुछ नए प्रकार से परिभाषित किया। ग़ज़ल की पारम्परिक दृष्टि से अलग रचना-प्रक्रिया, रचना भाव-भूमि और सामाजिक सरोकारों को अलगाते हुए कहा–

'भूख के एहसास को शेरो-सुखन तक ले चलो
या अदब की मुफ़लिसी की अंजुमन तक ले चलो
जो ग़ज़ल माशूक के ज़लवों से वाकिफ़ हो गई
उसे अब बेवा की माथे की शिकन तक ले चलो।'[२]

वह हिन्दी ग़ज़ल को श्रृंगार की परिधि से निकालकर आम जनजीवन से जोड़ते हैं। ग्रामीण जीवन को एक विशेष पारदर्शी चश्मे से देखने वाले अदम गोंडवी ने ग़ज़ल को कुछ अपने अंदाज में गाँव की चौखट तक ले जाने का कार्य किया। इस प्रकार, वह ग़ज़ल को परिभाषित करते हैं–

'ग़ज़ल को ले चलो अब गाँव के दिलकश नज़ारों में
मुसलसल फ़न का दम घुटता है इन अदबी इदारों में

---

* शोध छात्रा– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

न इनमें वो कशिश होगी, न बू होगी, न रानाई
खिलेंगे फूल बेशक लॉन की लंबी कतारों में।'[३]

अदम गोंडवी ने गाँव की पीड़ा को बड़े ही करीब से महसूस किया था। 'समय से मुठभेड़' नामक ग़ज़ल-संग्रह में सर्वहारा और उपेक्षित मनुष्यों के दु:ख-दर्द का आख्यान भरा हुआ है। गाँव का व्यक्ति शहर में जाकर भी बुनियादी जरूरतों से अभावग्रस्त ही है। ऐसे में; गाँव के व्यक्तियों का इतना अभावपूर्ण संघर्षमय जीवन अदम गोंडवी को भीतर से तिलमिला देता है। अब ग़ज़लकार की नज़र गाँव के प्राकृतिक सौन्दर्य को नहीं देख पाती है, बल्कि कवि को गाँव की सुबह खुशनुमा नहीं लगती और पीलिया बीमार पत्नी की काया-सी लगती है–

'घर में ठंडे चूल्हे पर अगर खाली पतीली है
बताओ कैसे लिख दूँ धूप फागुन की नशीली है
भटकती है हमारे गाँव में गूँगी भिखारन-सी
सुबह से फरवरी बीमार पत्नी से भी पीली है।'[४]

अदम का व्यक्तित्व ठेठ देहाती ढंग का है। जिस गाँव में अदम गोंडवी ले चलने की बात करते हैं, वहाँ पर शहर की सभ्यता जैसा अलगाव और अजनबीपन अभी नहीं आ पाया है–

'खुद की लाश अपने कंधे पर उठाए हैं
ऐ शहर के बाशिंदों हम गाँव से आए हैं।'[५]

अदम गोंडवी ने अपनी कविता में न केवल मानवता के दर्द को बयान किया है, अपितु अपनी जमीन व माटी की बू-बास से रू-ब-रू भी कराया है। उनका साहित्य एक ऐसा दर्पण है, जिसमें हम अपने दौर की तल्ख़ सच्चाई एवं इतिहास को देख सकते हैं–

'मानवता का दर्द लिखेंगे / माटी की बू-बास लिखेंगे
हम अपने इस कालखण्ड का / एक नया इतिहास लिखेंगे
सदियों से जो रहे उपेक्षित / श्रीमंतों के हरम सजाकर
उन दलितों की करुण कहानी / मुद्रा से रैदास लिखेंगे।'[६]

''अदम गोंडवी ने दुष्यन्त कुमार के बाद ग़ज़ल को न केवल आगे बढ़ाया, बल्कि उसे खॉटी किसानी व्यक्तित्व भी दिया। उनकी ग़ज़लें हमें आनन्दित करने के बजाए तिलमिलाती और विचलित करती हैं। उनकी ग़ज़लों में हर प्रकार से शोषित होती हुई, कहीं भी मजदूरी और कहीं बेगार करती हुई तथा मार खाती और आँसू पीती हुई भूखी-नंगी जनता की मार्मिक गाथा भी है और ताकत के साथ खड़े हो रहे विद्रोही पुरुष का प्रखर ताप भी। उनमें कबीर-सी फक्कड़ता और ललकार है और वैसा ही बेलाग दरेरा देती हुई भाषा भी। उन्होंने ग़ज़ल को कोठे के जीने से उतार कर गाँव की पगडण्डियों पर चलना सिखाया और उसे जन समस्याओं से स्वयं तो जोड़ा ही, अन्य रचनाकारों को भी इसके लिए प्रेरित किया।''[७] भूख और ईमान पर अदम गोंडवी का एक बहुत प्रभावशाली शेर है। यह महज रोटी ही नहीं, अपितु रोटी की बनने की प्रक्रिया में किसानों की एक-एक पसीने की बूँद की महक उसके ईमान में समाहित है–

'बेचता यूँ ही नहीं है आदमी ईमान को
भूख ले जाती है ऐसे मोड़ पर इंसान को।'[८]

अदम गोंडवी संस्कृति और धर्म के उस पहलू की आलोचना करते हैं, जो धर्म के नाम पर गुमराह करती है। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी है। वह सबके लिए केवल एक धर्म की बात

करते हैं, जो मानवता का हित चाहता है–

'वेद में जिनका हवाला हाशिए पर भी नहीं
वे अभागे आस्था विश्वास लेकर क्या करें
लोकरंजन हो जहाँ शंबूक-वध की आड़ में
उस व्यवस्था का घृणित इतिहास लेकर क्या करें।'[९]

विकास की योजनाओं के नाम पर गाँव का परिवेश खुशहाल एवं वैभव-सम्पन्न दिखाया जाता है। विकास के नाम पर ऑफिस में बैठकर फ़ाइलों में झूठे आँकड़े दर्ज किए जाते हैं। कवि सरकारी दाँव-पेंच पर तंज कसते हुए कहता है–

'तुम्हारी फाइलों में गाँव का मौसम गुलाबी है
मगर यह आँकड़े झूठे हैं ये दावा किताबी है।'[१०]

किसानों को सुविधाएँ मुहैया करवाने के लिए तमाम बहुतेरी योजनाएँ सरकार द्वारा चलायी जाती हैं, परन्तु वह उन तक नहीं पहुँच पातीं। उनकी चमक-धमक महज़ फाइलों तक ही सिमट जाती है। गरीब ज़रूरतमन्दों तक वे अंश मात्र पहुँचती हैं। इसी का बयान ग़ज़लकार के इस शेर के माध्यम से होता है–

'जो उलझ कर रह गई है फाइलों के जाल में
गाँव तक वो रोशनी आएगी कितने साल में।'[११]

अदम गोंडवी की ग़ज़लों में सर्वाधिक जीवन्तता से यदि कोई परिवेश उभर कर सामने आता है, तो वह है– भारत के गाँव-देहातों का। इसी सच्चाई को देखते हुए 'गाँव की ओर लौटो' आदि तमाम नारे लगाए गए थे। हमारा असली भारत गाँवों में बसता है। ग्रामीण जीवन के सुख-दु:ख, दर्द एवं अभावमय जीवन के संघर्ष को पूरी आक्रामकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है–

'प्राकृतिक सौन्दर्य शब्दों की परिधि में टाँक दो
प्रेयसी के सौम्य मुख की छवि ग़ज़ल में आँक दो
किन्तु मेरे गाँव का परिवेश ही अभिशप्त है
आम जनता भुखमरी की धूप में संतप्त है।'[१२]

ग़ज़लकार की विचारधारा के मूल में आमजन है। वह पिछड़ों-शोषितों का उत्थान चाहते हैं। अदम गोंडवी ने गाँव में सामंतों, महाजनों और जमीदारों द्वारा किसानों-मजदूरों पर किए गए अत्याचार और अन्याय को प्रत्यक्ष रूप से देखा है, जिसका यथार्थ अंकन निम्नलिखित है–

'हमारे गाँव का गोबर तुम्हारे लखनऊ में है
जवाबी खत में लिखना किस मोहल्ले का निवासी है।'[१३]

हमारे गाँव की दयनीय स्थितियों पर अदम गोंडवी दु:खी और आक्रोशित होते हैं। वे कहते हैं– आप जब भी हमारे गाँव आएँ, वहाँ भूख और अभाव आपका स्वागत करते हुए मिलेंगे। यह शेर आज के हालात पर तंज से कम नहीं है। अनन्त अभावों में जीते गाँव का दर्दनाक जीवन प्रस्तुत करते हुए अदम कहते हैं–

'फटे कपड़ों में तन ढाके गुजरता हो जहाँ कोई
समझ लेना वह पगडंडी अदम के गाँव जाती है।'[१४]

''इस चुनौतीपूर्ण युग में जब आमजन बहुत परेशान हैं और उन परेशानियों का कारण व्याप्त विसंगतियाँ हैं, तब अदम अपने शेरों के माध्यम से उसका प्रतिकार करते हैं। एक प्रतिबद्ध

ग़ज़लकार के रूप में उन्होंने हिन्दी ग़ज़ल को ठोस जमीन प्रदान की है।''[१५] फुटपाथ पर सोने वालों की लाचारी और बेबसी का बड़ा ही मार्मिक चित्रण ग़ज़लकार करता है–

'कितने बेबस हैं ये फुटपाथ पर सोने वाले।
गो परिंदों को भी घर की तलाश होती है।'[१६]
'आप कहते हैं सरापा गुलमुहर है ज़िंदगी
हम गरीबों की नज़र में इक कहर है ज़िंदगी।'[१७]

धूमिल ने बिल्कुल सही कहा है कि– ''जिंदा रहने के पीछे अगर तर्क सही नहीं है, तुमको रामनामी बेच कर या दलाली करके रोजी कमाने में कोई फर्क नहीं है। रचनाकार पर यह बात गम्भीरता से लागू होती है और इस कसौटी पर अदम गोंडवी भी खरे उतरते हैं। उनकी विचारधारा और जीवन-दर्शन स्पष्ट था। वह हर तरह की समझौतापरस्ती से अलग रहते हुए अपनी मान्यताओं को पूरी तरह से अपनी रचना में जीते हुए दिखते हैं। वह पूरी रचनात्मक ताकत के साथ उन लोगों और उन मूल्यों के साथ खड़े मिलते हैं, जिनके प्रति उनकी सहानुभूति एवं प्रतिबद्धता है। इस सड़ी-गली व्यवस्था को बदलना ही उनका मिशन था और कविता इसके लिए उनके हाथ में एक हथियार थी।''[१८]

'अदिबों की नयी पीढ़ी से मेरी ये गुजारिश है
सँजो कर रक्खें धूमिल की विरासत को करीने से।'[१९]

भारतीय अर्थव्यवस्था का मूल आधार ही कृषि है। ऐसे कृषि प्रधान देश में हमारे देश के अन्नदाता किसान दु:ख झेल रहे हैं। सूखा, बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाएँ उनकी लहलहाती फसल तबाह कर देती है। इन समस्याओं से त्रस्त कृषकों से सेठ-साहूकारों द्वारा उसके जीवन की सुख-शान्ति भी छीन ली जाती है। स्वाधीन भारत के अधिकारियों की देश-सेवा पर दृष्टिपात करें, तो हम पाते हैं कि उनके लिए बाढ़, सूखा आदि दैवी अपदाएँ किसी उत्सव से कम नहीं होती हैं–

'महेज़ तनख्वाह से निपटेंगे क्या नखरे लुगाई के?
हजारों रास्ते हैं सिन्हा साहब की कमाई के।
ये सूखे की निशानी उनके ड्राइंगरूम में देखो।
जो टी.वी. का नया सेट है रखा ऊपर तिपाई के।
मिसेज सिन्हा के हाथों में जो बेमौसम खनकते हैं।
पिछली बाढ़ के तोहफे हैं, ये कंगन कलाई के।।'[२०]

अदम गोंडवी ग़ज़ल को कोठी के जीने से उतारकर, उसके केन्द्र में रोटी को रखकर, मोहब्बत को हाशिये पर रखने की बात करते हैं–

'न महलों की बुलंदी से न लफ्ज़ों के नगीने से
तमद्दुन में निखार आता है घीसू के पसीने से
अभी चर्चा में रोटी है मोहब्बत हाशिये पर है।
उतर आई है ग़ज़ल इस दौर में कोठी के जीने से।'[२१]

अदम गोंडवी यदि अभिव्यक्ति के खतरे उठा सके, तो उसके पीछे उनका निश्छल मन एवं निस्पृह जीवन था। सही मायने में वह जमीन से जुड़े हुए ग़ज़लकार थे। उन्होंने एकदम खाँटी अन्दाज में अपने समय और परिवेश के नग्न यथार्थ को बिना लाग-लपेट के प्रस्तुत किया है।

उनके यहाँ हमारा गँवई समाज बिना आवरण के अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने जो नकाबपोशी शोषक-पूँजीपति ओढ़े हुए हैं, उनका पर्दाफाश किया है–

'रोटी के लिए बिक गई धनिया की आबरू
लमही में प्रेमचंद का होरी उदास है।'[२२]

× × ×

'कहीं फागुन के दिलकश शाम फ़ाकों में गुजर जाए
मेरा दावा है इसके हुश्न का जादू उतर जाए
स्लम बस्ती के बाड़े में अगर इक रात भी ठहरे
अमीरों की हँसी ख्वाबों का शीराजा बिखर जाए।'[२३]

''अदम गोंडवी की ग़ज़लों की एक खास प्रवृत्ति है– व्यंग्य धर्मिता। हर सजग रचनाकार की भाँति अदम की भी दृष्टि देश की प्रत्येक गतिविधि, प्रत्येक घटना पर रहती है। उन्होंने हर घटना के पीछे छिपे कारणों की पड़ताल की है और उन्हें लगा है कि देश की अधिकांश समस्याओं के पीछे नेताओं की स्वार्थ-लिप्सा और उनके काले कारनामे हैं। जनता के आँसुओं के सैलाब में विलासिता के टापुओं का निर्माण करने वाले नेताओं, अधिकारियों और तथाकथित महात्माओं की वास्तविकता तथा इनके बदसूरत और घृणित चेहरे से उन्होंने बखूबी नकाब उठाया है।''[२४] गाँधीवाद को धूल-धूसरित होता देख अदम गोंडवी सपाट लहजें में कहते हैं–

'काजू भुने प्लेट में ह्विस्की गिलास में।
उतरा है रामराज विधायक निवास में।'[२५]

× × ×

'जितने हरामखोर थे कुबी-जवार में।
परधान बनके आ गए अगली कतार में।'[२६]

आज पारिवारिक रिश्ते-नातों में एक प्रकार का तनाव उभरता हुआ दिखाई पड़ रहा है। पारिवारिक विघटन की समस्याएँ बढ़ रही हैं। रिश्तों में आए बिखराव के कारण मनुष्य आज इतना आत्मकेन्द्रित एवं कुण्ठा का शिकार हो गया है कि भाई-भाई से अलग होकर, माता-पिता को छोड़कर, एक अलग आशियाना बनाना चाहता है। अदम गोंडवी रिश्ते-नातों के इन नाजुक सम्बन्धों की पड़ताल करते हैं और इसका मुख्य कारण वर्तमान परिस्थितियों को मानते हैं–

'माँ की ममता बाप की शफ़क्त गरानी खा गई
इसके चलते दो दिलों के बीच बँटवारे हुए।'[२७]

वहीं ग्रामीण बच्चों की दयनीय स्थितियों पर ग़ज़लकार विचार करता है, जैसे–

'अदब का आईना उन तंग गलियों से गुजरता है
जहाँ बचपन सिसकता है लिपट कर माँ के सीने से।'[२८]

बेरोजगार युवाओं के भविष्य को लेकर ग़ज़लकार चिन्तित है–

'जो बदल सकती है इस दुनिया के मौसम का मिजाज़
उस युवा पीढ़ी के चेहरे की हताशा देखिए।'[२९]

''१९८० के दशक में जब हिन्दी कविता के कुछ बड़े कवियों के जीवन और रचनाकर्म की धूम विश्वविद्यालयों में मची थी, तो अदम अपने श्रोताओं और पाठकों को उत्तर भारत के गाँवों की उन तंग गलियों में ले गए, जहाँ दलित जीवन उत्पीड़न का शिकार हो रहा था। उन्होंने

इन गलियों में जीवन के हर सम्भव रूप को देखा और उसे सम्मान दिया। अदम ने अपने श्रोताओं को न्यौता दिया कि वे भी उसके हमराह बनें।''[३०] हमारे समाज में जातिगत वर्ण-व्यवस्था के कारण निम्न तबकों का सदियों से शोषण होता आ रहा है। उनके ऊपर अकारण अन्याय किया जाता रहा है। उन्हें अभाव भरा जीवन जीने को बिवश किया गया, मजबूर किया गया। उनकी बहू-बेटियों के साथ सामंती तथा प्रभुता-सम्पन्न लोगों ने जबरन शारीरिक सम्बन्ध बनाए। दलितों की बहू-बेटियों के साथ सवर्णों द्वारा ऐसे कुकृत्य किए जाते रहे हैं। ऐसा ही एक घिनौना कृत्य 'चमारों की गली' नामक कविता के माध्यम से ग़ज़लकार हमारे समक्ष उद्धृत करता है–

'आइए महसूस करिए ज़िंदगी के ताप को।
मैं चमारों की गली तक ले चलूँगा आपको।
जिस गली में भुखमरी की यातना से ऊबकर
मर गई फुलिया बेचारी कल कुएँ में डूब कर।
घास का गट्ठर लिए आ रही थी खेत से
क्या पता उसको की कोई भेड़िया है घात में।
होनी से अनभिज्ञ कृष्णा बेखबर राहों में थी
मोड़ पर घूमी तो देखा अजनबी बाहों में थी।
दिन तो सरयू के कछारों में था कब का ढल गया
वासना की आग में कौमार्य इसका जल गया।'[३१]

अदम की कविताओं में युगीन अभावग्रस्तता का यथार्थ चित्रण दिखाई पड़ता है। उनकी ग़ज़लों में कहीं मुट्ठी भर दानों को तरसते हुए बच्चों की करुण पुकार है, तो कहीं रोटी के लिए अपनी इज्जत से रोटी की कीमत चुकाने वाली स्त्रियों की हृदय-विदारक चीत्कार भी है। अदम ने अपने युग की आर्थिक विपन्नता का बड़े बेबाक होकर एवं खुलकर वर्णन किया है–

'रोटी कितनी महँगी है ये वो औरत बताएगी
जिसने जिस्म गिरवी रखके ये कीमत चुकाई है।'[३२]

निष्कर्ष– अदम गोंडवी की भाषाई अक्खड़ता में कोई कमी नहीं। उनका भाषाई कलेवर तेज-तर्रार होता है। व्यवस्था के क्रूर और अमानवीय पक्ष पर वह लगातार अपनी धारयुक्त बात रखते हैं। इनकी ग़ज़लों में व्यवस्था पर चोट है। श्रम की महत्ता का प्रतिपादन है। किसान-मजदूर की पक्षधरता है। अदम गोंडवी अत्याचार, शोषण एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध जनता के साथ पूरी ताकत के साथ खड़े दिखाई पड़ते हैं। अदम गोंडवी साम्प्रदायिकता, जातीय विषमता, भ्रष्टाचार, भूख और गरीबी जैसे विषयों पर निरन्तर लिखते रहे और लोगों को जाग्रत करते रहे। भारतीय ग्रामीण किसान की जो पीड़ा है, इसे उन्होंने पूरी तरह से भोगा था, इसलिए शोषण के चेहरे को ठीक ढंग से देख पाते थे। मुफलिसी और बेबसी के गड्ढे में धकेलने वाली शक्तियों को अदम गोंडवी ने अपनी रचनाओं द्वारा सदैव चुनौती दी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. सं. सुशील सीतापुरी– शब्दसत्ता, अदम गोंडवी विशेषांक, अक्टूबर अंक, पार्क रोड, लखनऊ, २०२२, पृ. सं. १०७
२. अदम गोंडवी– समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, २०२२, पृ. सं. ४७

३. वही– पृ. सं. ४३ ४. वही– पृ. सं. ४१
५. वही– पृ. सं. ८० ६. वही– पृ. सं. २७
७. सं. सुशील सीतापुरी– शब्दसत्ता, अदम गोंडवी विशेषांक, अक्टूबर अंक, पार्क रोड, लखनऊ, २०२२, पृ. सं. ३३
८. अदम गोंडवी– समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, २०२२, पृ. सं. ६३
९. वही– पृ. सं. ४५ १०. वही– पृ. सं. ५९
११. वही– पृ. सं. ५० १२. वही– पृ. सं. १०४
१३. वही– पृ. सं. ५५
१४. सं. सुशील सीतापुरी– शब्दसत्ता, अदम गोंडवी विशेषांक, अक्टूबर अंक, पार्क रोड, लखनऊ, २०२२, पृ. सं. ९४
१५. हरेराम नेमा समीप– समकालीन हिन्दी ग़ज़लकार : एक अध्ययन, भावना प्रकाशन, दिल्ली, २०१७, पृ. सं. २७८
१६. अदम गोंडवी– समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, २०२२, पृ. सं. ७४
१७. वही– पृ. सं. ८४
१८. सं. सुशील सीतापुरी– शब्दसत्ता, अदम गोंडवी विशेषांक, अक्टूबर अंक, पार्क रोड, लखनऊ, २०२२, पृ. सं. ११९
१९. अदम गोंडवी– समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, २०२२, पृ. सं. ६८
२०. वही– पृ. सं. ७२ २१. वही– पृ. सं. ६८
२२. वही– पृ. सं. ९१ २३. वही– पृ. सं. ६९
२४. डॉ. वशिष्ठ अनूप– हिन्दी ग़ज़ल का महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००६, पृ. सं. ११७
२५. अदम गोंडवी– समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, २०२२, पृ. सं. ७०
२६. वही– पृ. सं. ७१ २७. वही– पृ. सं. ८६
२८. वही– पृ. सं. ६८ २९. वही– पृ. सं. ३६
३०. सं. सुशील सीतापुरी– शब्दसत्ता, अदम गोंडवी विशेषांक, अक्टूबर अंक, पार्क रोड, लखनऊ, २०२२, पृ. सं. १००
३१. अदम गोंडवी– समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, २०२२, पृ. सं. ९८
३२. वही– पृ. सं. ६४

●

The Influence of Dysfunctional Parenting in Identity Reconstruction Psychoanalytic Study of Jeannette Wall's *The Glass Castle*

Neethu Krishna P[*], Dr. Shibani Chakraverty Aich[**]

Abstract : Behind every young child who believes in himself is a parent who believed first. — Matthew L. Jacobson

Yet, it must be considered that bad parenting is immensely detrimental to a child's personal development;it can be deduced from psychological theories and real-life observations that a parent is the first tutor to a child and the one who helps mould the child's identity, all the more necessitating good parenting for the sound personal development of the child. Jeannette Walls' *The Glass Castle* (2005) is a compelling memoir that talks of a childhood of instability, poverty, and emotional neglect – and how the author and her family discovers the proverbial light at the end of the tunnel. This paper examines how Walls reconstructs trauma and identity through the act of storytelling. A feminist-psychoanalytic approach reveals the complex portrayals of motherhood and the ambivalent bond between Jeannette and her parents, particularly her father's fragile idealism symbolized by the unbuilt "glass castle." By situating the memoir within the broader discourse of the American Dream, the paper further argues that Walls' narrative exposes the illusions of freedom and self-reliance that mask systemic poverty.

Keywords : Parental neglect, Childhood trauma, Emotional abandonment, Coping mechanism, Resilience

Introduction : In *The Glass Castle* (2005), Jeannette Wallsdescribes her difficult upbringing in an unstable household where she was neglected. The author does not shy away from the expressing the severity of the situations she experienced and overcame. A childhood full of hardships led her to crave a way to escape the misery, explaining the prevalent theme of escapism in her writings; she was a woman who was greatly dissatisfied with the deplorable status quo of things. She does discover relief later in her life, as a change in environment and opportunities help her turn her life around. Walls not only makes good use of the opportunities for empowerment that she encounters, but tries to uplift her siblings, her

* Research Scholar- Department of English, Amrita Vishwa Vidyapeetham, Amritapuri, India

** Assistant Professor- Department of English, Amrita Vishwa Vidyapeetham, Amritapuri, India

family, as well.

This paper examines the effects of parenting on the personal, mental development of Walls, as indicated by her writings. A psychoanalytic examination of said writings reveals the contours of her mental development and the development of her unique perspective on all matters related to life. This paper further examines how the narrative style of a memoir helps the author communicate effectively with the reader, and what this style hints at about herself. This paper also examines the social context in which this memoir was possible and scrutinises the validity of the famed 'American Dream' in it.

Parenting and Child Development : This paper holds that the experiences and perspectives of Walls confirm psychological theories mentioned below; her experiencescan be explained within the theories[1]of parenting psychology put forward by those in that field.

Psychologist Diana Baumrind worked extensively on parenting. She divided parenting styles into three: authoritarian, authoritative, and permissive. Maccoby and Martin expanded the list by adding 'neglectful parenting'. Though a later addition, scholars generally group it alongside Baumrind's classifications, and this paper adopts the same view when the theory is mentioned.

Neglectful parenting is when the parents are very uninvolved in the lives of their children (hence why many refer to it as 'uninvolved parenting'). Such parents' interactions with their children are unremarkable and inadequate. Children are bound by no rules, but they conversely receive little affection or care. The children must figure out how to take care of themselves – independence is thrust upon them prematurely. This style of parenting risks placing the children in danger, and perhaps removal from the household should the parents and children find it too difficult to live together.

The consequences of neglectful parenting deserve special attention, expanding on what is mentioned above.The children are likely to become depressed; low responsiveness and low demandingnessnot only deprive the children of stability and affection but also fosters chronic emotional distress and depressive tendencies.The absence of guidance and affection leads to feelings of rejection, loneliness, and worthlessness.They usually struggle to form close relationships. These children might go on to experience failed relationships. All this emotional instability and depression make them more likely to resort to delinquent or hostile behaviour. If that is not the case (or even if that is indeed the case, for a more depressing scenario), then they are more likely to cut themselves off from others, isolating themselves, which is bound to prove harmful in the long run.

I was the only one who seemed to notice that we were slowly sinking. (Walls 165)

Baumrind's conception of uninvolved parenting - marked by very little warmth and control—finds a vivid representation in Rex and Rose Mary Walls. Their neglect forces the children into premature self-reliance, exemplifying Baumrind's argument that the absence of parental structure undermines healthy emotional development. Wallsdescribes how she learned not to depend on her parents for comfort; she realised that the parental figures abdicated their roles. The parenting of Rex and Rose Mary Walls often shows uninvolved or neglectful traits: lack of food, absence of discipline, emotional unavailability, and prioritizing their desires (alcoholism, art) over their children's needs.Yet, Jeannette and her siblings show resilience — aligning with Baumrind's view that neglect can sometimes produce defensive independence, but at a high emotional cost.

By comparison, authoritarian parenting is where the parents exert dictatorial control over their children and are overbearing. These parents expect obedience without protest; the children are voiceless. Punishments are severe. Authoritarian parenting results in children with low self-esteem and indecisiveness. The authoritative style of parenting is typically regarded as the most effective and positive amongst Baumrind's classification. This style provides a balance between structure and independence, thus laying down reasonable limits for the child to develop within. The parents foster trust even whilst maintaining certain strict red lines for their children. It is believed that this style allows the child to gain confidence, the ability to deal with difficulties, and handle responsibility. Permissive parenting is when the parents are lenient enough to impose no rules on their children which might make them unhappy. The parents deal with their children with the same light-heartedness as if they were dealing with a peer or a friend. When a parent lived and languished in an authoritarian household himself or herself, they are more likely to become permissive with the next generation. This style of parenting, however, risks the child developing poor emotional control, more likely to flee from difficulties and becoming overly rebellious in some cases.

Rex Walls' conduct as a parent does not improve things either: atop the generally negligent approach to parenting that he shares with his spouse, for his emotional neglect and irresponsibility are hallmarks of uninvolved parenting,he displays elements of toxic authoritarian parenting. His frequent demands for obedience and submission (to his dominance) ultimately undermine the autonomy of his children, andshould he be dissatisfied, he employs intimidation and emotional outbursts to silence opposition. He does all this under the guise of parenting. For instance, when the author confronts her father about his excessive drinking, he lashes

out at her:

You have to stop drinking, I said.

What the hell do you know? Dad snapped. You think you're better than me?(Walls 266-267)

Here, his reasoning is far from sound.Besides emotional coercion, he indulges in emotional manipulation. This is nothing more than a tool of psychological control for him. He is something of a hypocrite as well, for he makes no effort to bring to reality the things he offers.

It's going to be a great big house, and it's going to be for you kids. You'll see.(Walls 36-38)

Below is an instance of Rex using emotions to prompt his family to toe the line:

Have I ever let you down?(Walls 160-161)

He uses the aforementioned argument on a number of occasions. He essentially burdens his listener with guilt for ever displaying ingratitude for questioning his commitment – commitment which has ironically been non-existent or not substantial. Nonetheless, he pretends to be responsible:

You don't have to be afraid of anything, baby. Not while your old man's around.(Walls 154-156)

The author is usually seen succumbing to the emotional manipulation, as she agrees to endorse his stance that he had done what was required of him as a good parent, despite it being nonsense – emotional manipulation thus becomes a way to control others. Rex is a truly neglectful parent who vents his unresolved emotional baggage on his progeny, without much thought to what consequences would be begot by acting thus. Curiously, he rarely uses profanity in such instances of manipulation. His arguments are faux, but sound civil enough to be valid – and certainly enough to deceive his already battered family.

Feminist Reading : Feminism as an ideology supports the emancipation of women from all shackles imposed by the patriarchy and the wider society. Feminist scholars acknowledge that society has imposed several gender norms on women, for them to follow so that they may 'fit in'. A feminist reading highlights how women resist societal expectations, assert agency, and negotiate survival within male-dominated environments in the memoir.

Rose Mary Walls, Jeannette Walls' mother, livedthe life of a non-conventional woman. She prioritised personal freedom and her art over traditional maternal duties. She was unbothered by societal expectations to be a domestic goddess. This did mean that Walls', the author, had a mother who did not always take good care of her.Notwithstanding, it is beyond doubt that Rose Mary's emboldened attitude influenced her daughter greatly.

Jeannette Walls,as a daughter, negotiates her mother's unconventional parenting and her father's toxic masculinity. She refuses to be subject to the atmosphere of a broken family and chooses to leave, a feminist deed in itself as she did it of her own volition. Readers of the memoir might interpret this as an instance of rebellion. She believes in hard work, education, and places hope in new opportunities. Her mindset is rewarded later in life when she moves to New York and finds stability. As an empowered woman, she seeks to uplift those around her, as the memoir notes her attempts to help her siblings Lori and Brian. When one takes into account her attachment to herbond with the sisters Lori and Maureen specifically, one can reasonable assume that a feminine bond exists between them – something firm enough to be interpreted as female solidarity. The women strive together for deliverance from hardships:

You can't give up. You're going to New York.(Walls238-239)

This fits in with feminist idea of empowerment shared endurance and mutual support, rather than dependence on a man. This aligns with feminist author Robin Morgan claims in her anthology *Sisterhood is Powerful* (1970). Morgan argues that women are connected through common experiences of marginalisation (which Wills and her sister have experienced plenty). Ideally, the marginalised should support each other through difficult times, and empower each other (which she does by taking her sister to New York). The sisterhood is said to become a form of resistance to male dominance and internalised misogyny. For the personal self, the effect of the sisterhood is one of healing.

By narrating her own life through this memoir, she repudiates the passivity expected of her as a woman by patriarchal values. She bluntly describes all the tribulations she endured, and her liberation from such difficulties.

Through the Lens of Psychoanalysis : Psychologist Sigmund Freud's psychoanalysis continues to be influential as a foundational philosophy, despite all the scrutiny and criticism over the years, for many disciplines clinical and academic. His psychoanalytic theory holds that people could be cured by making their motivations conscious. The theory considers that many thoughts and memories hide in the unconscious side of the mind. These thoughts or motivations are formed by a variety of causes, but the most pertinent here would be adversities from childhood. Early life events like the interactions with parents influence one's personality in later life. Repression is when the mind copes with painful thoughts and memories by concealing them.

Walls' parent Rex was an incorrigible alcoholic who contemplated grand schemes, but never set down to work on them. The 'glass castle', which the memoir is named after, is another fantastic conception of his –

representative of his unfulfilled desires and thwarted ambition. This lack of productivity cannot, unfortunately, ascribed be anything else other than his own decisions in life.

Every night I lay awake thinking about how I would leave and never come back, how I would find a better life.(Walls 29)

Wills tolerated the dissatisfaction throughout her early life. She patiently repressed her longing for a better life so that she could focus on what the present meant to her. This urge to escape becomes a repressed remnant from her childhood days – and becomes a central topic within the memoir. This source of 'motivation' persisted with her for a very long time as well.

I promised myself I would never be like my parents. I would work hard, go to school, and make a life for myself far away from the chaos.(Walls 22)

The family further lives an odd lifestyle filled with irony. Rose and Rex are educated, yet do not act in ways befitting the educated. They are sceptical of modern medicine even when they need it. Their love for 'freedom' does not prevent them from being bad at parenting. They are a dysfunctional family despite possessing the means to be better. Their negligence translated into days when their children went with hungry bellies. Irresponsibility on the parents' side could possibly be explained away as a result of their unconscious drives.

Memoir and Reconciliatory Narrative : The memoir distinguishes itself from autobiographies, biographies and other such pieces of writing by focusing on the emotional truth and personal meaning of particular experiences**.** While an autobiography records chronological facts, a memoir is selective, reflective, and interpretive; subjective approach makes memoirs deeply introspective and emotionally charged. It seeks to understand the inner life rather than simply recount events. Memory becomes the central tool. The writer reconstructs the past through the lens of reflection.The purpose is not just to tell what happened, but to make sense of what it meant.Memoirs also differ from biographies because they are told from within, through the writer's own consciousness, rather than by an outside observer.

Unlike fiction, which invents characters and events, memoirs remain grounded in real experience. Literary techniques — such as dialogue, imagery, symbolism, and narrative structure — are used to bring those experiences to life. The blending of truth and a little artistic embellishment allows memoirs to be read like novels while retaining authenticity. Memoirs establish how the author's memories felt, rather than presenting objective, unnegotiable facts.

The American Dream – the Reality : The American Dream is the

notion that any person, regardless of background, can find success through hard work in the USA. It is one of the most recognisable social concepts from the US, and one that is implicitly acknowledged in the memoir for its truthfulness this time; Walls recovers from crippling penury and decides to not pursue a problematic lifestyle like her parents. Walls learnt from her parents' failures, which she intimately experienced as well, and decided to choose a better path in life.She succeeds in turning her life around, resolving her craving for a 'better life'. The memoir suggests that the American Dream had not become an inaccessible daydream for many.It treats this social narrative as a source of motivational force for Walls; it is both an inspiration and a challenge.

Conclusion

The memoir stands as both as a critique of parenting and a testament to the enduring strength of the human spirit. The Glass Castle stands as a powerful exploration of how flawed parenting can both harm and shape a child's development, and how resilience, self-determination, and emotional understanding and its impact on their early life. Despite years of neglect, hunger, and instability, the Walls children emerge as resilient and compassionate adults all by themselves, and amid of their toxic parenting explained above. Walls journey illustrates that even in the presence of toxic authoritarian parenting there dwells a life where children can develop strength, independence and compassion through adversity.

By confronting her past with compassion rather than with rage Jeannette models psychological growth and emotional reconciliation—showing that self-awareness and forgiveness can heal even the deepest wounds of childhood. Additionally, she doesn't hold deep grudges as she helps her parents in their tough times,despite the difficult. She ultimately focuses on what it means to be good human.

Mom stood there in her ragged clothes, her eyes full of excitement and energy, as though she were about to announce some major discovery. I was embarrassed, but I was also filled with a wave of shame and guilt at my own reaction. (Walls3)

Jeannette's willingness to help her parents after her success reveals her growth from a neglected child into a compassionate adult who has broken — yet emotionally reconciled with — her past.Once again, despite her success, she still feels emotional conflict and guilt — showing that her development includes empathy and attachment, not rejection. Maturity and her bitter life experiences shaped her present life that she could see the warmth on their lives.

The memoir concludes on a note of peace:

We'd found a way to make peace with ourselves and with Mom and Dad(Walls 288)

It shows that healing and maturity come not from forgetting the past, but from understanding it.

Jeannette Walls shows that while parenting failures can leave deep scars, they can also ignite or leave a spark for powerful determination to break cycles of dysfunctional parenting;what makes the memoir more impactful is that she transforms her pain into understanding.Further, sheproves that true maturity lies not in forgetting the past, but in transforming it into strength.

Works Cited

- Walls, Jeannette. *The Glass Castle*. 2005. Scribner, 2005.
- Jessup University. "The Psychology behind Different Types of Parenting Styles." *William Jessup University*, 2019, jessup.edu/blog/academic-success/the-psychology-behind-different-types-of-parenting-styles/.
- Lang, Diana. "Baumrind's Parenting Styles Parenting and Family Diversity Issues." *Press Books*, Iowa State University Digital Press, 18 May 2020, iastate.pressbooks.pub/parentingfamilydiversity/chapter/chapter-1-2/.
- Mcleod, Saul. "Sigmund Freud's Theories." *Simply Psychology*, 22 May 2024, www.simplypsychology.org/Sigmund-Freud.html.
- Morgan, Robin. *Sisterhood Is Powerful*. Random House, 1970, pp. 415–512.

Footnotes

1. Needs clarification

●

Conforming to Institutional Life : Institutional Identity, Adaptation and The Internalisation of Norms Among Older Adults in Residential Care

Rakshanda Mayekar*, Dr. Arvind Haldankar**

Abstract : Old-age homes have emerged as important spaces of elder care in the context of population ageing, changing family structures, migration, and declining traditional support systems. Though, institutional care is not only about providing shelter, food, healthcare, and safety; it also involves rules, routines, authority, collective living, and expectations of conformity. This paper examines how older adults conform to the norms of old-age homes and how institutional life reshapes their behaviour, autonomy, and identity. Based on qualitative interviews with 15 elderly residents from private and government old-age homes, the study explores how residents adjust to institutional routines, staff authority, dependence on care, peer influence, religious practices, and shared living arrangements. Using Erving Goffman's concept of the total institution, the paper argues that conformity in old-age homes is not merely passive obedience but a negotiated process shaped by care, dependency, emotional adjustment, and the need for belonging. The findings show that while institutional norms provide stability and security, they may also restrict personal freedom and privacy. At the same time, older adults continue to preserve their dignity and selfhood through memories, friendships, prayer, personal belongings, and small acts of choice.

Keywords : Ageing, Adaptation, Conformity,Institutional Care, Institutional Identity, Older Adults

Introduction : Population ageing has become one of the most significant social transformations of the contemporary world. Rising life expectancy, declining fertility rates, changing family structures, migration, urbanisation, and the weakening of traditional support systems have contributed to a rapid increase in the elderly population and a growing demand for institutional forms of care (United Nations, 2023; World Health Organization, 2020). Consequently, old-age homes have emerged as important sites of elder care across many societies. In countries such as India, where ageing has traditionally been embedded within the moral and cultural framework of family responsibility, the movement of older adults into institutional care represents more than a change in residence. It reflects

* Research Scholar– D.D. Kosambi School of Social Sciences and Behavioural Studies, Goa University

** Associate Professor– Sociology Programme, D.D. Kosambi School of Social Sciences and Behavioural Studies, Goa University

broader transformations in the meanings of ageing, care, dependency, belonging, and identity (Lamb, 2014; Rajan & Mishra, 2011). For many older adults, entry into an old-age home marks the beginning of a new social world governed by rules, routines, collective living, staff authority, and institutional expectations.

Old-age homes are portrayed as spaces that provide protection, shelter, food, healthcare, companionship, and emotional security. Research has shown that institutional care can offer essential support for older adults who experience loneliness, neglect, disability, or inadequate family care. However, these institutions are also spaces of regulation and social control. The elderly resident who enters such a setting does not merely receive care; he or she becomes part of a structured environment where everyday life is organized through fixed schedules, formal rules, behavioural expectations, and shared routines. Meals, medication, sleeping arrangements, visiting hours, recreational activities, hygiene practices, and mobility are regulated by institutional policies. In this sense, institutional care produces not only physical support but also social discipline, requiring residents to adapt to organizational norms in order to maintain order and collective functioning (Foucault, 1977; Gubrium, 1975).

Conformity in old-age homes refers to the process through which elderly residents gradually adapt their behaviour, habits, expectations, and even self-understanding to fit the institutional environment. This conformity may be visible in everyday practices such as eating at prescribed times, following medication schedules, participating in organized activities, sharing living spaces, complying with visiting regulations, and accepting staff instructions. At a deeper level, conformity involves the internalisation of institutional roles and identities. Older adults who previously occupied significant social positions as parents, workers, caregivers, community leaders, or household heads may gradually be redefined primarily as "residents" within the institution. This transformation is sociologically significant because it demonstrates how institutional settings can reshape not only behaviour but also identity and self-perception (Gubrium, 1975; Townsend, 1962).

Erving Goffman's (1961) concept of the "total institution" provides an important theoretical framework for understanding this process. Goffman argued that institutions regulate individuals' lives by placing them under a common authority, organizing daily activities according to predetermined schedules, and separating them from their previous social worlds. Although contemporary old-age homes may not fully resemble total institutions such as prisons or psychiatric hospitals, they exhibit similar characteristics, including collective living arrangements, routine-based care, staff supervision, reduced privacy, and limited autonomy (Goffman, 1961;

Shield, 1988). Through these arrangements, residents learn institutional expectations and gradually perform the role of the "ideal resident." Conformity thus becomes a strategy for adaptation, belonging, and conflict avoidance within the institutional environment.

Nevertheless, conformity should not be understood solely as passive obedience. Contemporary gerontological research emphasizes that older adults remain active agents who negotiate, interpret, and sometimes resist institutional expectations (Gubrium & Holstein, 2000; Kontos, Miller, & Mitchell, 2010). Residents enter old-age homes with established biographies, memories, preferences, values, and identities. Many conform because they depend on the institution for food, shelter, healthcare, safety, and emotional support. Others conform to avoid being labelled difficult or troublesome, or because conformity facilitates acceptance among staff and fellow residents. At the same time, older adults may preserve aspects of their individuality through personal possessions, religious practices, friendships, storytelling, humour, selective participation, and subtle forms of resistance. Such practices demonstrate that institutional life involves ongoing negotiation between organizational control and personal agency.

Therefore, conformity in old-age homes is a complex and multidimensional process. On one hand, institutional norms can provide stability, predictability, care, and a sense of security. Studies have shown that structured environments may enhance well-being among older adults who have experienced social isolation, neglect, or family abandonment (Kane et al., 2007; WHO, 2020). On the other hand, excessive institutional regulation can diminish autonomy, restrict decision-making, and foster dependency. Research on long-term care settings has highlighted concerns regarding loss of privacy, reduced personal choice, and the standardization of care practices (Koren, 2010; Zimmerman et al., 2014). When older adults are expected to conform to rigid routines without adequate recognition of their personal histories and preferences, care may become institutionalized rather than person-centred. In such circumstances, residents may be physically protected yet socially marginalized.

This paper critically examines how older adults conform to the norms of old-age homes and how institutional identities are produced through everyday routines, rules, socialization processes, dependency relationships, and acts of negotiation. It argues that conformity is not merely a matter of rule-following but a broader social process through which institutional structures shape behaviour, belonging, autonomy, and selfhood. By focusing on conformity, the paper moves beyond conventional discussions of old-age homes as spaces of care or loneliness and instead analyses them as organized social environments where ageing is regulated, disciplined, and redefined. Such an approach contributes to a

deeper understanding of the lived experiences of older adults in institutional settings and highlights the importance of developing more humane, dignity-based, and person-centred models of elder care.

Objectives And Methodology

1. To examine the institutional norms and routines followed in old-age homes.

2. To understand how elderly residents adapt to rules related to meals, medication, prayer, recreation, visiting hours, cleanliness, and daily discipline.

3. To analyse how older adults internalize institutional identity after entering old-age homes

The study is based on in-depth interviews with 15 elderly residents living in both private and government old-age homes. The respondents were selected through purposive sampling, as the study required participants who had direct experience of institutional life and could reflect on rules, routines, staff authority, collective living, and personal adjustment. Both male and female residents were included wherever possible to keep the study inclusive and neutral.Primary data was collected through semi-structured interviews, allowing respondents to share their experiences in their own words while also covering common themes such as entry into the old-age home, adjustment to daily schedules, conformity to rules, dependence on care, relationships with staff and other residents, privacy, dignity, autonomy, and preservation of personal identity. The data was analysed through thematic analysis, with major themes emerging around institutional routines, learning rules, staff authority, peer influence, loss of autonomy, institutional identity, negotiation, and resistance. Secondary sources such as books, journal articles, and gerontological studies were used to support the theoretical and conceptual framework, particularly Goffman's concept of total institutions. Ethical care was maintained by ensuring voluntary participation, confidentiality, anonymity, and sensitivity while discussing personal experiences related to ageing, family separation, dependency, and institutional living.

Results and Discussion :

Entry, Emotional Adjustment and Acceptance of Institutional Life

For many elderly residents, entry into an old-age home was experienced as a major emotional and social transition. Moving from one's own home or family environment into an institution created feelings of loneliness, uncertainty, sadness, and displacement. The old-age home was not simply a new place to live; it represented a break from familiar surroundings, family roles, personal freedom, and previous ways of life.

One resident shared:

"In the beginning, I felt very strange to stay in this old age home. At

home I was free, but here everything was new and different. I did not know anyone, and I had to learn how things are done here. I watched others how they do their work."

Another resident said :

"When I first came, I cried for many days. I could not get sleep at night. I felt I had lost my home. Slowly I understood that I have to adjust because now this is my place."

While another Resident said :

" I was forced to stay here, I did not know that I was coming to old age home, I was in hospital for my injury and the next day I know people came to pick me up and drop here, I wanted to go to my home where I lived my whole life but now it's been years I am staying here, this is my new home now"

These narratives show that conformity begins with emotional adjustment. Before elderly residents follow institutional rules, they first have to accept the old-age home as their new social reality. This process is painful because it involves the loss of a familiar world. Many residents had earlier occupied important roles as parents, household heads, spouses, workers, neighbours, or community members. After entering the old-age home, these identities become less visible, and they are increasingly identified as "residents" or "inmates" of the institution.

Erving Goffman's concept of the "mortification of the self" can be appliedin these cases. According to Goffman, when individuals enter institutions, their earlier identities are weakened as they are placed within a new system of rules, routines, and authority. In the case of old-age homes, this mortification is not always harsh or forceful, but it is emotionally significant. The elderly person gradually learns that life must now be lived according to institutional expectations. This adjustment should not be mistaken for complete acceptance. Many residents adjust because they feel they have no other practical option. Their conformity is shaped by age, dependency, lack of family support, illness, widowhood, poverty, or emotional abandonment. Therefore, conformity in old-age homes begins not from free choice, but from the need to survive emotionally and socially within a new environment.

Institutional Routines, Staff Authority and Everyday Discipline

A major finding of the study is that conformity is produced through daily routines and staff supervision. Old-age homes operate through fixed schedules for waking up, bathing, meals, medication, prayer, recreation, rest, and sleep. Residents gradually learn these schedules and begin organizing their lives around institutional time.

One resident explained:

"Here everything has a time. We have to follow the schedule. Tea has

a time, food has a time, medicine has a time. At home I could eat whenever I wanted, but here we have to follow the bell which is rung before every meal, since we share everything, we have restrictions."

Another resident stated :

"If we follow the timings, there is no problem. If we delay, then staff will remind us or another peer member will call out. So now I am used to it."

Staff members and peer members also play an important role in enforcing and normalizing these routines. Residents described following instructions related to medicine, food, hygiene, movement, visiting hours, and participation in activities. Staff authority is usually accepted because staff are seen as caregivers who are responsible for residents' health and safety. The peer members who have spent years in the home also help the newly joined inmates to adjust to the schedule.

Resident from Government home said :

"Sisters (Nurses) tell us what to do. They know our medicines and our health. We listen because they are looking after us. They have all our medicine boxes with them, Nurse will call out to all and we line up to receive our daily medicine dose or sometimes Nurse will come to each of us and give medicine when we are in our dormitory."

These accounts show that institutional discipline does not always appear as control. It appears as care. Residents follow instructions because they believe the staff know what is good for them. This makes institutional authority seem natural and acceptable. Over time, residents begin to regulate themselves. They know when to eat, when to take medicines, when to attend activities, and how to behave in shared spaces. This is how external rules slowly become internal habits.Goffman argued that institutions regulate individuals by organizing everyday life under a common authority. This study supports that view. Institutional time gradually replaces personal time. At home, elderly residents may have had flexibility in their daily lives, but inside the old-age home, personal choice is adjusted to collective order. However, a critical reading is necessary. Routines are not only instruments of control; they may also provide stability and security. For some residents, fixed meal timings, regular medication, and organized activities reduce anxiety and create a sense of safety. Elderly shared common view of the time table, especially those who had no proper facilities back home.

A resident shared :

"After coming to old age home, I am doing better, I Get everything on time. I did not get anything like this at home, here everything is given, so I have no tension, just eat and sleep"

Thus, institutional routines have a double role. They care for the

elderly, but they also discipline them. They provide order, but they reduce spontaneity. They protect residents, but they also limit freedom. This dual nature of care and control is central to understanding conformity in old-age homes.

Dependence, Loss of Autonomy and Silent Conformity

Dependence emerged as one of the strongest reasons for conformity. Many elderly residents depended on the institution for food, shelter, healthcare, medication, safety, emotional support, and daily care. Because of this dependence, they avoided conflict, complaints, or open resistance. They felt that since the institution was caring for them, they should cooperate with staff and follow rules.

There were similar responses from residents of government and private home, some said:

"They are giving us food, medicine and taking care of us. So, we should also listen to them. If we argue, what is the use? They will not do our work or hesitate to do."

"At this age, where will I go? I have to adjust here only. So, I don't complain much. I am happy with what they give me; they give me care and food."

Residents also expressed that institutional life reduced their personal freedom and privacy. Shared rooms, common dining, fixed schedules, and the need to inform staff about movement made many residents feel that their personal choices had become limited.

Residents expressed :

"At home, I had my own room, my own things, my own way. Here we have to share everything. Even clothes. We cannot live exactly as we want. We have to take permission. Even if I want soap, I have to ask to the in charge for it."

"We are safe here, but freedom is less. We have to ask or inform if we want something. I get tempted to eat something but whom to tell, I suppress my desires."

These findings reveal a major contradiction of institutional care. Old-age homes provide safety, food, shelter, and healthcare, but this support comes with a reduction in autonomy. The elderly resident may be physically protected but socially restricted. This creates what can be called "silent conformity." Residents may not openly resist rules because they are dependent on the institution and may fear being labelled difficult, ungrateful, or troublesome.

From a critical sociological perspective, this is important because care can also become a form of power. The institution may not use direct force, but dependence itself creates compliance. Residents may suppress dissatisfaction because they do not want to disturb their relationship with

caregivers or risk losing emotional support. In such situations, conformity should not be understood as complete agreement. It may reflect vulnerability, gratitude, fear, resignation, or lack of alternatives.

This theme also complicates Goffman's theory. Goffman's total institution framework helps explain how institutions reduce personal autonomy. However, in old-age homes, power is softer and more emotional. It operates through care, dependency, gratitude, and protection rather than punishment. Therefore, conformity in old-age homes is not always imposed; it is produced through the elderly person's awareness that they need the institution.

Collective Living, Religion and Moral Socialization

Conformity in old-age homes is not shaped only by staff and rules. It is also shaped by other residents and collective activities. New residents learn institutional norms by observing long-term residents. They notice when others go for meals, where they sit, how they interact with staff, when they attend prayer, and how they behave in shared spaces.

One resident said :

"When I came here, I watched others. They knew when to go for food, when to pray, where to sit. I also started doing like them. They also helped me in the beginning by telling me what to do and what not to do in this home"

Another respondent shared :

"If everyone is going for prayer or activity, you also feel like going. Otherwise, you feel alone. It's a group task here, we all eat together, pray together, have medicines together, and watch tv together, there is not individual activity here, whatever we do we all do it together, we are family here."

These narratives show that residents themselves become agents of socialization. They teach newcomers how to behave, sometimes directly and sometimes indirectly. Peer influence encourages conformity because residents want companionship and acceptance. In an old-age home, where loneliness is common, belonging becomes very important. To avoid isolation, residents may participate in group activities even when they are not personally interested. It was visible that staying together for long time, gives them "we" feeling. They form their own groups, call each other with names that shows bonds between them and care for each other.

Prayer also emerged as important parts of collective institutional life. Many residents found comfort in prayer, especially when dealing with loneliness, illness, ageing, and separation from family. Spirituality therefore has a dual role. On one hand, it provides emotional support, hope, peace, and social bonding. On the other hand, it can also become part of institutional discipline when participation becomes expected. Collective

prayer may create solidarity, but it may also create pressure to conform to the moral culture of the institution.

This theme extends Goffman's framework. Goffman focused mainly on authority, rules, and institutional routines, but this study shows that conformity is also created through peer relationships and moral practices. Residents conform not only because staff tell them to do so, but also because group life creates expectations. Collective living produces its own informal rules. Religion, prayer, and group activities become ways through which institutional belonging is created.Collective life can be both healing and limiting. It reduces loneliness and creates social support, but it can also pressure residents to behave in expected ways. Therefore, old-age homes should ensure that participation in prayer, recreation, or group routines remains meaningful and voluntary rather than compulsory.

Institutional Identity, Negotiation and Preservation of Self

One of the most important findings of the study is that institutional life gradually reshapes the identity of elderly residents. Over time, many residents begin to understand themselves through their position in the old-age home. Their earlier identities as parents, spouses, workers, neighbours, or household heads become less visible in everyday institutional life. They are increasingly known as "residents" of the institution.

"Now people know me as staying in this home. Earlier I had my family and house. Now this is my identity. Here when neighbours pass by, they hello me, ask about my health, if they do not see me outside, they will inquire, this home has created new identity for me. "

This accounts strongly support Goffman's argument that institutions do not only regulate behaviour; they also reshape identity. The institution gives residents a new role, a new routine, and a new social position. Through repeated participation in institutional life, residents gradually internalize the identity of being an inmate or resident.

However, the findings also show that institutional identity is never complete. Residents continue to hold on to their past through memories, photographs, personal belongings, religious practices, friendships, and stories. Many elderly residents followed major institutional rules but preserved small spaces of personal choice.

"I follow the rules, but some things I do in my own way. I keep my photos and small things near me. That makes me feel I am still myself. I also have memories of my past life which I remember at night, I get flashback who I was and what I did, I have one saree which is kept in a box in a separate room of this institution, I wear it when there is any religious day, or any celebration, it makes me feel who I am"

"There are some events that happen, some schools or NGOs come to do some activity, if I do not feel good, I do not participate."

These quotes show that conformity and resistance exist together. Residents may obey institutional rules, but they also protect their individuality in small ways. They may not openly challenge the institution, but they create personal spaces of dignity. Keeping photographs, choosing friends, sitting alone, refusing some activities, remembering family life, or maintaining religious habits become subtle ways of preserving the self.

This finding is important because it prevents a one-sided reading of Goffman. Goffman is useful for explaining how institutions shape identity, but the experiences of elderly residents show that institutional control is never total. Older adults are not empty subjects who simply become institutional products. They remain active social actors with memories, emotions, preferences, and personal histories.

Overall, the findings reveal that conformity among older adults in old-age homes is a complex process of negotiated adaptation. Elderly residents conform not simply because they accept institutional rules, but because the institution becomes an important source of security, care, stability, food, shelter, emotional support, and belonging. In later life, especially when older adults experience illness, dependency, loneliness, family separation, or lack of alternatives, the old-age home becomes a necessary space of survival. As a result, residents often adjust to routines, staff authority, collective living, and institutional expectations even when these may reduce their personal freedom, privacy, or autonomy. Their silence or cooperation should therefore not always be understood as satisfaction. It may also reflect resignation, gratitude, fear of conflict, emotional obligation, or the feeling that there is no better option available.

Goffman's theory of total institutions provides a useful framework for understanding how old-age homes reshape the everyday lives and identities of residents. Through fixed routines, common authority, collective living, institutional categorization, and staff supervision, residents gradually learn to behave according to institutional expectations. In this sense, conformity is not only behavioural but also linked to identity formation. Older adults who once occupied roles as parents, workers, household heads, spouses, neighbours, or community members are gradually redefined as residents or inmates of the institution. However, the findings also show that old-age homes are not exactly like the coercive institutions described by Goffman. They are spaces where care and control, support and discipline, protection and restriction operate together. Institutional conformity in old-age homes is therefore gentle but powerful, as it often works through dependence, routine, gratitude, and the need to belong rather than through punishment or force.

At the same time, the study shows that older adults are not passive subjects of institutional life. Even while following rules and adjusting to

institutional routines, they continue to preserve their selfhood through small acts of choice, memories, prayer, friendships, personal belongings, selective participation, and emotional attachment to their past lives. This challenges a strict application of Goffman's theory, because institutional control is never complete. Conformity and agency exist together. Older adults may become institutional residents, but they do not fully lose their earlier selves. Therefore, conformity in old-age homes should be understood not merely as obedience, but as an ongoing process through which elderly residents adjust to institutional life while continuously negotiating dignity, identity, autonomy, and self-expression. These findings highlight the need for more person-centred models of elder care that recognize older adults not merely as residents or inmates, but as individuals with biographies, emotions, preferences, rights, and continuing social worth.

Conclusion : This paper shows that conformity among older adults in old-age homes is not a simple process of obeying institutional rules, but a gradual and complex form of adjustment to institutional life. Elderly residents conform through daily routines, staff authority, dependence on care, collective living, religious practices, and the emotional need for security and belonging. Goffman's concept of the total institution is useful in understanding how old-age homes shape behaviour and institutional identity through schedules, rules, supervision, and collective living. Many residents adjust silently because of dependency, lack of alternatives, or the desire to avoid conflict. Yet, older adults are not passive inmates. They continue to preserve their selfhood through memories, personal belongings, friendships, prayer, selective participation, and small acts of choice. Therefore, conformity in old-age homes should be understood as negotiated adaptation, where elderly residents balance institutional expectations with dignity, identity, and agency.

References

- Foucault, M. (1977). *Discipline and Punish: The Birth of the Prison*. New York: Pantheon Books.
- Goffman, E. (1961). *Asylums: Essays on the Social Situation of Mental Patients and Other Inmates*. New York: Anchor Books.
- Gubrium, J. F. (1975). *Living and Dying at Murray Manor*. St. Martin's Press.
- Gubrium, J. F., & Holstein, J. A. (2000). *Aging and Everyday Life*. Oxford: Blackwell.
- Kane, R. A., Lum, T. Y., Cutler, L. J., Degenholtz, H. B., & Yu, T. C. (2007). Resident outcomes in small-house nursing homes: A longitudinal evaluation. *Journal of the American Geriatrics Society, 55*(6), 832–839.

- Kontos, P. C., Miller, K. L., & Mitchell, G. J. (2010). Neglecting the importance of the decision making and care regimes of personal support workers: A critique of standardization of care planning through the RAI/MDS. *The Gerontologist, 50*(3), 352–362.
- Koren, M. J. (2010). Person-centered care for nursing home residents: The culture-change movement. *Health Affairs, 29*(2), 312–317.
- Lamb, S. (2014). Permanent personhood or meaningful decline? Toward a critical anthropology of successful aging. *Journal of Aging Studies, 29*, 41–52.
- Rajan, S. I., & Mishra, U. S. (2011). *India's Elderly: Burden or Challenge?*Sage.
- Shield, R. R. (1988). Uneasy endings: Daily life in an American nursing home. Cornell.
- Townsend, P. (1962). *The Last Refuge: A Survey of Residential Institutions and Homes for the Aged in England and Wales*. Routledge.
- United Nations. (2023). *World Social Report 2023: Leaving No One Behind in an Ageing World*. New York: United Nations.
- World Health Organization. (2020). *Decade of Healthy Ageing: Baseline Report*. Geneva: WHO.
- Zimmerman, S., Shier, V., & Saliba, D. (2014). Transforming nursing home culture: Evidence for practice and policy. *The Gerontologist, 54*(Suppl. 1), S1–S5.

●

Globalisation and the New Margins : Rethinking Social Exclusion in Contemporary India

Dr. Akhilesh Kumar Rai*

Abstract : Globalisation has significantly shaped contemporary social, economic, and political transformations worldwide. In India, it accelerated after the 1991 economic reforms, integrating the country into the global economy through liberalisation, privatisation, and expanded trade. While globalisation has driven economic growth, technological advancement, and new opportunities, it has also produced uneven outcomes and deepened existing inequalities. This paper examines the relationship between globalisation and social exclusion in India, focusing on how it interacts with structural inequalities such as caste, class, gender, and regional disparities. It analyses key areas including labour market changes, rural-urban divides, informalisation of work, and access to education. The study finds that globalisation creates both opportunities and vulnerabilities, often reinforcing existing hierarchies while generating new inequalities. It concludes that inclusive policies, social protection, and equitable resource access are essential for ensuring broader benefits.

Keywords: Globalisation, Social Exclusion, Inequality, Rural India, Informal Economy, Social Stratification, Inclusive Development

I. Introduction : Globalisation has emerged as one of the most influential forces shaping the contemporary world. Rapid advancements in communication, transportation, and economic integration have transformed the ways societies interact and connect with each other. Broadly, globalisation refers to the increasing interconnectedness and interdependence of nations through the movement of capital, goods, services, technology, information, and people across national boundaries. This process has affected not only economic systems but also social relations, cultural exchanges, and political institutions. Sociologically, globalisation is understood as a multidimensional process that restructures societies and alters patterns of interaction at local, national, and global levels.

According to Anthony Giddens, globalisation can be defined as the intensification of worldwide social relations that connect distant localities in such a way that events in one place are shaped by developments occurring far away and vice versa (Giddens, 2009, p. 76). The expansion of global markets, technological innovation, and transnational institutions has accelerated these global interactions, making globalisation a central feature

* Associate Professor of Sociology– Vasant Kanya Mahavidyalaya, Kamachha, Varanasi, U.P.

of modern social life. Keniichi Ohmaes calls it ‘the borderless world’ in which life go beyond the constraints of the traditional nation-state (Ohmaes,1990). Malcolm Waters finds globalisation as a social process in which constraints of geography on social and cultural arrangements recede and in which people become increasingly aware that they are receding (Waters, 1995). For him, globalisation merely implies greater connectedness and de-territorialisation. According to Marshal Mcluhan (1964) due to these entire phenomena the world has become a ‘Global Village’.

In India, globalisation accelerated with the 1991 economic reforms, as policies of liberalisation, privatisation, and globalisation (LPG) opened the economy to global markets and foreign investment, leading to significant economic growth and structural transformation, particularly in sectors such as information technology, telecommunications, finance, and services. These changes contributed to the rise of a new middle class and created opportunities for employment, entrepreneurship, and technological advancement. However, the benefits of globalisation have been unevenly distributed, with some groups gaining access to new opportunities while others remain marginalised. Scholars argue that globalisation often reinforces existing inequalities, and Bauman notes that it creates a divide between those who can participate in global networks and those who are excluded (Bauman, 1998, p. 5). In India, this divide is shaped by caste, class, gender, and regional disparities, which globalisation often intensifies.

The concept of social exclusion provides an important framework for understanding these disparities. Social exclusion refers to processes through which individuals or groups are systematically prevented from fully participating in economic, social, political, and cultural life. According to Silver social exclusion is multidimensional process of progressive social rapture, detaching groups and individuals from social relation and institutions and preventing them from full participation in the formal, normatively prescribed activities of the society in which they live (Silver, 2003, p.5). Amartya Sen explains that social exclusion involves both the deprivation of opportunities and the denial of capabilities necessary for individuals to live meaningful lives (Sen, 2000, p. 7). Hence, social exclusion is not only an economic issue but also a broader social phenomenon affecting participation in society.

Social exclusion is strongly influenced by structural inequalities prevailed in Indian society. The rural-urban divide is particularly significant, as globalisation-driven development has mainly benefited urban areas. A large share of the workforce remains in the informal sector, characterised by low wages, insecure employment, and lack of social

protection. Gender inequality further shapes these outcomes, as many women face barriers due to patriarchal norms, unequal educational access, and domestic responsibilities, leading to their concentration in low-paying jobs.

At the same time, globalisation has created opportunities for social change and empowerment. The spread of communication technologies and digital platforms has improved access to information and education. Civil society organisations and grassroots movements have used these tools to advocate for social justice and inclusive development. Initiatives such as microfinance programmes and women's self-help groups have also helped marginalised communities to participate more actively in the economy.

Overall, globalisation in India presents complex and contradictory outcomes. While it has contributed to economic growth and new opportunities, it has also reinforced existing social inequalities. Therefore, it is essential to examine globalisation not only as an economic process but also as a social phenomenon that reshapes power relations and patterns of inclusion and exclusion.

This study aims to explore the relationship between globalisation and social exclusion in contemporary India and to understand how global economic integration interact with existing social structures to influence inequality and marginalisation. As research methodology, this study adopts a qualitative and analytical research design to examine the relationship between globalisation and social exclusion in contemporary India. The research primarily relies on secondary data sources to analyse sociological patterns of inequality and marginalisation emerging in the context of globalisation.

II. Theoretical Framework : Understanding the relationship between globalisation and social inequality requires an integrated theoretical approach. Pierre Bourdieu's theory of capital provides a foundational lens for analysing how inequalities are reproduced within societies. Bourdieu identifies economic, cultural, and social capital as key resources that shape individuals' access to opportunities (Bourdieu, 1986, p. 248). These forms of capital are unevenly distributed, enabling individuals from privileged backgrounds to succeed more easily within educational and professional institutions, while marginalised groups face structural barriers to social mobility.

In the context of globalisation, this unequal distribution of capital explains why certain groups are better positioned to benefit from expanding economic opportunities. Individuals with higher education, skills, and networks are more likely to access global labour markets, whereas those lacking such capital often remain excluded.

Complementing this perspective, Amartya Sen's capability approach

shifts the focus from resources to real freedoms. Sen argues that development should be measured by individuals' capabilities to achieve valued ways of living rather than by economic growth alone (Sen, 2000, p. 10). Social exclusion occurs when individuals lack access to essential capabilities such as education, healthcare, and participation in social and political life. In this sense, exclusion is both a cause and an outcome of inequality. Even in a globalising economy, increased national income does not automatically translate into improved well-being for all, as marginalised groups may continue to experience deprivation.

Anthony Giddens further broadens the analysis by conceptualising globalisation as a transformative process driven by technological advancement, market expansion, and intensified global communication (Giddens, 2009, p. 76). These processes reshape social and economic structures, creating new forms of interconnectedness. However, Giddens emphasises that globalisation produces uneven outcomes, generating opportunities for some while increasing insecurity and marginalisation for others.

This unevenness is further elaborated by Manuel Castells through the concept of the "network society." Castells argues that globalisation is increasingly organised through networks of information, capital, and technology (Castells, 2010, p. 32). Access to these networks depends on technological infrastructure, education, and digital skills. Consequently, individuals and communities lacking such access risk exclusion, leading to new forms of inequality in the digital age.

At a macro level, Immanuel Wallerstein's world-systems theory situates these dynamics within a global economic hierarchy divided into core, semi-peripheral, and peripheral regions (Wallerstein, 2004, p. 23). Core regions dominate advanced industries and global finance, while peripheral regions remain dependent on supplying raw materials and labour. This structure perpetuates uneven development and economic dependency. Although India has become an important global economic actor, many of its rural and marginalised regions continue to occupy peripheral positions within both national and global systems.

Together, these theoretical perspectives provide a comprehensive framework for understanding how globalisation interacts with existing social structures such as caste, class, gender, and regional disparities in India. They collectively highlight that globalisation does not operate in a vacuum but is mediated by unequal distributions of capital, capabilities, and access to networks, thereby reinforcing existing patterns of inequality.

III. Caste, Globalisation and Social Exclusion : Caste has historically been one of the most significant structures of social stratification in India. It shapes access to resources, opportunities, and

social status, and continues to influence patterns of inequality in contemporary Indian society. Despite constitutional provisions aimed at promoting equality and prohibiting caste-based discrimination, caste hierarchies remain deeply embedded in social, economic, and political institutions. In the era of globalisation, the relationship between caste and social exclusion has become more complex, as economic transformation interacts with traditional social structures.

The caste system traditionally organised Indian society into hierarchical groups that determined individuals' occupations, social status, and patterns of social interaction. Historically marginalised groups were subjected to various forms of social discrimination, including restrictions on access to education, land ownership, and participation in social institutions. Although legal reforms and affirmative action policies have aimed to address these inequalities, caste-based disparities continue to influence social mobility and economic opportunities.

The process of globalisation has created both opportunities and challenges for marginalised caste groups. On one hand, economic liberalisation and the expansion of new industries have generated employment opportunities that are less directly tied to traditional caste-based occupations. Urbanisation, industrialisation, and the growth of service sectors have weakened some aspects of traditional caste hierarchies by introducing new forms of economic activity. However, sociological research suggests that caste continues to influence access to education, employment, and social networks. Deshpande argues that caste remains a crucial factor in determining individuals' opportunities within the labor market and educational system (Deshpande, 2011, p. 95). While globalisation has created new sectors such as information technology and corporate services, entry into these sectors often requires higher education, professional training, and social capital. Marginalised caste groups frequently face barriers in accessing these resources, limiting their ability to benefit fully from globalisation (Thorat & Thorat, 2025).

The concept of social capital is also relevant in understanding caste-based exclusion in the globalising economy. Social networks often influence employment opportunities, access to information, and professional advancement. Bourdieu emphasises that social capital consists of networks of relationships that provide individuals with access to resources and opportunities (Bourdieu, 1986, p. 249). In many cases, privileged caste groups possess stronger social networks and institutional connections, which facilitate their entry into high-status occupations and economic opportunities created by globalisation.

Another important dimension of caste-based exclusion relates to labor markets. Although globalisation has expanded employment

opportunities in certain sectors, many marginalised caste groups continue to be concentrated in low-paying and insecure forms of labor. Informal sector employment, manual labor, sanitation work, and other forms of precarious employment are disproportionately occupied by individuals from historically disadvantaged caste groups (Thorat at el., 2023). Breman observes that informal labor markets often reproduce existing social hierarchies by concentrating marginalized communities in low-status occupations (Breman, 2013, p. 67).

Rural areas also exhibit strong links between caste and social exclusion. In many villages, caste relations influence land ownership patterns, access to credit, and participation in local governance institutions. Marginalised caste groups often possess limited landholdings and depend on wage labor for their livelihoods (Thorat &Thorat, 2025). As globalisation reshapes agricultural markets and rural economies, these communities may face increased vulnerability due to fluctuating commodity prices and reduced state support for agriculture.

Urbanisation has introduced new social dynamics that may both challenge and reproduce caste inequalities. On one hand, urban environments provide opportunities for individuals to move beyond traditional caste-based occupations and social restrictions. Urban labor markets, educational institutions, and professional environments can weaken certain forms of caste discrimination. On the other hand, caste identities often persist in urban settings through residential segregation, social networks, and marriage patterns.

Scholars have also noted that caste discrimination can manifest in subtle and indirect forms in modern institutions. For example, hiring practices, workplace interactions, and access to professional networks may reflect underlying social biases (Thorat & Thorat, 2025). These forms of discrimination may be less visible than traditional caste restrictions but can still contribute to unequal outcomes in employment and career advancement.

Affirmative action policies, commonly known as reservation policies, have played a significant role in addressing caste-based inequalities in India. In addition to state policies, social movements and civil society organisations have played an important role in challenging caste-based discrimination and promoting social justice. Expanding access to quality education, strengthening anti-discrimination laws, promoting inclusive labor markets, and enhancing social protection systems are essential for reducing caste-based inequalities. Furthermore, promoting social awareness and challenging discriminatory attitudes are important steps toward creating a more inclusive society.

IV. Gender and Globalisation : Globalisation has significantly

influenced gender relations and women's participation in economic and social life. The expansion of global markets, technological advancements, and the growth of service industries have created new employment opportunities for women in many developing countries, including India. However, the effects of globalisation on gender equality are complex and often contradictory. While globalisation has enabled greater economic participation for women, it has also reinforced certain forms of gender inequality and social exclusion.

One of the most visible impacts of globalisation has been the increased participation of women in the labor force. According to sociological studies, globalisation has contributed to the emergence of new occupational roles for women in sectors such as business process outsourcing, retail services, and manufacturing industries (Kabeer, 2004, p. 46). These developments have provided women with greater economic independence and increased visibility in the public sphere. However, the benefits of globalisation have not been distributed equally among all women. Many women continue to be concentrated in low-paying and insecure forms of employment within the informal sector. Breman notes that women workers are disproportionately represented in precarious labor arrangements, which expose them to exploitation and unstable incomes (Breman, 2013, p. 72).

Globalisation has also influenced gender relations within households and communities. Increased employment opportunities for women can contribute to greater decision-making power and economic autonomy. However, traditional gender norms and cultural expectations often continue to shape women's roles and responsibilities. In many cases, women who participate in the labor market continue to bear the primary responsibility for domestic work and caregiving, resulting in a "double burden" of paid and unpaid labour.

From a sociological perspective, globalisation can both challenge and reinforce existing gender inequalities. While it may create new opportunities for economic empowerment and social mobility, it can also reproduce structural inequalities within labor markets and social institutions. Addressing gender-based exclusion requires policies that promote equal access to education, fair labor conditions, social protection, and empowerment initiatives that enable women to fully participate in economic and social development.

V. Globalisation and the Informal Economy : One of the most significant consequences of globalisation in developing countries, including India, has been the expansion of the informal economy. As globalisation reshapes labor markets and production systems, the informal economy has become a crucial component of employment generation in

many developing economies. In India, the majority of the workforce is employed in informal sectors such as agriculture, construction, small-scale manufacturing, street vending, and domestic services. According to Breman, economic liberalisation and globalisation have contributed to the growth of informal employment by encouraging flexible labor arrangements and reducing the role of state regulation in labor markets (Breman, 2013, p. 52). He notes that informal labor arrangements expose workers to economic vulnerability and limited bargaining power in the labor market (Breman, 2013, p. 54). Women are disproportionately represented in informal employment, particularly in home-based production, domestic work, and small-scale enterprises. According to Kabeer, women working in informal sectors frequently experience limited labor rights and restricted access to financial resources (Kabeer, 2004, p. 48).

Despite these challenges, the informal economy also plays an important role in sustaining livelihoods for millions of people who lack access to formal employment opportunities. Informal economic activities provide income for marginalised populations and contribute significantly to urban and rural economies. However, the persistence of large informal sectors also reflects structural inequalities and inadequate social protection systems.

VI. Rural-Urban Inequality : Globalisation has significantly influenced patterns of development in both rural and urban areas. However, the benefits of globalisation have not been distributed evenly across these regions. This uneven development has contributed to widening rural-urban disparities in income, employment opportunities, infrastructure, and access to social services. Urban areas have been the primary beneficiaries of globalisation due to their better infrastructure, concentration of industries, and access to technological resources. But rural regions frequently lack this. Rural economies in India are still heavily dependent on agriculture, which is vulnerable to market fluctuations, environmental changes, and limited access to technological innovation. Small and marginal farmers often face rising production costs, unstable market prices, and inadequate institutional support. Bhalla notes that despite economic growth at the national level, many rural communities continue to experience persistent poverty and limited economic opportunities (Bhalla, 2014, p. 126).

Migration has emerged as a significant response to rural-urban inequalities. Many individuals from rural areas migrate to cities in search of better employment opportunities and improved living conditions. But they get work in informal sectors such as construction, domestic service, and small-scale manufacturing, where wages are low and working conditions are insecure. Breman observes that migrant laborers frequently

lack access to stable housing, healthcare, and social security in urban areas (Breman, 2013, p. 60). Despite these challenges, several initiatives have been introduced to address rural-urban inequalities in the era of globalisation. Government programmes aimed at rural development, employment generation, and infrastructure expansion have attempted to reduce regional disparities.

VII. Conclusion : Globalisation has become one of the most transformative forces shaping contemporary societies across the world. In India, Over the past three decades, globalisation has contributed to significant economic growth, technological advancement, and expansion of new industries such as information technology, telecommunications, and global business services. These developments have created new opportunities for employment, entrepreneurship, and social mobility for many sections of the population.

Globalisation in India has led to economic growth but has also expanded the informal economy, where many workers face low wages, job insecurity, and limited social protection. It has also widened the rural-urban divide. Urban areas have benefited from investment, technology, and infrastructure, while rural regions continue to struggle with agricultural distress, limited employment, and poor public services, leading to large-scale migration to cities.

Social inequalities such as caste and gender further shape experiences within the globalising economy. Marginalised caste groups still face barriers in education and employment, restricting their participation in new economic sectors. Women, although gaining new job opportunities, are often concentrated in low-paid and insecure work while carrying unpaid domestic responsibilities.

Overall, globalisation presents both opportunities and challenges for Indian society. While it has contributed to economic growth and modernisation, its benefits remain unevenly distributed. A sociological understanding of globalisation is therefore essential for developing policies and strategies that promote inclusive development and ensure that the gains of globalisation are shared more equitably among all sections of society.

References :

- Bauman, Z. (1998). *Globalization: The Human Consequences*. New York: Columbia University Press.
- Bourdieu, P. (1986). *The forms of capital*. In J. Richardson (Ed.), Handbook of Theory and Research for the Sociology of Education. New York: Greenwood Press.
- Bhalla, G. S. (2014). *Globalisation and Indian Agriculture: State of the Indian Farmer.* New Delhi: Academic Foundation.
- Breman, J. (2013). *At work in the informal economy of India: A*

perspective from the bottom up. New Delhi: Oxford University Press.

- Castells, M. (2010). *The Rise of the Network Society (2nd Ed.).* Oxford: Wiley Blackwell.
- Deshpande, S. (2011). *Contemporary India: A sociological view.* New Delhi: Penguin Books.
- Giddens, A. (2009). Sociology (6th ed.). Cambridge: Polity Press. '
- Kabeer, N. (2004). *Globalisation, Labour Standards, and Women's Rights: Dilemmas of Collective (in) action in an interdependent world.* Feminist Economics, 10(1), 3-35, London: Routledge
- McLuhan, M. (1964). *Understanding Media.* New York: McGraw Hills.
- Ohmae, K. (1990). *The Borderless World.* New York: Collins.
- Sen, A. (2000). *Social exclusion: Concept, application and scrutiny.* Manila, Philippines: Asian Development Bank.
- Silver, H., & Miller, S.M. (2003). *Social Exclusion: The European approach to Social Disadvantage.* Indicators, Vol. 2, Issue 1, pp. 1-17.
- Thorat, S., Madheswaran, S., & Vani, B. P. (Eds.). (2023). *Scheduled Castes in the Indian labour market: Employment discrimination and its impact on poverty.*New Delhi: Oxford University Press.
- Thorat, S., & Thorat, A. (2025). *Economic Casteism: How Markets and Government Perpetuate Inequality.* Jaipur: Rawat Publications.
- Wallerstein, I. (2004). *World-systems analysis: An introduction*. Durham, North Carolina: Duke University Press.
- Waters, M. (1995). *Globalisation.* London: Routledge.

●

Socio-Cultural and Institutional Factors Influencing Gender Wage Disparities : A Comparative Analysis of Rural and Urban Prayagraj

Richa Srivastava*, **Dr. Balendra Shukla****

Abstract : Gender wage disparity remains a critical challenge to social justice and economic growth in India. This research investigates how socio-cultural norms and institutional frameworks drive pay gaps between men and women in the Prayagraj district. By comparing rural and urban settings, the study examines the influence of traditional gender roles, educational access, and the effectiveness of labour laws like the Equal Remuneration Act. The analysis reveals a persistent "sticky floor" effect, where women are concentrated in low-paying, informal roles. In rural Prayagraj, disparities are primarily driven by deep-seated patriarchal norms, high dependency on seasonal agriculture, and limited mobility. Conversely, in urban areas, while women have better educational credentials, they face institutional barriers such as occupational segregation and a "motherhood penalty," resulting in significant wage gaps even in professional sectors. The study concludes that wage inequality is not merely a result of skill differences but is deeply embedded in social structures. While urban women benefit from better infrastructure, they still struggle against systemic biases that undervalue their labour compared to their male counterparts. Future research should focus on the impact of digital literacy and remote work in narrowing the urban gap. Additionally, longitudinal studies are needed to evaluate the long-term socio-economic effects of direct policy interventions and community-based awareness programs in rural Uttar Pradesh.

Keywords : Gender Wage Gap, Socio-Cultural Norms, Institutional Barriers, Rural-Urban Comparison, Prayagraj District, Occupational Segregation, Patriarchal Structures, Labor Market Disparities, Equal Remuneration

Introduction : Current Scenario In 2026, despite India's robust economic trajectory, gender wage disparity remains a significant structural bottleneck. National data from the Periodic Labour Force Survey (PLFS) 2025 indicates that while women's wages are growing faster than men's in certain sectors—with salaried growth at 7.2%—the absolute gap remains stark. In urban centres, women typically earn only 76% of what their male

* Research Scholar– Department of Economics, Nehru Gram Bharati (Deemed to be University), Prayagraj, Uttar Pradesh

** Head of Department– Department of Economics, Nehru Gram Bharati (Deemed to be University), Prayagraj, Uttar Pradesh

counterparts earn in salaried roles, while in rural settings, this figure drops to roughly 69% for casual labour. In the specific context of Prayagraj, the regional labour market reflects a complex interplay of rapid urbanization and deep-rooted agrarian traditions, making it a critical site for studying these persistent inequalities.

Background The pay gap is not merely a product of individual choices or "human capital" (like education and experience); it is heavily influenced by socio-cultural and institutional factors. Socio-culturally, patriarchal norms in Uttar Pradesh often dictate women's primary responsibility as unpaid care work, which limits their geographic mobility and bargaining power. Institutionally, despite the existence of the Equal Remuneration Act, enforcement remains inconsistent, particularly in the informal and agricultural sectors where the "sticky floor" effect keeps women trapped in low-entry-level positions.

Timeline, Aim, and Scope The historical trend in India has seen the wage gap narrow from nearly 50% in the 1990s to roughly 24-28% by 2022. This research focuses on the 2024–2026 period to provide a contemporary comparative analysis.

- **Aim :** To identify and compare how local social customs and institutional oversight differently impact the earnings of men and women in the rural and urban pockets of Prayagraj.
- **Scope :** The study spans across urban industrial hubs and rural agricultural blocks in the district, focusing on both formal salaried employment and informal casual labour to provide a holistic view of the regional economy.

Literature References : *Sengupta, S., & Puri, R. (2021). "Beyond unequal pay: Structural inequalities and the gender wage gap in India's labour market."*

Sengupta and Puri (2021) argue that gender pay gaps in India extend beyond simple salary differences. They highlight how **structural inequalities**, such as restricted access to high-quality education and the heavy burden of unpaid domestic work, systematically disadvantage women. The study emphasizes that institutional biases and social norms funnel women into "invisible" or informal roles, suggesting that policy interventions must address these root social barriers rather than focusing solely on payroll adjustments.

Walter, A., & Ferguson, L. (2022). "Narrowing the gap: A historical analysis of urban female earnings in India."

Walter and Ferguson (2022) provide a historical perspective on the evolution of female wages in urban India. Their research indicates that while the earnings gap has narrowed over decades, progress is uneven across different industries. They attribute recent gains to improved urban

infrastructure and higher female literacy. However, they conclude that persistent "glass ceilings" in corporate sectors and the undervaluation of female-dominated professions continue to prevent full wage parity.

Mattos, C., Dasgupta, S., Esquivel, V., & Ghani, S. (2023). "The added-worker effect: Gendered labour supply responses during economic shifts in South Asia."

This research explores the "added-worker effect" in South Asia, examining how women enter the workforce when their households face financial instability or when male breadwinners lose their jobs. While traditional economic shifts often marginalize female workers, this study highlights a gendered survival strategy: women frequently increase their labour supply to compensate for lost family income during crises.However, this entry into the labour market is often driven by necessity rather than opportunity, frequently landing women in low-paid or informal roles. The findings emphasize that while women stabilize household finances, structural barriers continue to limit the quality and long-term security of their employment.

Ranjan, R. (2024). "Gender wage disparity in urban India: An analysis using unconditional quantile regression."

This study investigates the gender pay gap in urban India, moving beyond simple averages to look at how the wage deficit changes across different income levels. Using a specialized statistical method called unconditional quantile regression, the researcher found that the pay gap isn't uniform.Interestingly, the disparity is often widest at the very bottom and the very top of the wage scale. This suggests that while poor women face a "sticky floor" of low-paying, informal work, high-achieving women encounter a "glass ceiling" that prevents them from earning as much as their male peers, even when they have similar qualifications.

Ministry of Statistics and Programme Implementation (MoSPI). (2025). "Periodic Labour Force Survey (PLFS) annual report 2024-25."

The 2024-25 PLFS report highlights a resilient Indian labour market with steady growth in female participation. Nationally, the female Labour Force Participation Rate (LFPR) reached approximately 40%, continuing its upward trend from previous years.Unemployment remains low at roughly 3.1%, with rural areas showing stronger job absorption than urban centres.A key shift is noted in employment quality: self-employment declined slightly as more workers transitioned into regular salaried roles.However, challenges remain, including a persistent gender wage gap and a high number of youths not in education or employment.

Kumar, A., & Sharma, P. (2026). "Gender wage disparities in agricultural labour markets: Evidence from Uttar Pradesh, India."

This study examines the persistent wage gap between male and

female farm labourers in Uttar Pradesh. The research reveals that women often earn significantly less than men for performing similar tasks, such as harvesting or sowing.The authors attribute this disparity to deep-seated social norms and the physical classification of tasks, which devalues "female-centric" work. Even as agriculture becomes more commercialized, women remain stuck in lower-paying roles with less bargaining power. The paper argues that without targeted policy interventions and equal pay enforcement, rural economic growth will continue to leave female labourers behind.

Research Gap : Most studies on India's gender pay gap focus on national data or specific sectors like IT or farming, often overlooking how local culture and city structure work together. Specifically, there is a **research gap** in understanding how traditional social norms interact with modern job markets in a unique location like Prayagraj.

While we know rural women face different challenges than urban women, we lack a direct comparative analysis of how local institutions (like family networks and regional hiring practices) create different wage hurdles in these two settings. Existing research hasn't fully captured how specific cultural expectations in Prayagraj—such as household responsibilities or mobility restrictions—impact a woman's ability to negotiate pay compared to her male counterparts. This study aims to fill that void by looking at the "why" behind the numbers at a local level.

Objectives of Study :

1. To identify and compare the prevailing socio-cultural determinants of gender wage gaps in rural vs. urban Prayagraj.
2. To evaluate the impact of institutional frameworks and labour market policies on wage parity across regions.
3. To analyse the correlation between educational attainment, vocational training, and actual earnings for men and women.

Hypotheses of Study :

Alternate Hypothesis 1 (H): Socio-cultural norms regarding the

"double burden" of domestic labour have a more significant negative impact on female wages in rural Prayagraj than in urban areas.

Alternate Hypothesis2 (H,): Institutional wage transparency and formal labour contracts in urban Prayagraj significantly reduce the gender pay gap compared to the informal, unorganized sectors prevalent in rural areas.

Alternate Hypothesis (Hf): The "returns on education" for women are lower in rural Prayagraj than for men, but this disparity diminishes in the urban labour market.

Research Methodology :

1. Research Design : This study uses a descriptive and comparative research design. Rather than just looking at numbers, we are comparing two different environments—the urban center of Prayagraj and its surrounding rural blocks—to see how social rules and formal laws affect what men and women earn. By looking at both areas side-by-side, we can pinpoint exactly where the wage gap is driven by tradition versus where it is driven by workplace policy.

2. Sampling Technique : To ensure the data is fair, we used a stratified random sampling method.

- ***The "Strata":*** We divided the district into two groups: Urban (Prayagraj city) and Rural (selected village blocks).
- ***The Respondents:*** From these two groups, we randomly selected 200 individuals (100 from each) who are currently employed or self-employed. This mix allows us to capture a wide range of voices, from office workers in the city to agricultural labourers in the villages.

3. Data Collection Tools : The primary tool for this study is a structured interview schedule. While a simple survey might miss the "why" behind the numbers, an interview allows us to ask about "soft" factors—like who does the housework or if they feel their boss treats them differently—alongside "hard" data like monthly income and years of schooling. This gives us a 360-degree view of the respondent's life.

4. Sources of Data : We are using a two-pronged approach to gather information :

- ***Primary Data :*** Original information collected directly from our 200 respondents through face-to-face or digital interviews.
- ***Secondary Data :*** Existing information from the Census of India, the Periodic Labour Force Survey (PLFS), and District Economic Reviews of Uttar Pradesh. This helps us compare our small-scale findings with the bigger picture of the state's economy.

5. Data Analysis Plan : Once the interviews are complete, the data will be processed using simple statistical tools. We will use percentage analysis to show the basic gaps and correlation analysis to see if things like "higher education" actually lead to "higher pay" at the same rate for both genders in Prayagraj.

Category	Sub-Category	Rural (n=100)	Urban (n=100)	Total (N=200)
Gender	Male	50	50	100
	Female	50	50	100
Age Group	18–35 years	42	58	100
	36–55 years	48	32	80
	55+ years	10	10	20
Education	Illiterate / Primary	38	12	50
	Secondary / Higher Sec.	45	28	73
	Graduate & Above	17	60	77
Sector	Agriculture / Allied	72	05	77
	Manufacturing / Craft	18	25	43
	Service / Admin / Trade	10	70	80

Comparative Wage & Institutional Data

The following table summarizes the key variables related to your research theme, showing the average monthly earnings and the presence of "Institutional Factors" (like formal contracts).

Variable	Rural Male	Rural Female	Urban Male	Urban Female
Avg. Monthly Wage (INR)	□9,500	□6,200	□28,000	□21,500
Gender Wage Gap (%)	~34.7%	—	~23.2%	—
Has Formal Contract (%)	12%	4%	68%	52%
Avg. Daily Housework (Hrs)	1.2	5.8	0.8	3.5
Mobility Restrictions (%)*	15%	78%	5%	32%

Note on Mobility : "Mobility Restrictions" refers to respondents who reported needing permission from a male family member to travel for work or training.

Key Findings for Your Analysis

1. The "Rural Penalty": The wage gap is significantly wider in rural

Prayagraj (34.7%) compared to the urban centre (23.2%), largely due to the informality of agricultural work.

2. Institutional Buffer : Urban respondents with formal contracts reported a smaller pay gap, suggesting that institutional oversight (HR policies, banking) helps mitigate gender bias.

3. Socio-Cultural Burden : Female respondents in both areas spend significantly more time on unpaid domestic labour, but the disparity is most extreme in rural blocks, directly limiting their earning potential.

Research Findings and Discussion

1. The Geographic Divergence in Wage Gaps

The data confirms a significant "location premium." In **Urban Prayagraj**, the gender wage gap stands at approximately **23.2%**, whereas in **Rural Prayagraj**, it widens to **34.7%**. This suggests that while urbanization does not eliminate pay inequality, the presence of diverse industries and competitive labour markets in the city centre provides women with slightly better leverage than the rigid, agriculture-heavy rural blocks.

2. The Impact of the "Double Burden" (Socio-Cultural Factors) : A primary driver of the rural wage gap is the disproportionate time spent on unpaid domestic labour.

- **Rural blocks :** Women reported spending an average of **5.8 hours per day** on housework and caregiving, compared to just 1.2 hours for men.
- **Urban centre :** While the gap persists, urban women spend roughly **3.5 hours** on domestic tasks. The findings suggest that in rural Prayagraj, "time poverty" is a physical barrier to earning; women are often forced into low-paying, local, part-time work simply because they cannot be away from home for long periods.

3. Institutional Oversight vs. Informal Bias : There is a direct correlation between **formal labour contracts** and smaller wage gaps.

- In the urban service sector, where 52% of women have some form of written agreement or bank-processed salary, pay is more standardized.
- In rural areas, where only **4% of women** have formal contracts, wages are largely "invisible" and subject to the whims of local employers. This lack of institutional protection allows gender-based pay discrimination to go unchecked in the informal economy.

4. Education vs. Economic Returns : Interestingly, the "return on education" is not equal across the district. In urban Prayagraj, a degree significantly boosts a woman's income. However, in rural areas, many highly educated women (Graduates) still earn wages similar to those with only secondary education. This suggests that **social restrictions on mobility** prevent rural women from traveling to where their skills would be fairly compensated, effectively "wasting" their educational attainment.

The wage gap in Prayagraj isn't just about what people are paid—it's about the **freedom to work.** In the city, institutional rules help close the gap, but in the villages, cultural expectations at home are the biggest factor

holding women's earnings back.

Conclusion : This comparative study of Prayagraj district reveals that gender wage disparity is not a single problem with a single cause, but rather a reflection of the environment in which it exists. While both rural and urban areas show a clear "wage penalty" for women, the drivers behind these gaps are distinct.

1. Summary of Findings : The research concludes that **location is the primary filter** through which socio-cultural and institutional factors operate.

- In **Rural Prayagraj**, the wage gap is driven by a "double burden" of domestic labour and restricted physical mobility. Without institutional support or formal contracts, rural women remain trapped in low-paying, informal agricultural roles.
- In **Urban Prayagraj**, while social norms still exist, formal institutions (like HR policies and digital banking) act as a buffer, reducing the gap compared to rural areas. However, even here, a "glass ceiling" persists, often linked to the expectation that women will prioritize household management over career advancement.

2. The Institutional Vacuum : A critical takeaway is the role of **formalization**. The study finds that wherever institutional oversight is absent—specifically in the rural blocks—the wage gap thrives. Gender-neutral labour laws are only effective when there is an institution to enforce them. In the informal rural economy, traditional patriarchal norms effectively replace formal labour laws, leading to much higher rates of pay discrimination.

3. Final Reflection : Ultimately, closing the gender wage gap in Prayagraj requires more than just "equal pay for equal work" legislation. It requires a two-pronged strategy :

1. In Rural areas : Targeted interventions to reduce the domestic labor burden (like better childcare and transport) to unlock women's mobility.

2. In Urban areas : Stronger institutional enforcement of pay transparency to ensure that educational gains translate into equal financial returns.

The evidence suggests that as Prayagraj continues to develop, economic growth alone will not close the gap; it must be accompanied by a deliberate shift in social expectations and a strengthening of the district's labour institutions.

Suggestions and Policy Recommendations:

1. Strengthening Rural Infrastructure to Reduce "Time Poverty" : The research indicates that the wage gap in rural Prayagraj is heavily driven by the "double burden" of domestic labour.

- **The Fix :** The local administration should prioritize the establishment of community-based childcare centers (Anganwadis) and improved public transport in rural blocks like Phulpur or Handia. By

reducing the time women spend on unpaid care and commuting, they can access better-paying jobs further from home, effectively narrowing the gap caused by restricted mobility.

2. Mandatory Wage Transparency in the Urban Service Sector : In urban Prayagraj, while formal institutions exist, "hidden" disparities still persist in private trade and service roles.

- **The Fix :** Local business chambers and municipal authorities should implement "Pay Transparency" guidelines. Requiring firms to disclose salary ranges for specific roles can prevent the "negotiation penalty" where women are offered lower starting salaries than men for the same qualifications. Standardizing pay scales through institutional oversight is the fastest way to close the urban gap.

3. Enhancing Vocational Training for "Returns on Education" : The study found that rural women often don't see a financial "payoff" for their degrees.

- **The Fix :** Skill-development programs in Prayagraj should shift from traditional "gendered" crafts (like sewing) toward high-demand sectors like digital literacy, financial services, and agri-business management. Connecting educated rural women with remote work opportunities or local administrative roles ensures that their academic investments translate into actual economic power.

For these suggestions to work, they must be supported by **legal awareness campaigns**. Many workers in the informal sectors of Prayagraj are unaware of their rights under the Equal Remuneration Act; bridging this information gap is a prerequisite for any institutional reform.

References :

- Sengupta, S., & Puri, R. (2021). Beyond unequal pay: Structural inequalities and the gender wage gap in India's labour market. *Journal of Labor Studies*, *15*(2), 112–130.
- Walter, A., & Ferguson, L. (2022). Narrowing the gap: A historical analysis of urban female earnings in India. *International Review of Applied Economics*, *36*(4), 456–475.
- Mattos, C., Dasgupta, S., Esquivel, V., & Ghani, S. (2023). *The added-worker effect: Gendered labour supply responses during economic shifts in South Asia*. International Labour Organization (ILO) Working Paper Series.
- Ranjan, R. (2024). Gender wage disparity in urban India: An analysis using unconditional quantile regression. *Demography India*, *53*(2), 27–45.
- Ministry of Statistics and Programme Implementation (MoSPI). (2025). *Periodic Labour Force Survey (PLFS) annual report 2024-25*. Government of India.
- Kumar, A., & Sharma, P. (2026). Gender wage disparities in agricultural labour markets: Evidence from Uttar Pradesh, India. *Social Science Journal of Advanced Research*, *6*(1), 88–104.

●

Smart City and Urban Development
A Sociological Study of Smart City Ujjain

Anuradha Shukla*, **Prof. Diwakar Singh Rajput****

Abstract : The Smart City Mission (SCM) represents a paradigm shift in urban governance, aiming to blend advanced technological infrastructure with sustainable urban development to improve the overall quality of life. This research paper presents a sociological study of Smart City Ujjain, exploring how top-down infrastructural and technological interventions reshape urban spaces and the lived experiences of residents. Utilizing exploratory research design, the study evaluates empirical data across several key vectors: overall urban development, modifications to road infrastructure, and advancements in urban mobility, and the execution of core work areas under the smart city initiative. Additionally, public awareness regarding technological security interventions such as automated traffic surveillance and the perceived availability of healthcare service management are analyzed. The aim of this paper is to critically discuss the theoretical backgrounds and the practices of smart cities and examine the ways the concept is implemented.

The research explores the intersection of technological advancement and institutional reform. The primary objective of the study was to examine public perception regarding the socio technological transformation in Smart City Ujjain, specifically focusing on structural interventions in security, urban mobility, healthcare availability and road infrastructure.

For the present study, Smart City Ujjain is selected as the research area. The present study is based on primary and secondary data. 150 respondents are selected as sample size. The Questionnaire is used as a tool for the collection of primary data.

Keywords : Smart City, Smart City Mission, Urban Development

Introduction : The concept of smart cities is becoming another mantra for both developing and developed cities. The Indian government in 2015 announced its objective to build one hundred smart cities all over the country. The core objective of the Smart City initiative is to give its citizen a high quality life, a safe and secure environment and smart solutions for everyone.[1] The government has adopted smart development as its foundational paradigm for future growth, aiming foster sustainable economic development while mitigating the adverse rapid industrialization and pollution of cities.[2] The Smart City encourages towns to be more

* Research Scholor-Sociology– Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P)
** Professor & Director of Academic Affairs– Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P)

sustainable by providing the necessary infrastructure. The dimensions of Smart City Mission are: Smart Security, Smart economy, Smart health, Smart mobility, Smart citizenship, Smart traffic management, Smart energy, Smart people, Smart governance and Smart living.[3] Nowadays, more than 54% of the world population are living in urban area and by 2050, it is predicted that this will increase up to 66%. The rapid growth in population along with the increased urbanization has raised a variety of technical, social, economic and organizational problem, which tends to endanger economical and environmental sustainability of cities. Hence the government has taken an interest in adopting “smart” concept for optimizing the use and exploitation of both tangible & intangible assets.[4] According to National portal of India, cities accommodate nearly 31% of India’s current population & contribute 63% of GDP (census 2011). Urban areas expected to house 40% of India’s population and contribute 75% of India’s GDP by 2030. This requires comprehensive development of the physical, institutional, social and economic infrastructure. All are important in improving the quality life and attracting people and investment setting in motion a virtuous cycle growth and development. Development of smart cities has step in that direction. The Smart City Mission is an innovative and new initiative by government of India to drive economic growth and improve quality of life of people by enabling local development and harnessing technology assembly to create smart outcome for citizens.[5] The Smart Cities Mission of the government is a bold, new initiative.

Smart City : Smart city is a place where traditional networking services are made more flexible, efficient and sustainable with the use of information, digital and telecommunication technologies, to improve its operation for the benefit of its inhabitants.[6] The objective of smart city include 24×7 water & power supply, water collection and disposal system, efficient public transportation, good education health and recreating infrastructure, safety and security of citizen, smart policing and reducing crime rate.[7]

Background of Smart City : IBM is the company that originally coined the term “smart city.” With their Smarter City Challenge programme, the company has developed their vision of urbanization based on centralization data, with a strong focus on security across the world.[8] The journey to smart cities goes way back to the 1970s, when Los Angeles created the first urban big data project: “A Cluster Analysis of Los Angeles”. The first smart city was arguably Amsterdam with the creation of a virtual digital city in 1994. Things then speeded up in mid-2000s when IBM and Cisco launched separate initiatives. In 2011, the inaugural Smart City Expo World Congress was held in Barcelona.[9]

Urban Development : Urban Development means development or improvement of urban areas. Urban development covers infrastructure for education, solid waste, security, markets and cultural heritage protection.[10]

A brief review of the work already done in the field : For the present study, following articles have been studied related to Smart City and Urban Development:

1. Naydenov Kliment (2018), "Smart Cities - The Future of Urban Planning": This literature says when we talk about smart city we are also talking about sustainable urban development. Turning a city into smart is most often based on the application of urban innovation in three main areas they are transport, environment (including water, energy and waste material) and improvement in lives of people.[11]

2. Gunna Pranay (2017), "Smart cities in India : Key and Challenges – A study of Chandigarh city": According to him, while recognizing the present condition, India experiencing high pace of urbanization and the movement of people from smaller town and villages to urban area. Thus, there is a need for planning to precede growth of cities, as retrofitting and redevelopment. The government of India initiated smart city mission in order to improve economic growth, quality of life of people in selective cities by neighboring local and sustainable development as a mean to create smart solutions for citizens. The smart city in India has its own provocation to face i.e, three tier governance, retrofitting existing legal city infrastructure to make it smart, capacity building programme and so on.[12]

3. Husar Milan; Ondrejicka Vladimir; Varis Sila Ceren (2017), "Smart Cities and Idea of Smartness in Urban Development- A Critical Review": The literature examining the two case studies of Dholera (India) and Songdo (South Korea). The study says that Smart Cities should no longer stop at utilizing ICT. The key is to shape the cities using human initiative and technology for social purpose**.**[13]

4. Mohanty Saraju P. (2016), "Everything You Wanted to Know About Smart Cities": This article describes that the world population has been increasing in the last decade and so the expectation of living standard. The literature highlights that there are four core theme for smart city namely society, economy, environment and governance. The economy theme of smart city signifies the city is able to prevail with continuous job growth and economic growth. The society theme signifies that city is for inhabitants. The governance theme signifies that city is robust in its ability of administrator policy and combining together the other element. The environment theme of the smart city indicates that the city will be able to sustain its function and remain in operation for current and future generation.[14]

Objectives of the Study

1. To study the concept of Smart City.

2. To study the impact of smart city in the field of urban development in Smart City Ujjain.

3. To study inhabitants perception regarding core work areas of smart city initiatives in Smart City Ujjain.

Research Questions

1. What is Smart City?

2. What is the impact of smart city in the field of urban development in Smart City Ujjain?

3. What are the inhabitant's perceptions of Smart City Ujjain regarding core work areas of smart city initiatives?

Tools and Techniques

The study was carried out in Smart City Ujjain. Ujjain is a fifth-largest city in M.P by population and is the administrative centre of Ujjain district and Ujjain division. It is one of the Hindu pilgrimage centres of Sapta Puri famous for the Kumbh Mela held there every 12 years.[15] The study employed exploratory research design. The study is based on primary and secondary data collection. The primary source of data is based on field work method in which Questionnaire is the major technique of data collection. The secondary source of data is based on journals, articles, internet, newspapers, magazines, office files and so on. For the present study, 150 respondents have been selected through simple random sampling. Out of 150 respondents, the data is collected from 10 employees of smart city cooperation, 5 municipal cooperation, 20 traffic police, 20 police personnel, 20 from Higher Education University (which includes 10 teachers and 10 students) and 75 inhabitants of Smart City Ujjain. The various statistical and research methods have been used for the classification and tabulation of data.

Map of Smart City Ujjain[16]

Figure 1.01
Sex

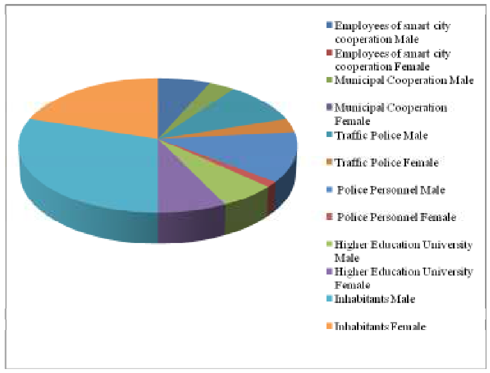

Table 1.01 illustrates the gender composition of the study, with employees of smart city cooperation accounting 7% (includes 7% male and 00% female), 3% respondents from Municipal Cooperation (includes 3% male and 00% female), 13% respondents from traffic police (includes 10% male and 3% female), 14% respondents from police personnel (includes 12% male and 2% female), 13% respondents from Higher Education (includes 6% male and 7% female) and 50% respondents from inhabitants (includes 30% male and 20% female) of Smart City Ujjain.

Table 1.02

Awareness about Smart City

S.No.	Awareness about Smart City	Frequency	Percentage%
1.	Yes	150	100
2.	No	00	00
	Total	150	100

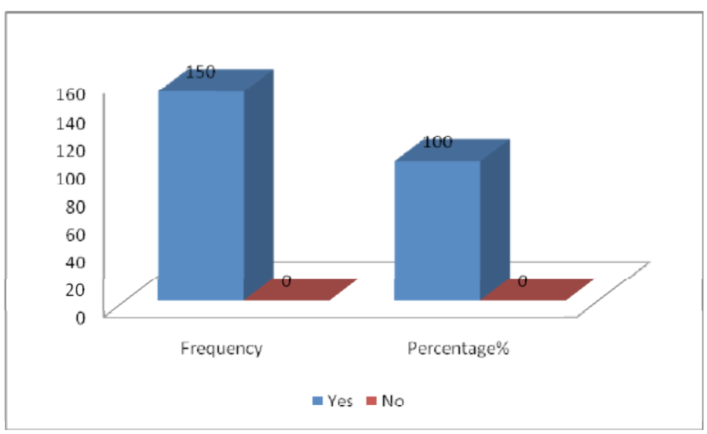

Figure 1.02
Awareness about Smart City

Table 1.02 illustrate Awareness about Smart City, it shown that all respondents are aware about the smart city As the successful Smart City Mission relies heavily on public awareness and citizen engagement.

Table 1.03

Core Work Area of Smart City Initiatives

S.No.	Work Area	Frequency	Percentage%
1.	Urban Road Infrastructure	150	100
2.	Security Initiatives	150	100
3.	Urban Mobility	150	100
4.	Health Initiative	75	50
5.	Parking	135	90

Figure 1.03

Core Work Area of Smart City Initiatives

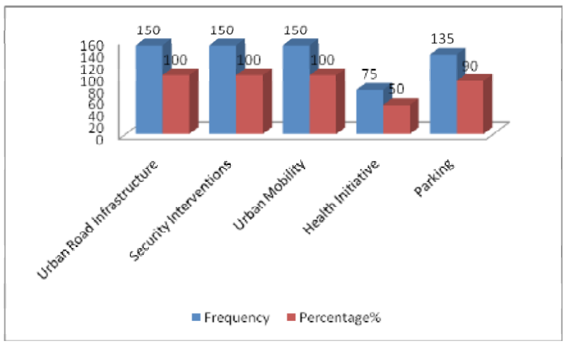

Table 1.03 illustrate the work done under the core area of Smart City Initiatives, it shown that 100% of respondents believe that work has been done on urban road infrastructure, 100% of respondents believe that work has been done on Security interventions, 100% of respondents believe that work has been done on urban mobility, 50% of respondents believe that work has been done on Health Initiative and 90% of respondents believe that work has been done on parking facilities. The smart city mission focuses on providing core infrastructure and applying smart solutions across various sectors to improve the quality of life of inhabitants, ensure a clean environment and providing the security for the citizens.

Table 1.04

Urban Development

S.No.	Urban Development	Frequency	Percentage%
1.	Yes	135	90
2.	No	15	10
	Total	150	100

Figure 1.04
Urban Development

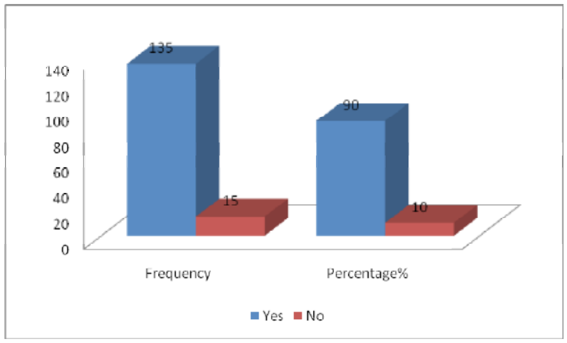

Table 1.04 illustrate Impact of smart city in the field of urban development, it shown that 90% of respondents believe that smart city mission has profound and multifaceted impact on the field of urban development, moving it from a focus solely on basis infrastructure to one of technology enabled, sustainable and citizen-centric governance. It is not about building new assets; it's about integrating technology to make existing and new smart infrastructure. A minority of respondent (10%) maintain that smart city exert no discernible impact on urban development.

Table 1.05
Urban Road Development Initiatives

S.No.	Road Infrastructure	Frequency	Percentage%
1.	Yes	120	80
2.	No	30	20
	Total	150	100

Figure 1.05
Urban Road Development Initiatives

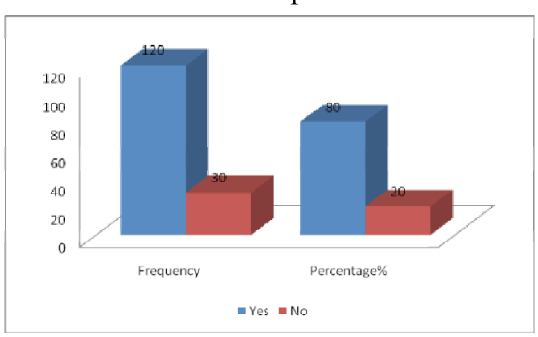

Table 1.05 illustrate Urban road Infrastructure in the city under Smart City Initiative, it shown that 80% of respondents believes that urban road infrastructure have improved under smart city mission while 20% of respondents believes that urban road infrastructure haven't improved under smart city mission. The Smart City Mission is transforming urban road

infrastructure from simple connectivity network to intelligent, integrated and inclusive systems.

Table 1.06

Awareness about Technological Security Interventions

S.No.	Security Initiatives	Frequency	Percentage%
1.	CCTV camera	150	100
2.	Emergency boxes	90	6
3.	Nirbhaya app	75	50

Figure 1.06

Awareness about Technological Security Interventions

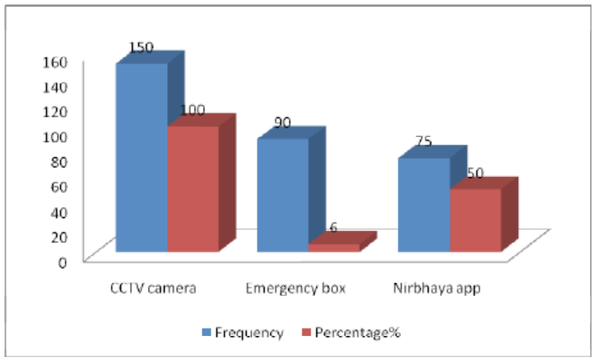

Table 1.06 illustrates Awareness about Technological Security Interventions, it shown that 100% of respondents are aware of CCTV camera. As CCTV system offers numerous advantages, primarily focused on security and crime prevention. 6% of respondents are primarily aware of emergency boxes within city. The emergency boxes are strategically placed within city to provide immediate assistance to citizens in distress while 50% of respondents are aware of Nirbhaya app.

Table 1.07

Awareness about Smart Mobility Solutions

S.No.	Smart Mobility Solutions	Frequency	Percentage%
1.	RLVD camera	150	100
2.	ANPR camera	150	100
3.	SVD camera	150	100
4.	PTZ camera	120	80

Figure 1.07

Awareness about Smart Mobility Solutions

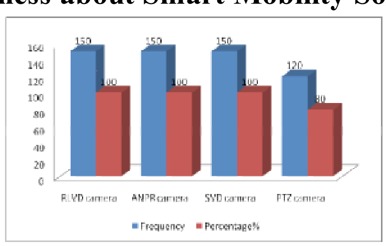

Table 1.07 illustrates Awareness about Smart Mobility Solutions, it shown all respondents are aware about RLVD camera, ANPR camera and SVD camera. Both RLVD and ANPR camera integrate with traffic management database for automatic e-challan generation. SVD camera detect and track vehicles, identify speed violation and alert traffic authorities while 80% respondents are aware about PTZ camera. PTZ cameras are a specific type of CCTV camera with pan, tilt and zoom capabilities allowing them to monitor various areas without need of multiple cameras.

Table 1.08
Availability of Health Services Management

S.No.	Availability of Health Services Management	Frequency	Percentage%
1.	Yes	75	50
2.	No	75	50
	Total	150	100

Figure 1.08
Availability of Health Services Management

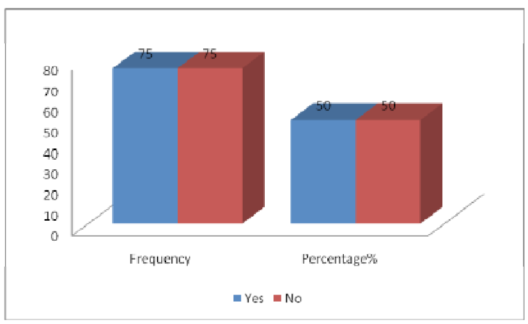

Table 1.08 illustrates the availability of Health service management under the smart city mission, it shown that 50% of respondents believe that healthcare services are provided under smart city mission while 50% of respondents believe that healthcare services are not provided under smart city mission. Health is considered as a core component of 'Quality of Life' and is integrated into the overall strategy of creating a clean and sustainable city.

Conclusion

The present sociological study on Urban Development through Smart City Mission in Smart City Ujjain underscores public awareness and the perceived impact of the Smart City Mission across its core developmental areas. A fundamental finding of the study is the universal awareness of smart city concept among respondents. This widespread recognition translates into strong belief in the mission's efficacy, with 90% of

respondents affirming that the smart city initiatives have a tangible, transformative impact on broader urban development. The physical transformation of the urban landscape emerged as a major success point. A substantial 80% of respondents agreed that urban road infrastructure has noticeably improved. Furthermore, there was strong consensus regarding work done in core sectors, specifically in urban mobility and security interventions such as Red Light Violation Detection Systems (RLVD), Automatic Number Plate Reorganization (ANPR), and Speed Violation Detection (SVD) cameras and an overwhelming 90% acknowledgment of advancements in smart parking facilities. In contrast to the highly visible progress in transport and security, public perception regarding healthcare infrastructure is notably split. Only 50% of respondents believed that work has been done on health initiatives or that adequate healthcare service management is being provided under the mission.

The overarching objective of the Smart City Mission is to provide robust core infrastructure and deploy smart solutions to significantly enhance the quality of life for urban inhabitants. The findings of this study indicate that the mission is successfully achieving its goals in highly visible, physical, and technological sectors namely road infrastructure, smart mobility, public safety, and parking management. However, the 50% divide in public perception regarding health services suggests an uneven distribution in project execution or public communication. To truly fulfill the promise of a holistic "smart city" that elevates every facet of human life, future policy focus and resource allocation must bridge this gap, ensuring that social infrastructure like healthcare receives the same technological integration and development velocity as physical infrastructure. Ultimately, the study assesses the broader changes in the daily life of Ujjain's inhabitants, weighing empirical evidence of structural modernization against uneven developments in social welfare. Urban development through the Smart City Mission is a powerful catalyst for Civic Modernization succeeding in creating safer, faster, and more self-disciplined urban environments. However, it presents a sociological paradox: it risks prioritizing infrastructure over individuals and efficiency over equity. Social control shifts away from face-to-face interactions with traffic police to invisible, automated enforcement. While this successfully engineers public discipline, reduces crime, and makes public spaces feel more orderly, it also normalizes a culture of permanent digital surveillance, fundamentally changing the psychological relationship between the citizen and the state. Efficient urban mobility bridges the gap between peripheral, lower-income residential areas and core commercial zones write in simple language. The study concludes that while Ujjain has successfully integrated smart solutions into its physical and digital landscapes, a truly holistic

urban transformation requires balancing technological and transport infrastructure with equal advancements in social and health services to ensure equitable urban well-being.

Reference

1. https://www.rethinkingthefuture.com/city-and-architecture/a7126-an-overview-of-smart-cities-mission-india/
2. Smart Cities and the Idea of Smartness in Urban Development – A Critical Review Milan Husár, Vladimír Ondrejièka, Sýla Ceren Varýþ
3. https://edukedar.com/smart-city-mission/
4. Sookhak Mehdi ; Tang Helen ;Yu F. Richard and He Ying (2019), "Security and Privacy of Smart Cities: A Survey, Research Issues and Challenges", IEEE communication survey &tutorial, volume 21, No.2, Second Quarter, P:1718
5. Shukla Pallavi, "Smart cities in India", The Energy & Resource Institute, 2015
6. Mohanty Saraju P.(2016), "Everything You Wanted to Know About Smart Cities", IEEE Consumer Electronics Magazine , P.1
7. "Smart Cities Mission | IBEF", https://www.ibef.org/government-schemes/smart-cities-mission
8. "Whataresmartcities?!|PrivacyInternational",https://privacyinternational.org/explainer/1864/what-are-smart-cities
9. "History of smart cities: Timeline", https://www.verdict.co.uk/smart-cities-timeline/
10. "UrbanDevelopmentCapacity4dev" https://europa.eu/capacity4dev/topics/urban-development
11. Naydenov Kliment (2018), "Smart Cities-The Future of Urban Planning", 5th International Multidisciplinary Scientific Conference on Social Science & Art SGEM,
12. Gunna Pranay (2017), "Smart cities in India : Key and Challenges – A study of Chandigarh city", International Journal in Management and Social Science, January,
13. Husar Milan; Ondrejicka Vladimir; Varis Sila Ceren (2017), "Smart Cities and Idea of Smartness in Urban Development- A Critical Review", IOP Conference and Series: Material Science and Engineering, 245,
14. Mohanty Saraju P. (2016),"Everything You Wanted to Know About Smart Cities", IEEE Consumer Electronics Magazine, PP.3-4
15. https://en.m.wikipedia.org/wiki/Ujjain, P:1 (accessed on 30 October 2022)
16. Ingle Mukesh; Yadav Alka; Bhilala; Pawar Manohar (2019), "Urban Herpetofauna: A Case Study in Ujjain City of Central India", International Journal of Scientific Research, PP 76-77

●

Indian Knowledge System in Relation to Buddhism during the Mauryan Period

Upendra Kumar*

ABSTRACT : The Mauryan period (322–185 BCE) represents a transformative phase in the evolution of the Indian Knowledge System, particularly through the profound influence of Buddhism. Originating from the teachings of Gautama Buddha, Buddhism emphasized rational inquiry, ethical living, and experiential knowledge over ritualism, thereby reshaping intellectual traditions in ancient India. Its core doctrines—such as the Four Noble Truths, the Eightfold Path, the concept of impermanence (anicca), non-self (anatta), and non-violence (ahimsa)—formed the philosophical foundation of a knowledge system that integrated morality, psychology, and metaphysics.

Under the patronage of Ashoka, Buddhism became a central pillar of state ideology and public life. Ashoka's policy of *Dhamma* reflected a synthesis of ethical governance, social responsibility, and spiritual values. His inscriptions (rock and pillar edicts) served as innovative mediums of knowledge dissemination, communicating moral principles, administrative policies, and public welfare measures to a diverse population. This marked an early use of written communication for mass education and governance.

The Mauryan period also witnessed the institutionalization of knowledge through Buddhist monastic establishments (viharas) and early universities, which functioned as hubs of learning, debate, and manuscript preservation. These institutions promoted interdisciplinary studies, including philosophy, logic, medicine, linguistics, and ethics. The compilation and codification of Buddhist texts in the Tripitaka during Buddhist councils ensured systematic preservation and transmission of knowledge across generations.

Moreover, the Mauryan era facilitated the globalization of Indian knowledge systems. Missionary activities, supported by Ashoka, led to the spread of Buddhism to regions such as Sri Lanka, Central Asia, Southeast Asia, and beyond. This exchange fostered cross-cultural dialogue and the integration of Indian philosophical thought into other civilizations.

In addition, Buddhism contributed to the development of critical thinking and empirical observation within the Indian Knowledge System. It encouraged questioning, debate, and personal verification of truths rather than blind adherence to authority. This intellectual openness influenced later philosophical schools and educational traditions in India.

* Research Scholar– Department of Ancient History, Archaeology & Culture, T.D.P.G College, Jaunpur, Uttar Pradesh

Keywords:-Indian Knowledge System, Buddhism, Mauryan Period, Gautama Buddha, Ashoka, Dhamma, Four Noble Truths, Eightfold Path, Tripitaka, Viharas, Buddhist Councils, Ahimsa, Education System, Knowledge Transmission.

Introduction : The Indian Knowledge System (IKS) represents a vast and diverse body of intellectual traditions that developed in ancient India, encompassing philosophy, science, education, ethics, and spirituality. During the Mauryan Period, this knowledge system experienced significant growth and transformation, particularly under the influence of Buddhism.

The Mauryan Empire, founded by Chandragupta Maurya and reaching its peak under Ashoka, played a crucial role in shaping the intellectual and cultural landscape of ancient India. Buddhism, founded by Gautama Buddha, became a major philosophical and ethical force during this time.

Under Ashoka's patronage, Buddhist principles such as *Dhamma* (moral law), non-violence (*Ahimsa*), compassion, and ethical governance were actively promoted. These ideas were disseminated through inscriptions, stupas, monasteries, and educational centers, contributing significantly to the Indian Knowledge System. Institutions like monastic universities became centers of learning where philosophy, logic, medicine, and linguistics were taught and preserved.

Buddhism also influenced the evolution of knowledge by encouraging rational inquiry, debate, and empirical understanding rather than blind ritualism. The Mauryan state supported the spread of knowledge not only within India but also beyond, as Buddhist missionaries were sent to regions like Sri Lanka and Central Asia.

Thus, during the Mauryan Period, the Indian Knowledge System was enriched by Buddhist thought, which emphasized ethical living, intellectual exploration, and the dissemination of knowledge for the welfare of society.

Indian Knowledge Systemduring the Mauryan Period : The Indian Knowledge System (IKS) during the Mauryan Period represents a critical phase in the intellectual history of South Asia, marked by the interaction between state power, ethical philosophy, and institutionalized learning. The emergence and consolidation of Buddhism within this period significantly contributed to the restructuring and expansion of knowledge traditions in ancient India.

The Mauryan Empire, founded by Chandragupta Maurya, and later governed by Bindusara and Ashoka, provided a centralized political framework that facilitated the dissemination of philosophical and ethical systems. Among these, Buddhism—originating from the teachings of Gautama Buddha—emerged as a dominant intellectual and cultural

force.the Mauryan period reflects a transition from predominantly Vedic and ritual-centric knowledge systems to more heterodox, rational, and ethical frameworks. Buddhism played a pivotal role in this transformation by emphasizing *pramāṇa* (means of knowledge), empirical observation, and critical inquiry. The Buddhist epistemological orientation encouraged dialogical methods, debate (*vāda*), and scholastic analysis, which enriched the broader Indian intellectual tradition.

A key feature of the Indian Knowledge System during this time was the institutionalization of learning through monastic establishments (*vihāras*). These centers functioned not only as religious spaces but also as hubs of multidisciplinary education, where subjects such as logic (*hetuvidyā*), medicine (*āyurveda*), grammar, and metaphysics were systematically studied. The integration of ethical instruction with intellectual training reflected the Buddhist ideal of knowledge as a means toward liberation (*nirvāṇa*) and social harmony.

The reign of Ashoka is particularly significant in understanding the synthesis of Buddhism with governance and knowledge systems. Through his edicts—inscribed across the subcontinent—Ashoka articulated a moral and administrative philosophy grounded in *Dhamma*. These inscriptions serve as primary historical sources, revealing an early form of state-sponsored ethical pedagogy. Ashoka's patronage extended to the organization of the Third Buddhist Council, which aimed at codifying doctrinal orthodoxy and promoting intellectual clarity within the Buddhist community.

Intellectual Context of the Mauryan Period : The Mauryan Period represents a formative phase in the evolution of the Indian Knowledge System (IKS), characterized by dynamic interactions between political authority and diverse philosophical traditions. The consolidation of imperial power under Chandragupta Maurya and its expansion under Ashoka created conditions conducive to intellectual exchange and institutional development.

During this period, knowledge production was no longer confined to Brahmanical orthodoxy but became increasingly pluralistic. The coexistence of Brahmanical, Jain, and Buddhist traditions fostered a vibrant culture of debate and inquiry, significantly shaping the trajectory of Indian intellectual history.

Buddhism and the Transformation of Epistemological Foundations : The teachings of Gautama Buddha introduced a critical reorientation in the epistemological foundations of IKS. Rejecting the primacy of Vedic ritualism, Buddhism emphasized empirical observation, rational inquiry, and ethical reasoning as valid means of knowledge.

Central to Buddhist thought were doctrines such as *pratītyasamutpāda* (dependent origination), *anitya* (impermanence), and *anātman* (non-self), which encouraged analytical and causal modes of thinking. These principles contributed to the development of a rational and experience-based knowledge system that challenged metaphysical absolutism.

Moreover, the dialogical tradition of debate (*vāda*) promoted intellectual rigor and critical engagement, thereby enriching the broader philosophical discourse within IKS.

Institutionalization of Knowledge: Monastic Centers and Education : A significant development during the Mauryan period was the institutionalization of knowledge through Buddhist monastic establishments (*vihāras*) . These centers functioned as organized spaces for learning, preservation, and dissemination of knowledge.

Monastic education was interdisciplinary in nature, encompassing:

- Logic (*hetuvidyā*)
- Medicine (*āyurveda*)
- Linguistics and grammar
- Ethics and metaphysics

These institutions played a crucial role in systematizing knowledge and ensuring its transmission across generations. The integration of ethical training with intellectual pursuits reflected the Buddhist view that knowledge must serve both personal enlightenment and social welfare.

Ethical Dimensions of Knowledge in Buddhism : Buddhism fundamentally redefined the purpose of knowledge within IKS by integrating it with ethical practice. Knowledge was not regarded as an end in itself but as a means to achieve liberation (*nirvâGa*) and promote social harmony.

The threefold path of :

- Moral conduct (*śīla*)
- Mental discipline (*samādhi*)
- Wisdom (*prajñā*)

illustrates the holistic nature of Buddhist knowledge systems. This ethical orientation distinguished Buddhist epistemology from other traditions that prioritized ritual or metaphysical speculation.

<u>State Patronage and the Role of Ashoka:-</u>

The reign of Ashoka (c. 268–232 BCE) represents a निर्णायक (decisive) phase in the development of the Indian Knowledge System (IKS), particularly in its interaction with Buddhism. His policies transformed Buddhism from a regional philosophical tradition into a state-

supported ethical and intellectual framework, thereby redefining the nature, dissemination, and purpose of knowledge in ancient India.

1. Ethical Reorientation of Knowledge: The Concept of Dhamma

One of Ashoka's most significant contributions was the formulation and propagation of *Dhamma*, an ethical code rooted in Buddhist principles yet universal in its application. Unlike doctrinal Buddhism, Ashoka's Dhamma emphasized:

· Non-violence (*ahimsa*)
· Compassion and tolerance
· Respect for elders and teachers
· Welfare of all beings

Through this framework, knowledge was no longer confined to metaphysical speculation or ritual practice but was redefined as **ethical and practical guidance for everyday life**. As noted by Romila Thapar, Ashoka's Dhamma functioned as a "moral law for social harmony," integrating knowledge with governance.

2. Ashokan Edicts as Instruments of Public Knowledge

Ashoka pioneered the use of inscriptions (Rock and Pillar Edicts) as a medium for disseminating knowledge across the empire. These edicts:

· Represent the **earliest extensive written records** in Indian history
· Were composed in Prakrit and local languages for accessibility
· Communicated ethical, administrative, and social ideals

The edicts served as tools of **state-sponsored pedagogy**, making knowledge accessible to a wider population beyond elite scholarly circles. According to Upinder Singh, these inscriptions reflect an early model of "communication between ruler and subjects based on moral instruction."

3. Patronage of Buddhist Institutions and Education

Ashoka played a crucial role in the institutional expansion of Buddhism, which directly influenced the Indian Knowledge System. His patronage included:

· Construction of stupas and monasteries (*vihāras*)
· Support for monastic communities (*Sangha*)
· Encouragement of organized learning and teaching

These institutions functioned as centers for:

· Philosophical discourse
· Preservation of texts
· Training of scholars and monks

Thus, Ashoka contributed to the **institutionalization of knowledge**, ensuring its continuity and systematic transmission.

4. The Third Buddhist Council and Intellectual Standardization

The convening of the Third Buddhist Council at Pataliputra under Ashoka's patronage was a landmark event in the intellectual history of

Buddhism.

Its key objectives included:

· Codification of Buddhist teachings
· Elimination of doctrinal disputes
· Establishment of orthodoxy within the Sangha

This reflects an early attempt at **knowledge regulation and standardization**, ensuring intellectual coherence within the tradition.

Conclusion : The Indian Knowledge System (IKS) during the Mauryan Period underwent a profound transformation under the influence of Buddhism, particularly during the reign of Ashoka. This period marked a decisive shift from ritual-centered knowledge rooted in Brahmanical traditions to a more ethical, rational, and socially accessible framework of knowledge.

Ashoka's role was central in this transformation. Through the propagation of *Dhamma*, he redefined knowledge as a tool for moral governance and social welfare rather than mere intellectual or ritual pursuit. His inscriptions (edicts), issued across the empire, represent one of the earliest examples of state-sponsored dissemination of ethical knowledge, addressing a wide and diverse audience. These edicts emphasized values such as non-violence, tolerance, compassion, and respect for all sects, thereby contributing to the democratization of knowledge.

Furthermore, the institutional support extended to Buddhist monastic establishments facilitated the organization, preservation, and transmission of knowledge across generations. The convening of the Third Buddhist Council contributed to the standardization of Buddhist doctrine, reinforcing intellectual discipline within the tradition.

The Mauryan period also marked the beginning of the globalization of Indian knowledge, as Buddhist missions carried philosophical, ethical, and scientific ideas beyond the subcontinent. At the same time, the coexistence of multiple traditions ensured that the Indian Knowledge System remained pluralistic and dynamic.

In conclusion, the interaction between Buddhism and the Mauryan state—particularly under Ashoka—transformed IKS into an ethical, institutionalized, and globally influential system of knowledge, laying the foundation for subsequent intellectual developments in Indian civilization.

References :

Primary sources:-

1. Ashokan Inscriptions (Edicts)
2. Buddhist Canonical Texts (Tripimaka / Tipimaka)
3. Arthashastra
4. Early Buddhist Chronicles

5. Divyavamsa

Secondary sources:-

1. **Altekar, A. S**. (1954). Education in ancient India. Nand Kishore & Bros.
2. **Basham, A. L**. (1954). The wonder that was India. Sidgwick & Jackson.
3. **Gombrich, R. (2006**). Theravâda Buddhism: A social history from ancient Benares to modern Colombo. Routledge.
4. **Hirakawa, A**. (1990). A history of Indian Buddhism: From Śākyamuni to early Mahāyāna. University of Hawaii Press.
5. **Radhakrishnan, S.** (1996). Indian philosophy (Vol. 1). Oxford University Press.
6. **Thapar, R.** (2002). Aœoka and the decline of the Mauryas (Rev. ed.). Oxford University Press.
7. **Upinder Singh**. (2008). A history of ancient and early medieval India. Pearson Education.
8. **Warder, A. K**. (2000). Indian Buddhism. Motilal Banarsidass.
9. **R. S. Sharma**. *India's Ancient Past*. New Delhi: Oxford University Press, 2005.
10. **D. D. Kosambi**. *An Introduction to the Study of Indian History*. Mumbai: Popular Prakashan, 1956.
11. **A. L. Basham**. *The Wonder That Was India*. London: Sidgwick & Jackson, 1954.
12. **Etienne Lamotte**. *History of Indian Buddhism: From the Origins to the Œaka Era*. Louvain: Université Catholique de Louvain, 1988.
13. **Bimal Krishna Matilal**. *Perception: An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge*. Oxford: Clarendon Press, 1986.
14. **Hultzsch, Eugen**. *Corpus InscriptionumIndicarum, Vol. I: Inscriptions of Asoka*. Oxford: Clarendon Press, 1925.
15. **N. A. Nikam and Richard McKeon**. *The Edicts of Asoka*. Chicago: University of Chicago Press, 1959.
16. **Lahiri, Nayanjot**. *Ashoka in Ancient India*. Cambridge, MA: Harvard University Press, 2015.

●

An Empirical Analysis on False Claims Under Section 85 of BNS and It's Safeguards for Husband : Opinions of Advocates in Tis Hazari Courts

Dr. Basuki Nath Dubey[*], **Swati**[**]

ABSTRACT : Section 85 of the Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023 is a continuity of the legal provision that was meant to deal with cruelty against married women that used to fall under Section 498A of the Indian Penal Code, 1860. Although the provision plays a valuable protective role, the issue of its abuse has been given growing attention over the last few years. This paper takes the empirical study of falsified claims filed under Section 85, by exploring the understanding of the emerging patterns and the general implications to the accused husbands. The analysis tries to point out the difference between how the law was supposed to be and how it is being enforced. It also discusses the legal and constitutional protection that husbands might have in case of false or exaggerated charges. The article does not aim at implying the lightness of the real instances of cruelty but serves as a reminder that a middle ground that allows protection without abuse should be taken. The research based on the analysis of the empirical data and the doctrinal issues suggests a more sophisticated legal model that would enable to draw the line between legitimate grievances and motivated complaints.

KEY WORDS : Section 85 BNS, Cruelty against married women, False claims, Misuse of criminal law, Safeguards for husband.

I. INTRODUCTION : In India, the women's safety and well-being have been an issue of concern for a long time. Some of the laws pertaining to the women's safety have been passed by the legislature to ensure the protection, empowerment and improvement of the women in the society.[3] These laws provide a variety of aspects, from protecting the women and allowing them to work with equal opportunities in the workplace, to protecting them in case of domestic violence.[4] This reflects the nation's efforts to ensure that there is a safer and more equal environment for women in the country.One of such provision is Section 85 of the BNS[5] which was previously Section 498A of the IPC[6]. The married women can seek protection under this section from cruelty by her husband or relatives of the husband. This law was enacted to curb the issue of domestic violence and dowry related deaths.Nevertheless, though the legislation is a praiseworthy gesture for protecting the women, unfortunately these legislations are being misused by some women.

Today, it is quite clear that some women take advantage of these laws

* Assistant Professor - Law Centre 1, Faculty of Law, University of Delhi
** Research Scholar - Faculty of Law, University of Delhi

and exploit these laws for their own ulterior motive. Some of these women by making up charges or distorting the facts are able to profit from the legal support that is intended to protect women, due to which, the innocent man has to suffer. This involves the exploitation or manipulation of legal processes to punish individuals who may not be guilty of any wrongdoing, for the purpose of extortion of money or for satisfying their ego. Although, such legal laws are essential in protecting women but the misuse of such legal mechanisms becomes a problem in a society as it affects both the victim as well as the integrity of the legal system.Various judgements shows that the married women sometimes exploit the provisions made for their protection such as Section 85 of BNS, by filing false cases against their husbands and in-laws. This causes legal proceedings and conviction of the husband and in-laws, due to which they suffer from mental harassment as these false allegations causes damage to their life, reputation as well as career. There is this loophole in the legal system and hence the legislature should take greater accountability and make some reforms in this regard

In "**Arnesh Kumar v. State of Bihar**"[7], the Supreme Court observed that Section 498A of IPC had become more of a weapon in the hands of wives rather than a shield to protect them from cruelty. Even in "**Sushil Kumar Sharma v. Union of India**"[8], the Supreme Court observed that Section 498A was used by people in a frivolous manner, which was causing great hardship to the innocent persons. It was also observed that such misuse also defeats the entire purpose of the provision.This growing issue can be cured by making a balance between those women who genuinely need protection for social evil and protecting the men who are the victim of the misuse of these legal protections. It is important to create strict laws that punishes the individuals for misusing their rights and the legal system should make adequate laws for safeguarding the innocent victims against such misuse, without hampering the rights of those women who are genuinely in need of protection and justice.

Stringent laws need to be introduced to the legislature targeting those women who misuse their rights by criminalizing the filing of false cases and levying heavy penalty as well as imprisonment on them. This would convey a feeling of fear within the minds of the people so that they can't play with the laws made for the protection of women. In addition, before a specific individual is penalized, a thorough and impartial investigation should be conducted to ensure that he is not falsely accused or wrongfully convicted.

II.DATA PRESENTATION AND DATA ANALYSIS :

a. Awareness of Section 85 of BNS : The respondents who responded to the question were all aware of Section 85 of the Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023 (previously, Section 498A of the Indian Penal Code, 1860). All the 20 individuals who responded affirmed that they knew about

this rule, implying that everybody was aware of it. This demonstrates that the individuals surveyed are conversant with Section 85, which addresses husbands and their family members mistreating women.

Many of the respondents have encountered cases of Section 85 of the Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023, in practice. Of the twenty who responded, eighteen indicated that they had handled such cases, and only two said they had not. This demonstrates the significance of this provision in the actual world and the frequency of its application to a legal practice.

When most of the individuals were questioned whether laws such as Section 85 were necessary to ensure women were not abused, majority responded yes. Out of the 20 respondents, 16 responded in the affirmative and said that Section 85 is needed to safeguard the rights of women and prevent domestic violence, which indicates that the majority of the respondents supported the purpose of the law.

b. Opinion on Misuse of Section 85 of BNS : Section 85 of Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023 was perceived differently depending on the respondents. The 20 people who responded only 4 believed the provision worked in safeguarding women against cruelty. The remaining 14 believed the law should be altered and this indicates that they were not content with the current state of the law. The other two respondents reported that they were not able to say what they thought.

The responses to the question regarding the frequency of Section 85 misuse demonstrate that men and women do not have the same experience. Ten individuals (seven men and three women) indicated that they believed the provision was being abused in most occasions. Four respondents (2 male and 2 female) believed that it occurs sometimes whereas four others (1 male and 3 female) believed that it occurs very rarely. Two females who responded to the question replied that they were not certain by selecting not sure. These reactions indicate that these are concerns regarding misuse but female respondents were more different and cautious in their view. Others even claimed it is not very common to be abused.

On the problem whether allegations made under Section 85 are exaggerated, quite a significant number of respondents agreed that exaggerations take place. For example, there were 11 respondents who said that exaggerations happen very often, among whom 7 are men and 4 women. At the same time, 4 respondents (2 men and 2 women) admitted that such exaggerations happen occasionally. Also, exaggerations were considered to be rare among 5 respondents (1 man and 4 women). It is worth noting that none of the respondents asserted that such exaggerations do not occur.

c. Adequacy of safeguard provisions for husband : The answers to the question about the sufficiency of legal protection that men and their relatives have against the possible abuse of Section 85 of the Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023 show a split opinion, albeit with a distinct bias toward

insufficiency. The 20 respondents were asked about whether there are sufficient safeguards and 7 respondents (4 male and 3 female) responded that there are sufficient safeguards. Conversely 9 respondents (6 male and 3 female) believed that these safeguards are not adequate and 4 respondents (all female) said they were not sure by selecting can not say. In general, the results suggest that a good percentage of the respondents believe that the existing legal system does not provide enough safeguards to husbands and their families.

The majority was overwhelming on whether or not punishment should be provided in Section 85 stating that the woman making a false or malicious complaint against her husband and in-laws should be punished. There were 19 respondents (9 men and 10 women) who agreed to the inclusion of such punitive provisions and only 1 male respondent disagreed with the idea. It is worth noting that all respondents did not show uncertainty. This high level of agreement, which is even slightly more supported by female respondents, is indicative of a general recognition of the necessity to combat possible misuse by legal means.

In addition, a majority were found to be in support when they were questioned on whether they would endorse any amendments made by the government in order to offer legal protection to men in the laws touching on domestic violence. Among the 20 respondents, 17 respondents (9 males and 8 females) supported such amendments and the other 3 respondents were neutral. Notably, all the respondents did not disagree with the idea. These results indicate that there is a high degree of agreement between the genders in regards to the need to reform the law so that the provisions would be more balanced and equitable to safeguard the rights of all involved parties.

III. Judicial Approach and Evolving Trends in Matrimonial Litigation : The judiciary has played a critical role in the interpretation and application of Section 85 of the Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023, to influence its practical effect. The courts in India have always tried to find a balance over the years between taking care of women against true cases of cruelty and stopping the abuse of the law on the innocent. This judicial balancing act is an indication of the developing concept of matrimonial disputes, in which personal relationship intricacy of personal relations tends to converge with criminal law.

One of the major trends in the decisions of courts is the growing focus on the protection of personal liberty. The courts have warned severally on the automatic arrest of the accused in cases that have occurred as a result of matrimonial disputes. The Supreme Court in the case of Arnesh Kumar v. State of Bihar stated that arrests are not to be made routinely and gave a set of guidelines to avoid the unneeded detention of the accused.[9] Such arrests, especially those that are not conducted through proper investigation, were known to cause irreparable damage to the reputation, dignity and social

status of the concerned and his family members.

The benefit of identifying the possible abuse of the legal provisions is another significant part of the judicial approach. Although the courts have failed to diminish the significance of legislation safeguarding women, it has realized that false or overblown claims may be very detrimental. In Sushil Kumar Sharma v. Union of India, the Supreme Court noted that such provisions as Section 498A IPC (since incorporated in Section 85 BNS) might be abused and cautioned against their application as a harassment weapon.[10] On the same note, in Preeti Gupta vs. State of Jharkhand, the Court pointed out the propensity of incriminating relatives of the husband in marital conflicts without substantial evidence and demanded a thorough examination of charges. In a number of cases, proceedings have been quashed by courts as well when they found the allegations to be vague or motivated.[11]

Besides, the judicial system has promoted increased application of alternative dispute resolution mechanism in marital issues. The courts have also encouraged mediation and reconciliation where feasible because all conflicts in marriage are not a criminal act. In K. Srinivas Rao v. D.A. Deepa the Supreme Court had emphasized the importance of mediation in matrimonial disputes and had acknowledged effectiveness of mediation in amicable settlement of disputes.[12] The advantage of this is that it does not only relieve the criminal justice system but it also provides the parties with an opportunity to settle their differences without engaging in lengthy legal wrangles. However, the mechanisms are not to be applied with some of the more serious allegations of cruelty or violence.

The changing judicial opinion also indicates that there must be clarity in the legislations. As far as judicial guidelines have played a significant role in sealing the loopholes in the law, they are ineffective in most cases since they are poorly applied at the ground level. This was further reinforced in Rajesh Sharma Vs. State of U.P. where the Supreme Court developed the guidelines to limit the misuse of the Section 498A which encompasses the establishment of Family Welfare Committees. Although some of these guidelines were later amended, the case raised the concern of the judiciary regarding abuse and the need to protect.[13]

Besides this, the courts have also stressed on the significance of evidence-based adjudication in cases of matrimony. Unsubstantiated allegations are being subjected to more scrutiny. This shift to more evidence-based practice is in line with the values of fairness and justice, in which no party will be subjected to undue suffering due to false claims.

All in all, the judicial approach is an indication of a slow shift to a more pragmatic and balanced interpretation of Section 85. The judiciary is still playing an important role in ensuring that the goals of the law are realized without affecting the right of any individual as a result of the promotion of fair adjudication and discouragement of misuse.

IV. Need for Balanced Legal Reforms and Safeguards : The results of the current empirical research have made it quite obvious that the issue of the practical operation of the Section 85 of the Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023, is becoming a significant concern of the legal practitioners. Although this provision still remains an important part of protecting married women against cruelty and harassment, the reactions received by the advocates indicate that its application needs to be approached more balanced and delicate. Any legal system that is greatly imbalanced towards one side though with a protective motive, would tend to compromise the values of fairness, equity, and justice.

Among the most important issues that arise in the course of the study, the perceived insufficiency of the protection that husbands and their relatives have is mentioned. Many of the respondents were unhappy with the current legal frameworks against false or exaggerated allegations. This underscores the importance of the inclusion of procedural checks which cannot be abused at the expense of rendering the law ineffective in real cases. As an example, preliminary investigation prior to registration of FIR, more rigorous scrutiny at the stage of arrest, and compulsory mediation of matrimonial conflicts can serve to sieve out frivolous complaints.

Moreover, the fact that out of the respondents, the idea of penalizing in case of false or malicious filing of complaints was extremely popular indicates that more people are in need of accountability in the legal system. Lack of deterrence to misuse does not only impact the individuals who are accused but also becomes a weak element to the law itself. Nevertheless, as they come up with such provisions, it is also necessary to make sure that the true complainants are not deterred to use the courts of law on grounds of counter-suing. Thus, any change in this respect should find a delicate balance between deterrence and protection.

The past judicial pronouncements have also highlighted the necessity of avoiding arbitrary arrests and unwarranted harassment of the accused in a matrimonial dispute. The courts have emphasized severity of consequences that may arise when protective provisions are abused which include infringement of personal liberty and damage to reputation. Despite these observations, the fact that such guidelines have not been applied uniformly is nevertheless still an issue. This brings in legislative intervention to institutionalize procedural protections and make them uniform in all jurisdictions.

In addition, the level of awareness and sensitivity of the law enforcement authorities needs to be increased when dealing with cases under Section 85. With proper training and guidelines, police officers can know when to be really cruel and when they are having ulterior motives. Improvement in the alternative dispute resolution system such as family counseling and mediation can also play a significant role in resolving matrimonial conflicts in all situations without the use of criminal litigation.

Lastly, it should not be aimed at destroying the protective shell of women but should rather make it leaner in a manner that facilitates justice to all the appropriate parties. The moderate legal approach with the appropriate safeguards and accountability mechanisms is the only way of ensuring that there is no abuse of the Section 85. These reforms are essential in providing the people with confidence in the legal system and as well as stimulating fair and equitable delivery of justice.

V. CONCLUSION : Section 85 of BNS was introduced with an intent to protect married women from cruelty and dowry related harassment, which were present in many parts of the country. This section is vital for women's protection, however, there have been repeated complaints in the recent years from the judiciaryand the society on the increasing number of false and exaggerated cases being filed under this provision by the married women.The misuse of this section has not resulted in the unjust prosecution of innocent husbands but also to the agony and shame of their elderly parents, siblings, and relatives.Many judgements of the Courts have expressed the need to prevent the misuse of Section 85 and have advised for procedural safeguards like prior investigation before arrest. Nevertheless, there is no uniform implementation of these judicial guidelines.

Therefore, it must be recognized that women need to be protected from real abuse, and further, the legal system should not be used as a weapon for settling personal grudges. Protective laws must never be harassed. Therefore, there is need to pursue a moderate course that protects the rights of true victims and at the same time does not send the wrong individuals to prison. The very spirit of justice must extend to all individuals, irrespective of their gender.

Footnotes

1. S.N. Mishra, Indian Penal Code (21st edn., Central Law Publications, Allahabad, 2023).
2. K.D. Gaur, Textbook on the Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023 (1st edn., Universal Law Publishing, New Delhi, 2024).
3. The Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023 (45 of 2023), S. 85.
4. The Indian Penal Code, 1860 (45 of 1860), S. 498A.
5. AIR 2014 SC 2756
6. AIR 2005 SC 3100
7. Arnesh Kumar v. State of Bihar, (2014) 8 SCC 273.
8. Sushil Kumar Sharma v. Union of India, (2005) 6 SCC 281.
9. Preeti Gupta v. State of Jharkhand, (2010) 7 SCC 667.
10 K. Srinivas Rao v. D.A. Deepa, (2013) 5 SCC 226.
11 Rajesh Sharma v. State of U.P., (2017) 8 SCC 746.

●

Cross-Cultural Perspectives on Early Childhood Care and Education for Children with Intellectual Disabilities

Sushma Singh[*], Prof. Dr. Mala Tandon[**], Prof. (Dr.) Amita Bajpai[**]

Abstract : Early Childhood Care and Education (ECCE) for children with intellectual disabilities (ID) is a globally recognized need, yet its implementation is highly influenced by cultural beliefs, social norms, and institutional capacities. This study aimed to explore cross-cultural perspectives on ECCE practices, identify systemic and cultural barriers, and highlight inclusive and innovative models supporting the development of children with ID. A qualitative meta-synthesis approach was employed, drawing on recent peer-reviewed literature from diverse global contexts, including high-income and low- and middle-income countries. The review focused on studies published between 2000 and 2025, analyzing themes related to parental involvement, teacher preparedness, educational policy, and cultural framing of disability. The findings reveal significant cross-cultural variation in ECCE access and quality, with Western countries often adopting rights-based inclusive models, while many LMICs rely on community-based or faith-informed practices. Cultural stigma, lack of teacher training, and weak policy enforcement were identified as major obstacles, whereas technology-driven interventions and cross-sectoral collaborations emerged as promising trends. The study underscores the importance of culturally responsive, equity-oriented approaches to ensure meaningful early education for children with ID across all contexts.

Keywords : intellectual disability, early childhood education, inclusive pedagogy, cultural perspectives, teacher training, parental involvement, global education, disability inclusion

1. Introduction : Early childhood care and education (ECCE) plays a pivotal role in shaping the developmental trajectory of all children, particularly those with intellectual disabilities (ID). Intellectual disability, characterized by significant limitations in intellectual functioning and adaptive behavior, originates before the age of 18 and affects multiple aspects of a child's life, including learning, communication, and social participation (World Health Organization [WHO], 2022). The critical early years of life present a window of opportunity for interventions that can mitigate the impact of such disabilities and foster inclusion and cognitive, emotional, and social growth (Shonkoff & Phillips, 2000; Rios et al., 2025).However, the conceptualization and delivery of ECCE for children with ID are deeply embedded within cultural, social, and economic

* Research Scholar- Ph.D. Amity Institute of Education Amity University, Lucknow
** Director- Amity Institute of Education, Amity University, Lucknow
*** Professor- University of Lucknow, Lucknow, UP

contexts. What is considered an appropriate educational response in one cultural setting may be perceived differently in another (Rocha et al., 2025). Cross-cultural perspectives thus offer vital insights into how different societies interpret disability, allocate resources, and structure support systems for early childhood education. While some countries prioritize inclusive education within public policy frameworks, others rely on community or religious institutions to meet the developmental needs of children with ID (Farnan & Owiny, 2025).Globally, the shift towards inclusive education—promoted by the United Nations Convention on the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD)—has encouraged governments and educational systems to re-evaluate their approaches to ECCE (United Nations, 2006). Nevertheless, disparities persist in access, quality, teacher training, and parental involvement, especially between high-income and low- and middle-income countries (LMICs) (Ebenso et al., 2025; Manir & Jabbi, 2025). Furthermore, stigma and socio-cultural taboos surrounding disability continue to influence parental decisions and societal attitudes, often resulting in the exclusion of children with ID from early learning environments (Ray et al., 2025).

The purpose of this paper is to examine early childhood care and education for children with intellectual disabilities from a cross-cultural perspective. By analyzing practices across diverse geographical contexts—including North America, Europe, Asia, and Africa—this study aims to highlight the cultural dimensions that shape educational access, pedagogical strategies, and inclusive policies. In doing so, it seeks to contribute to a more culturally responsive and equity-driven framework for early intervention and inclusive education worldwide.

2. Defining Intellectual Disability Across Cultures

Intellectual disability (ID), also referred to as intellectual developmental disorder, is universally recognized as a neurodevelopmental condition characterized by significant limitations in both intellectual functioning (reasoning, learning, problem-solving) and adaptive behavior, which covers a range of everyday social and practical skills. These impairments manifest before the age of 18 and require varying levels of support throughout the individual's life (American Association on Intellectual and Developmental Disabilities [AAIDD], 2021; World Health Organization [WHO], 2022).While this definition is widely accepted in medical and psychological fields globally, its interpretation and application vary considerably across cultures, shaped by religious beliefs, social values, economic structures, and levels of public awareness (Rao &Kalyanpur, 2020). Understanding these cross-cultural differences is essential for developing inclusive, contextually relevant early childhood care and education (ECCE) systems for children with ID.

2.1. Universal Definitions and Clinical Classifications : The AAIDD defines ID as a condition originating before the age of 18, involving limitations in both intellectual functioning (typically an IQ below

70) and adaptive behavior (AAIDD, 2021). The World Health Organization, in its *International Classification of Diseases 11th Revision (ICD-11)*, aligns with this framework, categorizing ID under developmental disorders with degrees ranging from mild to profound based on the level of support required (WHO, 2022).However, the application of these standardized clinical definitions often clashes with cultural narratives and socio-political realities, particularly in low- and middle-income countries (LMICs), where diagnosis may be delayed or absent due to lack of services, stigma, or alternative explanatory models (Rocha et al., 2025).

2.2. Cultural Constructions of Intellectual Disability : In Western societies, ID is predominantly viewed through a biomedical and rights-based lens. Diagnostic protocols, early intervention programs, and inclusive education frameworks are often embedded within government-supported health and education systems. For instance, in the United States, the Individuals with Disabilities Education Act (IDEA) mandates free and appropriate public education for all children with disabilities, starting from early childhood (Farnan & Owiny, 2025).Conversely, in many parts of Asia, Africa, and the Middle East, cultural understandings of disability may be influenced by spiritual, religious, or moral frameworks. In India and Nigeria, for example, intellectual disabilities are sometimes interpreted as the result of ancestral misdeeds, divine punishment, or witchcraft, which can lead to family shame, isolation of the child, and reluctance to seek institutional support (Ray et al., 2025; Manir & Jabbi, 2025). This cultural framing has significant implications for early diagnosis, parental acceptance, and access to ECCE.In East Asian countries such as China and South Korea, Confucian values emphasizing conformity and academic success may exacerbate stigma toward intellectual disability, compelling families to hide or underreport the condition. Yet, recent years have seen policy shifts toward greater inclusion and state-sponsored support, albeit with disparities between urban and rural regions (Rios et al., 2025).

2.3. Diagnostic Disparities and Access to Early Support : Disparities in diagnostic practices across cultures can result in under-identification or misclassification of children with ID. In some LMICs, developmental delays are not routinely screened in early childhood, and culturally validated diagnostic tools are often lacking (Ebenso et al., 2025). Furthermore, variations in parental literacy, awareness of developmental milestones, and trust in formal institutions influence the timeliness and accuracy of diagnoses (van Serooskerken, 2025).Even in countries where clinical definitions are adopted, the cultural adaptation of assessment tools remains limited. Standardized tests like the Wechsler Intelligence Scale for Children (WISC) or the Stanford-Binet are often normed on Western populations, raising concerns about cultural bias and misdiagnosis when applied in non-Western contexts (Rao &Kalyanpur, 2020).

2.4. Toward Culturally Responsive Definitions : Emerging research advocates for a more context-sensitive, holistic approach to defining

intellectual disability—one that incorporates socio-cultural, environmental, and systemic factors alongside cognitive and adaptive functioning. This perspective acknowledges that functional impairments are not only intrinsic to the individual but also shaped by cultural expectations, family support systems, and societal accessibility (Rocha et al., 2025; Farnan & Owiny, 2025).In this regard, the ecological model of disability, endorsed by the United Nations Convention on the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD), has gained global traction. It positions disability not solely as a medical condition but as an outcome of the interaction between individuals and their environments, thereby reinforcing the need for inclusive, culturally adaptive ECCE systems (United Nations, 2006).

3. Early Childhood Education Models for Children with Intellectual Disabilities

Early Childhood Education (ECE) plays a pivotal role in shaping the foundational development of children, particularly those with intellectual disabilities (ID). The formative years (0–8 years) represent a critical window during which targeted educational interventions can mitigate developmental delays, enhance cognitive and social functioning, and facilitate lifelong inclusion (Shonkoff & Phillips, 2000; WHO, 2022). Across global contexts, ECE models for children with ID reflect a spectrum of philosophies, ranging from inclusive to segregated approaches, influenced heavily by socio-cultural, economic, and policy environments.

3.1. Inclusive Education Model : The inclusive model advocates for the full participation of children with ID in mainstream early childhood settings alongside typically developing peers. Guided by the principles of equity, accessibility, and participation, inclusive education is endorsed globally by the *United Nations Convention on the Rights of Persons with Disabilities* (UNCRPD) and Sustainable Development Goal 4 (inclusive and equitable quality education) (United Nations, 2006).

Key Features :

- Use of Individualized Education Programs (IEPs).
- Deployment of special education professionals within general education settings.
- Curriculum adaptation and universal design for learning (UDL) principles.
- Emphasis on peer interaction and social-emotional learning.

Global Examples :

- **United States :** Under the *Individuals with Disabilities Education Act (IDEA)*, all children with disabilities, including intellectual disabilities, are entitled to free appropriate public education starting from preschool (Farnan & Owiny, 2025). Public school districts are mandated to offer early intervention services and inclusive placements.
- **Sweden and Finland :** These countries have achieved near-complete

inclusion at the preschool level through multidisciplinary teams, government funding, and systematic teacher training (Pedersen, 2025).

3.2. Segregated/Specialized Education Model : In contrast to inclusion, the segregated model places children with ID in specialized early childhood centers or special schools where curricula, teachers, and therapeutic interventions are tailored exclusively for students with developmental disabilities.

Key Features :

- Smaller class sizes and higher adult-to-child ratios.
- Specialized teaching strategies (e.g., Applied Behavior Analysis, TEACCH).
- On-site therapies such as speech, occupational, and physical therapy.

Global Examples :

- **Germany** and **Japan** maintain dual systems where many children with ID attend special education kindergartens or therapeutic day-care centers (Rao &Kalyanpur, 2020).
- While often providing individualized attention, this model can limit social integration and reinforce stigmatization if not linked with transition strategies into mainstream settings.

3.3. Integrated and Reverse Integration Models : The integrated model places children with ID in mainstream classrooms, often without systemic supports, whereas *reverse integration* involves bringing typically developing children into special education settings to foster mutual socialization.

- **Integrated Models** are common in **India**, where the *Integrated Child Development Services (ICDS)* scheme attempts to include children with ID into Anganwadi centers. However, limited training for educators and absence of individualized planning often hinder success (Rao &Kalyanpur, 2020).
- **Reverse Integration** has been explored in **Brazil**, where children without disabilities are invited into special education centers to foster inclusive experiences (Rocha et al., 2025). These programs show promise in reducing stigma and building empathy at an early age.

3.4. Community-Based and Faith-Informed ECCE Models in LMICs : In many LMICs, formal ECE services are either inaccessible or underdeveloped. As a result, community-based rehabilitation (CBR) and faith-informed education models often serve as the primary means of early support for children with ID.

Community-Based Models :

- Implemented in rural Kenya, Nigeria, and Nepal, CBR programs focus on training local volunteers and parents to provide home-based stimulation and education activities (Manir & Jabbi, 2025).
- Though resource-constrained, such models capitalize on cultural strengths, familial support, and community trust.

Faith-Informed Models :

- In some regions of Sub-Saharan Africa, Islamic and Christian organizations run early childhood programs that blend traditional religious instruction with emerging awareness about disability inclusion (Ray et al., 2025).
- These institutions often shape parental attitudes and can be leveraged for inclusive advocacy.

3.5. Digital and Technological Innovations : With the proliferation of mobile and low-cost digital tools, technology is increasingly incorporated into ECE for children with ID—especially in settings where trained professionals are scarce.

● **Thailand** : Bubpha (2025) introduced augmented reality (AR) to improve literacy outcomes in inclusive classrooms, showing improved attention span and learning retention among children with learning disabilities.

● **Low-Resource Settings** : In countries like Uganda and Bangladesh, mobile apps are being piloted to help caregivers screen for developmental delays and deliver basic stimulation activities (Ebenso et al., 2025).

3.6. Critical Issues in Implementation : Despite global advances, several issues challenge effective implementation of ECE models for children with ID :

Challenge	Description
Teacher Preparedness	Most ECCE educators lack training in inclusive pedagogy and disability-specific strategies.
Funding Disparities	Inclusive programs often remain underfunded, especially in LMICs.
Parental Resistance	Driven by stigma, shame, or protective instincts, parents may resist placing children in formal ECE settings.
Inconsistent Policy Implementation	National policies often lack local-level execution mechanisms.

4. Cultural Influences on Parental Attitudes and Involvement

Parental attitudes and involvement are among the most critical determinants of early childhood care and education (ECCE) outcomes for children with intellectual disabilities (ID). However, the nature and extent of such involvement are deeply shaped by cultural beliefs, religious norms, familial expectations, and social stigma. These factors can either facilitate or hinder children's access to inclusive and developmentally appropriate educational experiences.

4.1. Cultural Conceptions of Disability : Cultural interpretations of intellectual disability vary widely, influencing how parents perceive their child's condition and their role in supporting early development. In many Western societies, intellectual disability is typically conceptualized within

a medical or rights-based framework, often resulting in proactive parental involvement in early intervention and advocacy efforts (Rios et al., 2025; Farnan & Owiny, 2025). Parents are encouraged to collaborate with educators and therapists to develop Individualized Education Plans (IEPs) and are regarded as active participants in their child's developmental progress.In contrast, in parts of Asia, Africa, and the Middle East, disability may be interpreted through moral or spiritual lenses. For example, in some Indian and Nigerian communities, intellectual disabilities are attributed to karma, divine punishment, or supernatural causes (Ray et al., 2025; Manir & Jabbi, 2025). Such beliefs may result in parents experiencing guilt, shame, or social exclusion, which can lead to delayed help-seeking behavior and reluctance to enroll children in formal educational settings.

4.2. Role of Extended Family and Community : Cultural norms regarding family structure also shape parental roles. In collectivist cultures, child-rearing responsibilities are often distributed across extended family networks, which may provide emotional and logistical support or, alternatively, reinforce stigmatizing beliefs. For instance, in some rural communities in sub-Saharan Africa, grandparents and uncles may discourage enrollment of children with ID in ECCE programs due to perceived futility or resource constraints (van Serooskerken, 2025).Conversely, in Scandinavian countries such as Sweden and Norway, highly egalitarian cultural norms support state-funded, inclusive ECCE systems that encourage joint responsibility between parents, educators, and the state (Pedersen, 2025). In these contexts, parental involvement is normalized and structured into school routines through home-school partnerships.

4.3. Gender Dynamics and Parental Engagement : Gender roles can further complicate parental involvement. In many societies, mothers are expected to assume primary caregiving responsibilities, including educational support. However, mothers of children with ID often report higher psychological distress and limited access to support services, especially in patriarchal societies (Rocha et al., 2025). Studies from Brazil and India show that maternal engagement is frequently constrained by caregiving burdens, lack of financial autonomy, and absence of spousal or community support (Rao &Kalyanpur, 2020).In contrast, programs that include both parents—such as "AutInsight" in Australia—have reported increased engagement and improved developmental outcomes for children when fathers are actively involved in ECCE activities (Lee, 2025).

5. Barriers to Effective ECCE Across Cultures

Despite international advocacy for inclusive ECCE, numerous systemic, cultural, and institutional barriers persist that impede effective implementation for children with intellectual disabilities.

5.1. Stigma and Discrimination : Stigma remains a pervasive barrier to ECCE participation for children with ID in many societies. Deeply ingrained cultural taboos and misbeliefs contribute to the social exclusion

of families and discourage them from accessing formal education systems. For example, in rural India and parts of West Africa, families often avoid public spaces due to fear of ridicule or community ostracization (Ray et al., 2025; Manir & Jabbi, 2025).

5.2. Lack of Trained Educators : A significant barrier across both high- and low-income countries is the shortage of educators trained in inclusive pedagogy and disability-specific teaching strategies. While some high-income countries offer professional development for early childhood educators, many LMICs rely on generalist teachers who lack both the theoretical knowledge and practical tools to support children with ID effectively (Farnan & Owiny, 2025).The situation is particularly dire in rural and marginalized communities where resource scarcity is compounded by limited access to teacher training programs and special education curricula (Rocha et al., 2025).

5.3. Inadequate Policy Implementation : Although many countries have ratified the *UN Convention on the Rights of Persons with Disabilities* (UNCRPD) and adopted national policies promoting inclusive education, the implementation at local and school levels often remains weak or inconsistent. Budgetary constraints, lack of monitoring, and bureaucratic inefficiencies hinder the translation of policy into practice (UNESCO, 2023).In Nigeria, for instance, the National Policy on Special Needs Education exists on paper but is inconsistently enforced across states due to governance gaps and insufficient funding (Manir & Jabbi, 2025).

5.4. Socioeconomic Disparities : Children from low-income families are at a compounded disadvantage, as they are less likely to be diagnosed early, more likely to experience malnutrition, and face greater barriers to accessing quality ECCE. These disparities are further widened by digital divides, particularly in LMICs, where technological tools for early learning and developmental tracking are inaccessible or underutilized (Ebenso et al., 2025).

5.5. Limited Parental Awareness and Engagement : In many contexts, parents are unaware of developmental milestones, early signs of disability, or the benefits of ECCE. The absence of culturally sensitive information and outreach further alienates families, particularly in linguistically diverse regions where public health and education messaging is not adapted to local languages and literacy levels (Rao &Kalyanpur, 2020).

6. Inclusive Pedagogies and Teacher Preparedness

Effective early childhood care and education (ECCE) for children with intellectual disabilities (ID) depends not only on policies and infrastructure but also on the pedagogical approaches employed by teachers and their preparedness to work inclusively. Inclusive pedagogy emphasizes equity in teaching and learning by adapting curricula, assessment, and classroom interaction to meet the diverse needs of all children—particularly those who have traditionally been marginalized or

excluded (Florian & Black-Hawkins, 2011). However, the readiness of early childhood educators to implement inclusive practices varies widely across countries due to disparities in training, professional development, and systemic support.

6.1. Components of Inclusive Pedagogy : Inclusive pedagogical models promote a universal design for learning (UDL), differentiation, and collaborative learning environments. Teachers are expected to :

- Use adaptive instructional strategies to cater to varied learning styles.
- Embrace flexible assessments and learning outcomes.
- Create socially responsive classrooms that encourage peer interaction and emotional development (Rios et al., 2025).

Such pedagogical frameworks are increasingly embedded in early childhood curricula in countries like Canada, Finland, and New Zealand, where teacher education includes modules on disability studies, inclusive curriculum design, and assistive technology (Pedersen, 2025).

6.2. Global Gaps in Teacher Preparedness : Despite growing advocacy for inclusive education, large gaps remain in teacher preparedness—especially in low- and middle-income countries (LMICs). In many regions, ECCE teachers receive minimal or no training in special education, leaving them ill-equipped to support children with ID. A study from Nigeria highlighted that 74% of early childhood educators lacked even the basic skills to recognize developmental delays, let alone adapt classroom practices (Manir & Jabbi, 2025).In India, inclusive education has been implemented under national policies such as *Sarva Shiksha Abhiyan*, but field research shows that teachers often lack the capacity or confidence to manage diverse classrooms (Rao &Kalyanpur, 2020). Moreover, the absence of ongoing professional development and reflective practice further exacerbates these challenges.

6.3. Teacher Attitudes and Cultural Context : Teachers' beliefs about disability—shaped by cultural and religious norms—also influence their willingness and effectiveness in implementing inclusive pedagogies. In some cultures, teachers may view intellectual disability as a deficit that requires segregation rather than adaptation, limiting the integration of children with ID into mainstream settings (Rocha et al., 2025). On the contrary, in Scandinavian countries, inclusive values are deeply institutionalized, and teacher training includes ethical discussions around equity, justice, and diversity (Pedersen, 2025).

6.4. Strategies for Strengthening Teacher Preparedness : To bridge these gaps, researchers and practitioners have advocated for :

- Mandatory pre-service inclusion training for ECCE educators.
- In-service professional development programs with a focus on practical strategies.
- Peer mentoring and coaching models to build collaborative teacher communities.
- Teacher-led action research, empowering practitioners to reflect and

innovate in context.

7. Innovative Practices and Global Trends

Innovation in ECCE for children with intellectual disabilities is evolving rapidly, driven by technological advancements, interdisciplinary collaboration, and cross-sectoral integration. Globally, countries are experimenting with novel approaches to support inclusive learning, many of which show promising outcomes.

7.1. Technology-Enabled Learning : Digital technologies are increasingly being leveraged to personalize and enhance learning experiences for children with ID, especially in environments where trained professionals are scarce.

- **Thailand** : Bubpha (2025) introduced **Augmented Reality (AR)** in early literacy programs for children with learning and intellectual disabilities. The AR-enhanced interventions demonstrated improved attention, engagement, and reading comprehension in inclusive classrooms.
- **Uganda & Kenya** : Mobile apps such as Ekitabu are used to deliver early learning content in accessible formats (audio, visual, sign language), bridging gaps for children with communication or cognitive impairments (Ebenso et al., 2025).
- **India** : Tele-therapy and app-based developmental screening tools are being scaled to reach underserved rural communities, facilitating early identification and intervention.

7.2. Parent-Led and Community-Based Models : There is increasing recognition of the value of parental agency and community-based solutions in addressing gaps in formal systems.

- **Australia** : The *AutInsight* program is a parent-led, co-designed support model that offers tailored guidance to families of autistic and intellectually disabled children, improving parental engagement and educational inclusion (Lee, 2025).
- **Brazil and South Africa** : Community health workers and early intervention agents are trained to deliver home-based stimulation activities to children with ID, especially in remote regions where schools are inaccessible (Rocha et al., 2025).

7.3. Interdisciplinary and Cross-Sectoral Collaboration : An emerging global trend is the collaboration across education, health, and social welfare sectors to provide holistic ECCE for children with ID.

- Rocha et al. (2025) highlight a case in Brazil where schools work in tandem with pediatricians, therapists, and child protection agencies to ensure synchronized care plans. This model has shown improvements in school attendance, family satisfaction, and developmental outcomes.
- Similarly, Scotland's "Getting it Right for Every Child (GIRFEC)" approach exemplifies a child-centered, multi-agency framework with early childhood inclusion at its core (Pedersen, 2025).

7.4. Cultural Innovation in Curriculum : In culturally diverse

settings, localized and **culturally relevant curriculum innovations** are being developed to ensure that ECCE programs align with families' values while promoting inclusion.

● In **Indigenous Australian** and **Siberian communities**, inclusive ECCE initiatives are incorporating traditional knowledge systems and storytelling methods to foster acceptance of difference from early years (Zul'fiya&Ol'ga, 2025).

8. Conclusion

Early childhood care and education (ECCE) for children with intellectual disabilities is a globally significant yet culturally nuanced endeavor. While inclusive education models continue to gain traction, their success is deeply contingent upon local cultural beliefs, teacher preparedness, parental involvement, and systemic support. Across contexts, disparities in policy implementation, stigma, and resource availability persist, especially in low- and middle-income countries. However, innovative practices—such as technology-assisted learning, cross-sectoral collaboration, and culturally responsive pedagogy—offer promising pathways for equitable inclusion. A culturally grounded, rights-based approach is essential to ensure that all children, regardless of ability, can access meaningful and transformative early education.

9. References

- American Association on Intellectual and Developmental Disabilities (AAIDD). (2021). *Definition of intellectual disability*. https://www.aaidd.org
- Bubpha, S. (2025). Augmented reality: Technology to develop reading for children with learning disabilities in inclusive education. *International Journal of Humanities Education*. https://cm.os-cgrn.org/index.php/ijhe/article/download/108/127
- Ebenso, B., Namisango, E., &Abejirinde, I. (2025). The scale-up and sustainability of digital health interventions in low- and middle-income settings. *Frontiers in Digital Health*. https://www.frontiersin.org/journals/digital-health/articles/10.3389/fdgth.2025.1634223/pdf
- Farnan, S. M., & Owiny, R. L. (2025). *Special education in today's diverse classrooms: Meeting the needs of students with exceptionalities*. Google Books. https://books.google.com
- Florian, L., & Black-Hawkins, K. (2011). Exploring inclusive pedagogy. *British Educational Research Journal, 37*(5), 813–828. https://doi.org/10.1080/01411926.2010.501096
- Lee, S. (2025). *AutInsight: Development of a consumer-informed parent support program for parents of autistic children* [Doctoral dissertation, University of Queensland]. UQ eSpace. https://espace.library.uq.edu.au/view/UQ:fcd1c4e/s4381745_phd_thesis.pdf
- Manir, H., & Jabbi, A. (2025). Inclusive education policy implementation in Nigeria: Challenges and way forward. *African Journal of Educational Management, Teaching and Entrepreneurship*

Studies, 7(4). https://www.ajemates.org/index.php/ajemates/article/download/821/732
- Pedersen, I. (2025). AI agents, wearable computing and the future of postsecondary learning. *Frontiers in Education*. https://www.frontiersin.org/journals/education/articles/10.3389/feduc.2025.1651453/abstract
- Rao, S., &Kalyanpur, M. (2020). Inclusive education in India: The interplay of culture, policy, and practice. *International Journal of Inclusive Education, 24*(2), 153–168. https://doi.org/10.1080/13603116.2018.1465082
- Ray, S., Pal, A. K., Kundu, P. S., & Santosh, S. (2025). School mental health in India: The present scenario and future directions. *Mental Health & Prevention, 30*, 200–215. https://doi.org/10.1016/j.mhp.2025.200215
- Rios, K., Hagiwara, M., Carlson, S. R., & Anton, J. (2025). Perspectives on transition planning from culturally and linguistically diverse families. *Journal of Child and Family Studies*. https://doi.org/10.1007/s10826-025-03113-z
- Rocha, E. P., Lamônica, D. A. C., Zhang, J., & Capellini, V. (2025). Cross-sectoral collaboration in inclusive education. *Frontiers in Psychology*. https://www.frontiersin.org/articles/10.3389/fpsyg.2025.1697199
- Shonkoff, J. P., & Phillips, D. A. (Eds.). (2000). *From neurons to neighborhoods: The science of early childhood development*. National Academy Press.
- United Nations. (2006). *Convention on the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD)*. https://www.un.org/disabilities/documents/convention/convoptprot-e.pdf
- United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization (UNESCO). (2023). *Global education monitoring report 2023: Inclusion and education*. Paris: UNESCO.
- van Serooskerken, J. M. T. (2025). *Through the eyes of family caregivers: Meaning, challenges, and opportunities for basic psychological needs of people with severe or profound intellectual and multiple disabilities*. VU Amsterdam. https://research.vu.nl/en/publications/through-the-eyes-of-family-caregivers-meaning-challenges-and-oppo
- World Health Organization (WHO). (2022). *World report on disability*. Geneva: WHO Press.
- World Health Organization (WHO). (2022). *International classification of diseases (11th revision)*. https://icd.who.int
- Zul'fiya, U., &Ol'ga, B. L. (2025). The practice of social education of children with developmental disabilities in the Yenisei River Area in Siberia during the 1920s. *Vestnikgum.ru*. https://vestnikgum.ru/en/archive/?ELEMENT_ID=344192

●